आचार्य तथा नाटिकाकार विश्वनाथदेवविरचित

साहित्यसुधासिन्धु

एवं

मृगाङ्कलेखा

(मूलसंस्कृतहिन्द्यनुवादटिप्पण्यादिसंवलित, कृतियाँ)

प्रो० रामप्रताप

आचार्य विश्वनाथदेव के द्वारा सन् 1592 ई०
में लिखित इस साहित्यसुधासिन्धु नामक ग्रन्थ का
संस्कृतकाव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी
आठ तरङ्गों में काव्य के विभिन्न घटकतत्त्वों का
बड़ी सूक्ष्मता के साथ विवेचन करते हुए प्रतिपादन
किया गया है। रुद्रटकृतकाव्यालङ्कार, काव्यप्रकाश,
साहित्यदर्पण, दशरूपक, साहित्यरत्नाकर, अलङ्कार-
कौस्तुभ, रसगङ्गाधर एवं काव्यालोक की भाँति इसमें
भी प्रमुख काव्यसिद्धान्त परिष्कृत रूप में समाविष्ट
हैं। इस ग्रन्थ की विषयप्रतिपादनशैली भी सारगर्भित
एवं उत्कृष्ट है। यहाँ इसका समालोचनात्मक अध्ययन
प्रस्तुत किया गया है। इसकी गणना चमत्कारसम्प्रदाय
की प्रमुखतम कृतियों में की जाती है। इस पुस्तक
का सम्पादन अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार
पर किया गया है। इसकी विषयावतरणिका में सातवें
चमत्कारसम्प्रदाय का क्रमिक विकास दिखाया गया
हैं। हिन्दी भाषा में किये गये अनुवाद और टिप्पणियों
के द्वारा इस दुरूह ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों को
स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

आचार्य विश्वनाथदेव की दूसरी कृति
मृगाङ्कलेखा नाटिका में चार अङ्क हैं। इसका नायक
कर्पूरतिलक नामक राजा है और नायिका मृगाङ्कलेखा
है। प्रस्तुत अध्ययन में इसमें समाविष्ट रस
अलङ्कारादि काव्यतत्त्वों की ओर ध्यान आकर्षित
करने का भी प्रयास किया है। इन दोनों कृतियों के
अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि
आचार्य विश्वनाथदेव उत्तम कोटि के काव्यशास्त्रवित्
आचार्य होने के साथ साथ प्रथम श्रेणी के कवि भी
हैं। आचार्यत्व और कवित्व इन दोनों का मणिकाञ्चन-
संयोग विश्वनाथदेव सरीखे किसी किसी मेधावी-
व्यक्ति में ही देखने को मिलता है।

कश्चिदेव सहस्रेषु कदाचिज्जायते कविः।
कविषु विरलः कोऽपि दृश्यते काव्यतत्त्ववित्।।

रामप्रतापकृतकाव्यचमत्कार 3,52

ISBN : 978-81-7854-346-8 (Vol. 1)
ISBN : 978-81-7854-347-5 (Vol. 2)
ISBN : 978-81-7854-345-1 (Set)

₹ 3000 (Set)

आचार्य तथा नाटिकाकार विश्वनाथदेवविरचित

साहित्यसुधासिन्धु
एवं
मृगाङ्कलेखा

(मूलसंस्कृतहिन्द्यनुवादटिप्पण्यादिसंवलित कृतियाँ)

(भाग-1)

अनुवादक एवं व्याख्याकार

रामप्रताप

पूर्व आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष

स्नातकोत्तर संस्कृतविभाग एवं कलासङ्कायाध्यक्ष

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू तवी-180006

पूर्व प्रमुख अनुसन्धाता वि०वि० अनुदान आयोग

नई दिल्ली

BOOK EASTERN EBL LINKERS

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली : : (भारत)

सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। इस पुस्तक के इस संस्करण का कोई भी भाग किसी भी उद्देश्य से किसी भी रूप में प्रकाशक और लेखक की अनुमति के बिना प्रकाशित नहीं किया जा सकता है।

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

हैड ऑफिस: 5825, न्यू चन्द्रावल,
जवाहरनगर, दिल्ली-110007
फोन : 23850287, 9811232913

शोरूम: 4806/24 भरत राम रोड,
दरिया गंज, नई दिल्ली-110002
फोन : 23285413

e-mail : eblindology@gmail.com
eblinfo76@gmail.com
Website : www.eblindology.com

© लेखक

प्रथम संस्करण : 2018

मूल्य : ₹ 3000 (Set)

ISBN : 978-81-7854-345-1 (Set)
ISBN : 978-81-7854-346-8 (Vol. 1)

साहित्यसुधासिन्धु एवं मृगाङ्कलेखा

अनुवादक एवं व्याख्याकार : **रामप्रताप**

टाईप सैटिंग : **क्रियेटिव ग्राफिक्स**, दिल्ली
मुद्रक : **आर. के. प्रिंट सर्विस**, दिल्ली-32

Ācārya Tathā Nātikākāra Viśvanāthadevaviracita

SĀHITYASUDHĀSINDHU
EVAM
MṚGĀṄKALEKHĀ

(Original Text, Hindi Translation, Introduction and Commentary etc.)

(Vol–1)

Translator & Commentator

RAMPRATAP

Ex Professor, Ex Head, P.G. Deptt. of Sanskrit
Ex Dean Faculty of Arts, The University of Jammu
Jammu Tawi, 180006
Ex Principal Investigator U.G.C. New Delhi

EASTERN BOOK LINKERS

DELHI : : (INDIA)

All right reserved. No part of this work may be reproduced, stored in aerial system or transmitted in any form or by any means, electronic, mechanical, photocopy, recording or otherwise, without the prior written permission of the publishers and the author.

Publishers :

EASTERN BOOK LINKERS

H. O. : 5825, New Chandrawal,
Jawahar Nagar, Delhi-110007
Ph. : 23850287, 9811232913

Show Room : 4806/24, Bharat Ram Road,
Daryaganj, New Delhi-110002
Ph. : 23285413

e-mail : eblindology@gmail.com
eblinfo76@gmail.com
Website : www.eblindology.com

© Author

First Edition : 2018

Rs. : ₹ 3000 (Set)

ISBN : 978-81-7854-345-1 (Set)
ISBN : 978-81-7854-346-8 (Vol. 1)

Sāhityasudhāsindhu Evam Mṛgāṅkalekhā

Translator & Commentator **Ram Pratap**

Printer : **R.K. Print Service, Delhi-32**

शुभाशंसा

वामां वामाङ्गभागे कलयति मदनप्लोषकीर्तिं च धत्ते
सर्वैश्वर्याकुलोऽपि प्रकटयति करे नारमेकं कपालम्।
दाता मुक्तेर्गरीयान्भवति स भुवने यः स्वयं चाविमुक्तः
पायान्मायादुरूहो गिरिवरतनयावल्लभो भूतनाथः[1] ।।1।।

मौलौ गङ्गाम्बुधारा कुवलयपटलीमण्डिता शूलपाणेः
कौन्दी भृङ्गीकदम्बव्यतिकरमधुरा मालिका कन्धरायाम्।
कर्पूरक्षोदचञ्चन्मृगमदपटलीपङ्कसंकाशमूर्ति-
र्वक्षःपीठे पतन्ती क्षितिधरतनयानेत्रशोभाऽवताद् वः[2] ।।2।।

चन्द्रचूडप्रियापाङ्गसन्दोहानन्दनिर्भरः ।
विदधाति कविः कोऽपि सुधासिन्धुतरङ्गितम्[3] ।।3।।
प्रबलकर्कशतर्कविचारणोल्लसितकाव्यसुलक्षणलक्षिता ।
त्रिमलदेवतनूजविनिर्मिति र्मतिमतां वितनोतु मनोमुदम्[4] ।।4।।

अतिपरिचयदोषात्प्रौढबालेव वाणी
न रचयति विनोदं प्राक्तनानां कवीनाम्।
अभिनवकविवाचा काऽपि रीतिर्नवीना
युवतिरिव विधत्ते प्रौढमानन्दमन्तः[5] ।।5।।

प्रत्युज्जीवयति स्वकीयविभवैः शक्त्या परं कुण्ठितं
नानार्थैः सरसीकरोति सहसा सामाजिकानां मनः।

---

1. सा०सु०सि० 5, 171; मृगाङ्क० 1, 2
2. साहित्यसुधासिन्धु 8, 293
3. साहित्यसुधासिन्धु 1, 3
4. साहित्यसुधासिन्धु 8, 295
5. मृगाङ्कलेखा 1, 13

बाधाद् भीतिरहो फलग्रहिलया त्यक्ता परं दूरतः
सेयं रङ्गविलासिनीव विदुषामास्ते हृदि व्यञ्जना[1] ।।6।।

धन्यास्ते कवयो यदीयरसना रूक्षाध्वसञ्चारिणी
धावन्तीव सरस्वती दुतपदन्यासेन निष्क्रामति।
अस्माकं रसपिच्छिले पथि गिरां देवी नवीनोदया
पीनोत्तुङ्गपयोधरेव युवतिर्मान्थर्यमालम्बते[2] ।।7।।

यावत्पाटीरपङ्कद्रवमधुरसुधापूरसेकैस्त्रिलोकी-
मुच्चैः प्रीणाति विप्रप्रणतिनुतपदः पार्वणः शीतभानुः।
वेगादम्भोजजृम्भावितरणरसिका भानवो भान्ति यावद्
भानोस्तावद् विधत्तामयमपि च सुधासिन्धुरानन्दकन्दम्[3] ।।2।।

यावद् ब्रह्माण्डभाण्डे स्फुरति स भगवान् पद्मिनीजीवितेशो
यावत्क्षोणीं फणीन्द्रः कलयति शिरसा यावदास्ते शशाङ्कः।
यावत् कल्पान्तवातो न चलति भुवने सन्तु तावत् समस्ता
विस्फूर्जत्क्षीरधाराद्रवमधुरतराः सत्कवीनां प्रबन्धाः[4] ।।3।।

आचार्यो विश्वनाथदेवः

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 2, 20
2. साहित्यसुधासिन्धु 3, 18
3. वही, 8, 291
4. मृगाङ्कलेखा 4, 24

आशीर्वचनानि

नानाशास्त्रगभीरतत्त्वनिचयोन्मेषाय बद्धादरं
साहित्याब्धिनिमज्जनैकव्रतिनं विद्वन्मुदावर्धकम्।
साधुत्वादिगुणौघसम्भृतहृदामग्रेसरत्वं गतं
स्वीयाशीर्भिरहं युनज्मि विबुधं रामप्रतापं प्रियम्।।1।।

पुराणवाचां प्रथमं विवेचिता सचेतसा येन हि काव्यरूपता।
कृतिं तदीयामपरां विलोकयन् तमात्मशिष्यं हृदयेन भावये।।2।।

विश्वनाथेन देवेन ग्रन्थः पूर्वं व्यलेखि यः।
स साहित्यसुधासिन्धुरनेन समपाद्यत।।3।।
टिप्पणीभिरनेकाभिः पाठसंशोधनेन च।
समुपेता विभात्येषा हिन्दीटीका सुविस्तृता।।4।।
रसालङ्कारदोषाद्या विषया येऽत्र संस्थिताः।
तेषां वैशिष्ट्यमेतेन दर्शितं सुधिया धिया।।5।।
समीक्षाजगतो नूत्नां विमलां सरणिं श्रितः।
निष्पक्षं ग्रन्थकृद्भावं विशदं वितनोत्ययम्।।6।।
कृती रामप्रतापोऽसौ सद्गुणः सद्विवेचकः।
निर्गुणेन द्विजेन्द्रेण कर्मण्यत्र प्रशंस्यते।।7।।

आचार्यो द्विजेन्द्रनाथमिश्रो निर्गुणः

शुभकामना

काकारामद्विजेन्द्रौ तौ वासुदेवभगीरथौ।
वागीश्वरप्रियव्रतौ धर्मेन्द्रो वायुनन्दनः।।2।।

ओजस्वी ज्ञानचन्द्रश्च हरिशरणशङ्करौ।
रामनाथो नरेन्द्राद्याः स्तूयन्ते गुरवो मया।।3।।

सुनीतांरमणीकां च केदारनाथशास्त्रिणम्।
शिष्यान् स्वीयानहं सर्वान् स्मरामि मनसि स्वके।।4।।

ध्यायन् वेदश्रियं पत्नीं भानुं पुत्रमृचां सुताम्।
श्रीमदम्बाप्रसादं च रामः सेवेत शारदाम्।।5।।

संस्कृतसंस्कृतिप्रेमी जम्मूकश्मीरनन्दनः।
डॉक्टरकर्णसिंहोऽसौ प्राप्नुयात् पुरुषायुषम्।।6।।

वेदज्ञानसुधां पिबन्तु विबुधा मन्त्रार्थविद्वैदिका
ज्ञायन्तां च सुबुद्धिभिस्तु कुशलैः शास्त्राण्यनेकानि च।
आनन्दः सोऽनुभूयतां सहृदयैः काव्येषु यो विद्यते
नित्यं पातु सरस्वती भगवती प्रज्ञायशोदायिनी।।7।।

यावत्काव्यस्य शास्त्रस्य चर्चा सम्पत्स्यते भुवि।
विश्वनाथस्य देवस्य तावद् यशो भविष्यति।।8।।

वैदग्ध्यस्य लवो नास्ति प्रतिभा नास्त्यलौकिकी।
नास्ति शास्त्रेषु नैपुण्यं विद्याभ्यासो न यद्यपि।।9।।

तथापि विहितं ह्येतद् भाष्यकर्मातिदुष्करम्।
न वीक्षते स्वसामर्थ्यं कार्यार्थी दृढमानसः।।10।।

द्रष्टुमर्हन्तु विद्वांसो व्याख्यां ते सूक्ष्मदर्शिनः।
मृष्यते यैर्महान् दोषः स्वल्पो गुणः प्रशंस्यते।।11।।

अपायान्नः प्रभुः पायाद् धर्मार्थकाममोक्षदः।
शास्त्रेषु पुरुषार्थेषु प्रवृत्तिं कारयेदसौ।।12।।

रामप्रतापः

Foreword

The editing of original Sanskrit works lying in private and public libraries in India and abroad is a sacred duty of Sanskrit scholars. Since the middle of the 19th century when the British Government initiated the work of search for Sanskrit MSS., manuscript libraries came into existence in many parts of the country. Some enlightened Indian princes like Maharaja Ranbir Singh of Jammu & Kashmir established manuscript libraries at their personal expense and thus saved from extinction many valuable works which otherewise would have been eaten up by moths or thrown into rivers or used by grocers. About a million MSS. covering some 70000 separate works are included in New Catalogus Catalogorum published by the University of Madras. Only a sprinkling of this huge MSS. material has been published so far. In this respect we are far behind Europe where every Greek and Latin manuscript has seen the light of the day. It is therefore, gratifying to know that some of our Universities, research institutes and individual scholars have undertaken this painstaking work of editing and publishing the rich source material of Indian culture. Prof. Ram Pratap of the University of Jammu deserves cogratulations for enriching our knowledge of the past by bringing into light this hitherto unpublished work on Indian Poetics, namely Sāhityasudhāsindhu of Viśvanāthadeva. I hope the scholars and students of Sanskrit will find this work interesting and illuminating. His another work Mṛgāṅkalekhā also has been included.

Ved Kumari Ghai

Ex Professor & Ex Head
Department of Sanskrit & Dean (Arts)
Jammu University, Jammu Tawi
15 August, 2017

नान्दीवाक्

महामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की स्वोपज्ञ लोचनटीका में काव्यात्मतत्त्व की भूमिका बाँधते हुए कहा है- शब्द एवं अर्थ ही काव्यशरीर हैं। परन्तु उसमें अनुप्राणन करने वाला कोई आत्मा भी तो होना चाहिए।

जैसे मानवशरीर के हाथ, पाँव, नाक, आँख, कान आदि विविध अंग अपने अनुप्राणक चैतन्य के ही संस्पर्शवश जीवित अथवा सक्रिय (सचेष्ट) परिलक्षित होते हैं और चैतन्यविरहित होते ही वे निश्चेष्ट और निष्प्राण हो जाते हैं। ठीक उसी प्रकार काव्यशरीर का भी कोई वैसा ही अनुप्राणक (आत्मा) निर्धारित होना चाहिए।

इस प्रश्न को उठाकर स्वयं अभिनव ही इसका उत्तर भी देते हैं कि सहृदयश्लाघ्य अर्थ ही वह अनुप्राणक काव्यार्थ है जो शरीरस्थानीय तत्त्वों (वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ, रीति, वृत्ति, अलंकार, लक्षणादि) से सर्वथा भिन्न है तथा लावण्यस्थानीय होने के कारण सर्वथा अनुभवसंवेद्य है। वही आत्मभूत व्यङ्ग्यार्थ त्रिधा व्यवस्थित है - वस्तुध्वनि, अलंकारध्वनि तथा रसध्वनि। यद्यपि पर्यवसान तीनों ही ध्वनियों का अन्ततः (चैतन्य चमत्कार रूप) रस के ही महासमुद्र में होता है क्योंकि एकमात्र वही ब्रह्मानन्दसहोदर है, स्वप्रकाश है, परिमितप्रमातृत्व से परे है, विगलितवेद्यान्तर है, कार्य, ज्ञाप्य आदि लौकिक प्रमेयों से विलक्षण है तथा अलौकिकचमत्कारी है।

साहित्यदर्पणकार ने रस की सार्वभौमता का हृदयग्राही चित्रण कर दिया था और ध्वनिकार आनन्दवर्धन अलंकार तथा रीति की शरीरस्थानीयता सिद्ध कर चुके थे। रस से तो उनका कोई विरोध था ही नहीं। वक्रोक्ति (सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते -भामह) तथा अतिशयोक्ति को भी वह ध्वनिसहचरी ही मानते थे। संभवतः वक्रोक्तिजीवित को उन्होंने नहीं देखा था। अतः कुन्तक के विषय में वे मौन ही रहे। इन तत्त्वों के अतिरिक्त भी संस्कृत काव्यशास्त्र में शय्या (बाणभट्ट) गुम्फ (मालवेश्वर भोज) प्रौढि (बिल्हण) भङ्गीभणिति (नीलकण्ठ दीक्षित एवं अन्य) पाक (राजशेखर) रमणीयता (पण्डितराज जगन्नाथ) अलौकिक वर्णना (मम्मट) तथा चमत्कार (प्रायः सभी आचार्य) सरीखे काव्यतत्त्व यथावसर ख्याति के शिखर पर रहते रहे इन सभी में चमत्कारतत्त्व का अपना विशेष महत्त्व रहता आया है। चमत्कार क्या है? चमत्करोतीति चमत्कारः। जो चेतना को झिझोंड़कर रख दे,

गुदगुदी पैदा कर दे और सनसनी पैदा कर दे वही चमत्कार है। यह चमत्कार पैदा होता है- अघटित घटनापटीयस्त्व से और अभूततद्भाव से। लोक में जब कोई ऐन्द्रजालिक रिक्त पात्र दिखाकर उसमें से कबूतर उड़ा देता है, अघटित को घटित कर देता है और अभूत का तद्भाव प्रस्तुत कर देता है तो हम उसे 'चमत्कार' कहते हैं। कवि के कर्म काव्य में प्रतिपादित अर्थ अपने को और शब्द अपने को तथा अपने सङ्केतितार्थों को उपसर्जनीकृत (गौण) कर वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य से जब एक विलक्षण अर्थ को प्रकाशित करने लगते हैं तो वे दोनों काव्य को चमत्कृत कर देते हैं और उनके द्वारा चमत्कृत वह काव्य आनन्दविभोर कर देता है सहृदय पाठक को। वस्तुतः चमत्कार तत्त्व काव्य के विस्मितिजनक आनन्द का नाम है। रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य के समर्थक आचार्यों ने भी स्वाभिमत रसादि काव्यतत्त्वों को चमत्कारजनक माना है।

प्राचीन काल से लेकर आज तक यह चमत्कार नामक तत्त्व जिस रूप में भी लिखा, पढ़ा और समझा जा रहा है वह उसकी अपरिहार्यता तथा महनीयता बताने के लिए पर्याप्त है। हमें प्राचीन आचार्यों की प्रतिभा, गहन चिन्तन, नभोविस्तृतज्ञान तथा विवेचनात्मिका शक्ति को समझने के लिए अपनी ओर से पूरा पूरा प्रयास करना चाहिए। प्राचीन और वर्तमान ग्रन्थों में उपलब्ध ज्ञान को अर्जित करते हुए हमें इस काव्यशास्त्रीय सुदीर्घ चिन्तनपरम्परा को और आगे आगे बढ़ाना चाहिए।

यह हर्ष और सन्तोष की बात है कि इस ग्रन्थ की विषयावतरणिका में मेरे वरिष्ठ मित्र प्रो० रामप्रताप ने चमत्कारसम्बन्धी भूली बिसरी सामग्री को एकत्र करके चमत्कार का लक्षण और महत्त्व बताते हुए चमत्कारसम्प्रदाय की नये सिरे से पुनः स्थापना की है। उनका यह उपक्रम निश्चय ही प्रशंसनीय है। इसके साथ ही काव्यप्रयोजन, काव्यहेतु और काव्यलक्षणादि विविध काव्यशास्त्रीय विषयों पर विस्तार से विचार प्रस्तुत किये गये हैं। साहित्यसुधासिन्धु का हिन्दी अनुवाद करते हुए उसके दुरूह स्थलों को भी टिप्पणियों के द्वारा स्पष्ट किया है। साहित्यसुधासिन्धु और मृगाङ्कलेखा उन दोनों कृतियों का गहन अध्ययन प्रस्तुत करके उनका काव्यशास्त्रीय योगदान बताया है। मुझे आशा और विश्वास है कि आचार्य विश्वनाथदेव की उन रचनाओं को पूरी तरह समझने में यह ग्रन्थ बहुत सहायक सिद्ध होगा। मेरी दृष्टि में अनुवादक और व्याख्याकार प्रो० रामप्रताप का यह श्रमसाध्य कार्य अत्यन्त उपयोगी, विचारार्ह एवं वर्धापनयोग्य है।

मिश्रोऽभिराजराजेन्द्रः
पूर्व कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

सनराइज़ विला
लोअर समर हिल
शिमला - 171005
तिथि 20 अगस्त 2017

निवेदन

आचार्य भरत से लेकर आधुनिक काल तक लगभग 2000 वर्षों से चलती आई संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की सुदीर्घ परम्परा में काव्य के रसादिघटकतत्त्वों से सम्बन्धित विचारों का चिन्तन एवं अनुचिन्तन होता रहा है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में काव्य के उपादान कारण रस, अलङ्कार एवं लक्षणादि तत्त्वों का विवेचन तो है ही किन्तु इसके साथ ही वहाँ जो रसनिष्पत्ति प्रक्रिया बताई है उसमें चमत्कारसम्प्रदाय भी अन्तर्निहित है। भरत मुनि के अनन्तर अगले 1000 वर्षों में जिन काव्यशास्त्र सम्बन्धी अवधारणाओं का विकास हुआ उनका समन्वित रूप आचार्य मम्मटकृत काव्यप्रकाश में देखने को मिलता है। इसी प्रकार अगले 800 वर्षों में इन विचारों का विकसित एवं परिष्कृत रूप अलङ्कारकौस्तुभ, साहित्यसुधासिन्धु, रसगङ्गाधर और काव्यालोक में उपलब्ध होता है। सन् 1592 में लिखित आचार्य विश्वनाथदेव की इस साहित्यसुधासिन्धु नामक विशाल रचना में काव्य के सभी प्रमुख सिद्धान्तों और प्रमुख तत्त्वों का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ की विषय प्रतिपादन शैली तथा विश्लेषणात्मक दृष्टि अधिकांश स्थलों पर अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की रचनाओं की तुलना में अधिक उत्कृष्ट एवं अधिक स्पष्ट है। इसमें नव्यन्याय की शैली को अपनाकर दिये गये काव्यलक्षण एवं गुण और दोष तथा अलङ्कारादि के लक्षण विचारोत्तेजक एवं ज्ञानवर्धक हैं। इसमें समाविष्ट काव्यशास्त्रीय तत्त्वों की सामग्री के साथ अन्य ग्रन्थों में सन्निहित विषयों के तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन करने से अनेक रोचक एवं अद्‌भुत तथ्य उजागर होते हैं।

इस ग्रन्थ की इसी महत्ता, उपयोगिता और विशेषता से आकृष्ट होकर मैंने इसका सम्पादन एवं हिन्दी में अनुवाद किया है तथा सभी कठिन और दुरूह स्थलों को समुचित टिप्पणियाँ देकर स्पष्ट करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है। इसके साथ ही विषयावतरणिका में इस रचना के परिप्रेक्ष्य में काव्यशास्त्र के विभिन्न विषयों से सम्बद्ध विचारों को रखा है।

आचार्य विश्वनाथदेव की दूसरी कृति मृगाङ्कलेखा नामक नाटिका है। चार

अङ्कों वाली इस नाटिका का नायक कर्पूरतिलक नामक राजा और नायिका मृगाङ्कलेखा है। इसका अङ्गी रस शृङ्गार है और वीर और बीभत्स रस अङ्ग बने हैं। उपमा, अतिशयोक्ति और काव्यलिङ्ग आदि अलङ्कारों का भी इसमें समावेश किया गया है। विभिन्न पात्रों की अन्तः प्रकृति तथा वनप्रदेश, भ्रमरझङ्कार, सहकार आदि उद्दीपन विभावों को प्रस्तुत करके बाह्यप्रकृति का चित्रण भी है। इस प्रकार इस नाटिका में रस, अलङ्कार, रीति, औचित्य और ध्वनि आदि विभिन्न काव्यतत्त्वों के द्वारा चमत्कार की सृष्टि की गई है। मेरे द्वारा काव्य की कसौटी चमत्कारकारिता को बताया गया है।

सचमत्कारकाव्यस्य काव्यत्वमुपपद्यते।
अचमत्कारिकाव्यस्य काव्यत्वं नोपपद्यते।।

काव्यचमत्कार 5,31

पदादिगतौचित्यध्वनिमूलकविस्मयजन्य चमत्कार से समन्वित यह मृगाङ्कलेखा नाटिका उच्चकोटि की रचना है।

इस नाटिका का अभिनय भगवान् काशी विश्वनाथ की यात्रा के अवसर पर इसके रचयिता आचार्य विश्वनाथदेव के सामने वाराणसी में हुआ था। इन्होंने स्वयं भी अपने को वाराणसी का निवासी बताया है (साहित्यसुधासिन्धु 8,294)। वाराणसी में निवास करने वाले भगवान् काशी विश्वनाथ और आचार्य विश्वनाथदेव इन दोनों का महत्त्व इन निम्नलिखित परिकर श्लोकों में बताया गया है।

विश्वनाथेन देवेन भक्ताश्चमत्कृताः कृताः।
विश्वनाथेन देवेन बुधाश्चमत्कृताः कृताः।।1।।

विश्वनाथमविज्ञायाधन्यं नरजीवनम्।
विश्वनाथं नु विज्ञाय धन्यं नरजीवनम्।।2।।

विश्वनाथमविज्ञाय काव्ये शास्त्रे च नो गतिः।
विश्वनाथं नु विज्ञाय काव्ये शास्त्रे सदा गतिः।।3।।

स्मरन् नुभाविमौ देवौ स्वाध्यायनिरतो जनः।
अवन्ध्यं दिवसं कुर्याज् ज्ञानध्यानसुकर्मभिः।।4।।

प्रस्तुत ग्रन्थ के इस अनुवाद कर्म को करने में मुझे गुरुजनों, पत्नी और मित्रजनों से भरपूर सहयोग मिला है। इस कारण अल्प सामर्थ्य के होते हुए भी मैंने दूसरों से सहायता लेकर यह श्रमसाध्य कार्य पूरा कर लिया है।

प्राप्तान्यस्वरसंयोगा ह्रस्वदीर्घाभिधां गताः।
दीर्घतां गुणवृद्धीश्च प्राप्नुवन्ति यथा स्वराः।।1।।

गुरुपत्नीसुहृत्पक्षादासाद्य दीर्घतादिकम्।
यान्ति तथा परां सिद्धिं ह्रस्वाः सन्तोऽपि पूरुषाः।।2।।

काव्यचमत्कार 1,58-59

दूसरे (अपने जैसे ह्रस्व और दीर्घ) स्वरों के साथ संयोग को प्राप्त करने वाले ह्रस्व और दीर्घ नाम वाले अवर्णादि स्वर जैसे दीर्घ, गुण और वृद्धि की संज्ञाओं को पा लेते हैं। ठीक वैसे ही दीर्घता आदि (आत्मविस्तार, उदात्त गुण, उन्नति और समृद्धि) को गुरु, पत्नी और मित्र की ओर से प्राप्त करने वाले छोटे मनुष्य भी सफलता को प्राप्त कर लेते हैं।

सबसे पहले मैं अपने साहित्यगुरुओं सर्वश्री वागीश्वरविद्यालङ्कार, रामनाथ वेदालङ्कार, काकाराम शास्त्री, द्विजेन्द्रनाथ मिश्र, धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, नरेन्द्रनाथ चौधरी, ज्ञानचन्द्र और आध्यात्मिक गुरुदेव प्रो० ओजस्वी शर्मा का स्मरण कर रहा हूँ। उनकी कृपा, सहयोग और आशीर्वाद से मेरा यह कार्य सम्पन्न हुआ है। जिन पूर्ववर्ती प्राचीन, नवीन और अतिनवीन आचार्यों की कृतियों को पढ़कर मैंने यत्किञ्चित् ज्ञान अर्जित किया है उनको भी नतमस्तक होकर प्रणाम करता हूँ।

जम्मूविश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग की पूर्व आचार्या एवं पूर्व अध्यक्षा प्रो० वेदकुमारी घई ने इस कृति का प्राक्कथन (Foreword) लिखा है। अपने इस अनुवाद कार्य में आरम्भ से लेकर अन्त तक उनकी प्रेरणा, बौद्धिक सत्परामर्शों एवं दिशानिर्देशों से मुझे बड़ी सहायता मिली है। प्रो० घई अनेक भाषाओं की जानकार होने के साथ साथ विश्वविख्यात विदुषी हैं। उनके प्रोत्साहन और सहयोग से मुझे बड़ा सम्बल एवं शक्ति प्राप्त हुई है। इस सबके लिए मैं उनको अपनी ओर से हार्दिक धन्यवाद और स्नेहाञ्जलि समर्पित कर रहा हूँ।

प्रो० अभिराजराजेन्द्र मिश्र पूर्व कुलपति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी महाकवि (त्रिवेणी कवि) काव्यशास्त्रज्ञ, ग्रन्थकार, समालोचक एवं विश्वप्रसिद्ध विद्वान् हैं। उन्होंने इस पुस्तक के लिए विद्वत्तापूर्ण नान्दीवाक् लिखकर मुझे उत्साहित किया है। उन्होंने स्वयं भी अभिराजयशोभूषण नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की है। जिसके कारण उनको संस्कृतकाव्यशास्त्र के आधुनिक आचार्यों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। मैं उनकी विद्वत्ता और सहृदयता से प्रभावित होते हुए अपनी कृतज्ञता प्रकट कर रहा हूँ।

महामहोपाध्याय प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी पूर्व संस्कृत विभागाध्यक्ष, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी प्रसिद्ध महाकवि (सनातन कवि) विख्यात काव्यशास्त्रविद एवं अनेक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के टीकाकार हैं उन्होंने मेरी रचना की विस्तृत भूमिका लिखी है। उन्होंने साहित्यसुधासिन्धु एवं मृगाङ्कलेखा को साहित्य के अध्येताओं के लिए उपादेय और अपरिहार्य बताया है। इसके अतिरिक्त इस सम्पादित ग्रन्थ और इसके हिन्दी भाष्य का भी स्वागत किया है। मैं उन विश्वविश्रुत विद्वान् प्रोफेसर द्विवेदी का अत्यन्त आभारी हूँ।

श्री रवि मल्होत्रा और श्री दीपक मल्होत्रा ईस्टर्न बुक लिंकर्स, जवाहर नगर देहली संस्कृत पुस्तकों के बहुत बड़े जाने माने वितरक और प्रकाशक हैं। उन्होंने इस रचना को अतीव सुन्दर रूप प्रदान करते हुए मुद्रित किया है। एतदर्थ उनको धन्यवाद दे रहा हूँ।

जम्मू तवी

रामप्रताप

विजयादशमी 30-9-2017

विषयानुक्रमणिका

शुभाशंसा—आचार्यविश्वनाथदेव:	v-vi
आशीर्वचनानि—आचार्यो द्विजेन्द्रनाथमिश्रो निर्गुण:	1
शुभकामना	1-2
Foreword—*Prof. Ved Kumari Ghai*	3-4
नान्दीवाक्—मिश्रोऽभिराजराजेन्द्र:	5-6
निवेदन	7-10
विषयानुक्रमणिका	11-20
भूमिका- प्रो० रेवाप्रसाद द्विवेदी	21-28
Introduction	29-37
विषयावतरणिका	39-146
1. आचार्य विश्वनाथदेव का परिचय	39-42
I कृतित्व	39-40
II जीवनकाल	40-41
III विश्वनाथदेव नाम का औचित्य	41-42
2. मृगाङ्कलेखा का रचनाकाल और परिचय	42-47
3. मृगाङ्कलेखा और साहित्यसुधासिन्धु में समानतायें	47-51
(1) मङ्गलाचरण में साम्य	47-49
(2) ग्रन्थसमाप्ति में साम्य	49-50
(3) दोनों रचनाओं में समान रूप से उपलब्ध श्लोक	50-51
(4) साहित्यसुधासिन्धु का रचनाकाल	51-58
(क) ग्रन्थ में निर्दिष्ट समय	51-52
(ख) अन्त:साक्ष्य के आधार पर साहित्यसुधासिन्धु की पूर्वापरसीमा	53-58
5. साहित्यसुधासिन्धु की वर्तमान हस्तलिखित प्रतियाँ	58-64
(क) जम्मू की हस्तलिखित प्रति	58-60

(ख) अलवर की हस्तलिखित प्रति 60
(ग) तिरुपति की हस्तलिखित प्रति 60-61
तीनों प्रतियों का मूलप्रति से अन्तर तथा अमौलिकता 61-64
6. साहित्यसुधासिन्धु में प्रतिपादित विषय 64-68
7. साहित्यसुधासिन्धु के कुछ विचारणीय स्थल 68-72
8. साहित्यसुधासिन्धु में प्रतिपादित प्रमुख काव्यसिद्धान्तों की समीक्षा 72-118
I काव्यप्रयोजन 73-74
II काव्यहेतु 74-75
III काव्यलक्षण 75-88
प्रथम काव्यलक्षण 75-78
द्वितीय काव्यलक्षण 78-88
IV शब्दार्थकाव्यतावाद 88-109
काव्यलक्षण 88-90
शब्दार्थकाव्यतावाद के भेद 90-109
1. आस्वादव्यञ्जक शब्दार्थकाव्यतावाद 91-98
2. गुणालङ्कारविशिष्ट शब्दार्थकाव्यतावाद 98-99
शब्दार्थौ काव्यम् की सङ्गति 99-100
अदोषौ शब्दार्थौ की सङ्गति 100-102
सगुणौ (शब्दार्थौ) की सङ्गति एवं अनलङ्कृती
पुन: क्वापि की सङ्गति 103-109
V अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद 110-114
VI काव्यभेद 114-115
VII व्यक्ति में सङ्केतग्रह 115
VIII चतुर्विधा लक्षणा 115
IX व्यञ्जना का ही एकमात्रवृत्तित्व 116
X रसनिष्पत्तिप्रक्रिया एवं रस 116
XI ध्वनिभेद 117
XII दोषों के परिनिष्ठित लक्षण एवं दूषकताबीज 117
XIII तीन गुण 117

XIV सादृश्यमूलक अलङ्कारों में अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव 117
XV चमत्कारसम्प्रदाय 117
चमत्कारसम्प्रदाय का क्रमिक विकास 118
प्राचीन आचार्य
भरत 119, आनन्दवर्धन 119, भट्टतौत 119-120 राजशेखर 120, कुन्तक 120-121 क्षेमेन्द्र 121-122 मम्मट 123-125 जयदेव 125
नवीन आचार्य
विश्वनाथ 125-126, विश्वेश्वर कविचन्द्र 126-127, कविकर्णपूर 127-130, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य 130-131, विश्वनाथदेव 131-135, पण्डितराज जगन्नाथ 135-139, हरिप्रसाद 139-143
अतिनवीन आचार्य
कान्तिचन्द्र भट्टाचार्य, छज्जूराम शास्त्री, रेवाप्रसाद द्विवेदी, वायुनन्दन पाण्डेय, शिव जी उपाध्याय, कृष्णचन्द्र चतुर्वेद, वागीश्वर विद्यालङ्कार, रामप्रताप एवं राधावल्लभ त्रिपाठी। 144-146

प्रथम तरङ्ग

मङ्गलाचरण 147-150
काव्यप्रयोजन 150-153
काव्यलक्षण 153-164
परिनिष्ठित काव्यलक्षण 165-168
काव्य में सामान्यालङ्कार का महत्त्व 168-170
काव्य के भेद तथा उनके उदाहरण 170-180

द्वितीय तरङ्ग

शब्दलक्षण 181
शब्दभेद, अर्थभेद एवं व्यापारभेद 181-182
वाचकशब्द 182
आनन्त्य और व्यभिचार दोष 183
जाति और व्यक्ति में सङ्केत 183-189
लाक्षणिक शब्द 188-190
लक्षणा और उसके भेद 189-190
अव्यङ्ग्या लक्षणा का उदाहरण190-192
सव्यङ्ग्या लक्षणा के लक्षण, भेद और उदाहरण 192-201
षड्विधा लक्षणा की अनुपपन्नता201-202
नव्यों की चतुर्भेदा लक्षणा 202
व्यञ्जक शब्द का लक्षण और उदाहरण 202-204
व्यञ्जनाविरोधी मीमांसकों के मत का खण्डन 204-206
लक्षणावाद और उसका खण्डन 206-208
अनुमान में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का खण्डन 208-218
श्लेष में व्यञ्जना के अन्तर्भाव का खण्डन 218-222

एकमात्र व्यञ्जनावृत्ति की सत्ता मानने वाले नवीनों के मत का प्रतिपादन 222-225
अतिनवीनों के द्वारा अनुमान में व्यञ्जना का अन्तर्भाव और उसका खण्डन 225-232

तृतीय तरङ्ग

ध्वनि के चार भेदों के लक्षण और उदाहरण 233-237
रसस्वरूप 237-243
विभाव का लक्षण और भेद 243-244
अनुभाव 244-245
व्यभिचारिभाव का लक्षण 245
विभावनादिव्यापार और उनका फल 246-247
रत्याद्यवच्छिन्न और भग्नावरणचैतन्य की रसरूप में परिणति 247-250
साधारणीकरणव्यापार की रसनिष्पत्ति-हेतुता 250-251
कवि के भावों का ही काव्य में प्रतिबिम्बन 252-253
भाव, रसनिष्पत्ति और रत्यादिभावों का साधारणीकरण 253-257
रस के कार्य होने का निषेध 257-258
रस के ज्ञाप्य होने का निषेध 258
रस के कार्य और ज्ञाप्य होने का प्रतिपादन 258-260
रसास्वाद में व्यञ्जना की सहायता 260-261
स्थायिभाव 261-263
विभावादि की संयुक्तहेतुता का खण्डन मण्डन 263-268
रसों के भेद 268-269
सम्भोगशृङ्गार 269-271
विप्रलम्भशृङ्गार के भेद एवं उदाहरण 271
अभिलाषविप्रलम्भ 271
विरहविप्रलम्भ 271-272
ईर्ष्याविप्रलम्भ 272
प्रवासविप्रलम्भ 273
शापविप्रलम्भ 273-275
वीर के भेद 276
दानवीर 277
धर्मवीर 277
दयावीर 278
युद्धवीर 278
करुण 279
रौद्र 280
अद्भुत 280-282
भयानक 282
बीभत्स 282-283
हास्य 283-284
प्रेयान् 284-286
शान्त 286-287
दान्त 287-288
उद्धत 288
स्थायिभावों के भेद 289
रति 289
उत्साह 289
शोक 290
क्रोध 290-291
आश्चर्य (विस्मय) 291-292
भय 292
जुगुप्सा 293

हास 293-294
वात्सल्य 294-296
निर्वेद 296
धैर्य (स्थैर्य) 296-297
गर्व 297
चार ही रसों के रसत्व का प्रतिपादन 297
करुणादियों का रसत्वविषयक
पक्ष विपक्ष 297-304
सात्त्विकभावों के भेद 304
स्तम्भ 305
स्वेद 305
रोमाञ्च 306
स्वरभङ्ग 307-308
वेपथु 308
वैवर्ण्य 308-309
अश्रु 309-310
प्रलय 310
व्यभिचारिभावों के भेद 310-311
स्मृति 311-312
वितर्क 312
उत्कण्ठा 312
चिन्ता 313
चपलता 313-314
मति 314
गर्व 314-315
स्नेह 315
धृति 315-316
व्रीडा 316
अवहित्थ 316-317
मूढता 317
मद 317
हर्ष 317-318
अमर्ष 319-320
असूया 320-321
ईर्ष्या 321
विषाद 322
दैन्य 322-323
उग्रता 323-324
त्रास 324
शङ्का 325
गद 325-326
ग्लानि 326
उन्माद 327
सम्भ्रम 327-328
श्रम 328
निर्वेद 329
जाड्य 329
आलस्य 330
निद्रा 330
सुप्त 331
प्रबोध 332
असंलक्ष्यक्रमध्वनि 332-334
संलक्ष्यक्रमध्वनि के भेद 334-337
ध्वनि के 51 भेद 337-340
ध्वनि के 7 भेद 340-341
सङ्कर तथा संसृष्टि के कारण ध्वनि के
प्रचुर भेद तथा उदाहरण 341-349

चतुर्थ तरङ्ग

गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्यों के भेद 350-351
अगूढ 352
अपराङ्ग 352-356
वाच्यसिद्ध्यङ्ग 356-357

अस्फुट	357-358	गुणीभूतव्यङ्ग्य की ध्वनि-सम्मितता	362
सन्दिग्धप्राधान्य	358-359	ध्वनि के वस्त्वादिभेद	362
तुल्यप्राधान्य	359-360	शब्दचित्र और अर्थचित्र नामों का आधार	363-364
काक्वाक्षिप्त	360-361		
असुन्दर	361		

पञ्चम तरङ्ग

दोष का सामान्य लक्षण	365-366	हतवृत्त	437-439
दोष का परिनिष्ठित लक्षण	366-370	न्यूनपद	439-441
पददोषों के भेद	371	अधिकपद	441-443
श्रुतिकटु	371-373	कथितपद	443-445
असाधु	374-376	पतत्प्रकर्ष	445-446
असम्मत	376-379	समाप्तपुनरात्त	446-448
असमर्थ	379-381	अर्धान्तरैकवाचक	448-451
निहतार्थ	382-383	अभवन्मतयोग	451-452
अनुचितार्थ	383-386	अनभिहितवाच्य	452-454
निरर्थक	386-387	अस्थानस्थपद	454-457
अवाचक	387-389	सङ्कीर्ण	457-458
अश्लील	389-391	गर्भित	458-459
सन्दिग्ध	391-392	प्रसिद्धिहत	459-460
अप्रतीत	392-394	भग्नप्रक्रम	461-468
ग्राम्य	394-395	अक्रम	468-470
नेयार्थ	395-400	अमतपरार्थ	470-472
क्लिष्ट	400-403	उपहतविसर्गादि का दोषाभावत्व	472-475
अविमृष्टविधेयांश	403-411	अर्थदोषों के भेद	475
विरुद्धमतिकृत्	411-418	अपुष्टार्थादि दोषों का अधिकपदादि-दोषों में अन्तर्भाव	475-490
पदवाक्यपदांशगतदोष	418	दोषाभास	490-498
च्युतसंस्कारादि की वाक्यदोषता के सम्बन्ध में पूर्वोत्तरपक्ष	418-427	रसदोषों के भेद	498-499
वाक्यमात्रगतदोषों के भेद	427	व्यभिचार्यादियों का स्वशब्दवाच्यत्व	499-501
प्रतिकूलवर्ण	427-429	अनुभाव और विभाव की कष्टकल्पना	501
उपहतलुप्तविसर्ग	429-432	प्रतिकूलविभावादिग्रह	501-503
विसन्धि	432-437		

रस की बार बार दीप्ति 503-504
अकाण्डप्रथन 504
अकाण्डच्छेद 504-505
अङ्ग की अतिविस्तृति 505
अङ्गी का अननुसन्धान 506-507
प्रकृतिविपर्यय 507-508
अनङ्ग का अभिधान 508-510

षष्ठ तरङ्ग

गुण का सामान्य लक्षण 511-514
गुणों के भेद 514
माधुर्य 514-516
ओज 516-517
प्रसाद 517-518
गुणों की शब्दार्थवृत्ति 518-519
माधुर्यव्यञ्जकवर्ण 519-520
ओजोव्यञ्जकवर्ण 520-522
रीतियों के भेद 522-523
गुणों की शब्दवृत्तिता के सम्बन्ध में पूर्वोत्तरपक्ष 523-527
शब्दगुणों के भेद 527-528
श्लेष 528
प्रसाद 528-531
समता 531-533
माधुर्य 533-534
सुकुमारता 534-535
अर्थव्यक्ति 535-536
उदारता 536-537
ओज 538
कान्ति 538-539
समाधि 539-541
अर्थगुणों के भेद 541-542
श्लेष 542-545
प्रसाद 546
समता 546-547
माधुर्य 547-548
सौकुमार्य 548
अर्थव्यक्ति 549-551
उदारता 551
ओज 551-554
कान्ति 554-555
समाधि 555-557
काव्यपाक 557-559
तीन गुणों में दस गुणों के अन्तर्भाव का खण्डन 559-560

सप्तम तरङ्ग

शब्दालङ्कार का लक्षण 561
शब्दालङ्कारों के भेद 562
श्लेषवक्रोक्ति 562
काकुवक्रोक्ति 563-564
अनुप्रास 564-565
अनुप्रास के भेद 565-566
वृत्तियों के भेद 566-567
मधुरा 567
प्रौढा 567-568
परुषा 568-569
ललिता 569
भद्रा 569-570
छेकानुप्रास 570-571
वृत्त्यनुप्रास 571-573

पादानुप्रास	573	भाषाश्लेष	589-590
यमक	574-576	प्रकृतिश्लेष	590-591
पादयमक	576-577	प्रत्ययश्लेष	591-592
पादार्धयमक	577	विभक्तिश्लेष	593
एकाक्षरयमक	577-578	वचनश्लेष	593-594
अनेकाक्षरयमक	578	श्लेष का अन्य अलङ्कारों के साथ सम्बन्ध	594-596
शृङ्खलायमक	578	श्लेष की रसोपकारकत्वानिवार्यता का खण्डन	596-598
परिवर्तकयमक	578-579	चित्रयुक्	598
श्लेष	579-580	खड्गबन्ध	598-601
श्लेष का परिनिष्ठित लक्षण	580-581	द्व्यक्षरचित्रकाव्य	601-602
श्लेषभेद	582-584	पुनरुक्तवदाभास	603-605
वर्णश्लेष	584-585		
पदश्लेष	585-586		
लिङ्गश्लेष	586-589		

अष्टम तरङ्ग

अर्थालङ्कार का लक्षण	606	मालोपमा	628-629
अर्थालङ्कारों के भेद	606-607	रशनोपमा	629-630
उपमा	608-612	समस्तविषयोपमा	630
वाक्योपमा (पूर्णोपमा)	612-614	एकदेशविवर्तिन्युपमा	630-632
लुप्तोपमा	615	उत्प्रेक्षा	633-636
धर्मलुप्ता	615	संशय	636-639
धर्मवाचकलुप्ता	615	रूपक	639-645
उपमानलुप्ता	616	मालारूपक	645-646
वाचकलुप्तादि उपमाओं के उदाहरण	617-619	परम्परित रूपक	646-647
उभयोपमा	620	अपह्नुति	647-650
अनन्वयोपमा	621-622	श्लेष	651-652
कल्पितोपमा	622-623	समासोक्ति	652-653
असदुपमा	623-626	निदर्शना	653
श्रौती पूर्णोपमा	626-627	पदार्थनिदर्शना	653
आर्थी पूर्णोपमा	627	वाक्यार्थनिदर्शना	653-656
समासगा श्रौती	628	मालानिदर्शना एवं उपमानिदर्शना	656-657
समासगा आर्थी	628	अप्रस्तुतप्रंशसा	658-662

अभेदातिशयोक्ति	662
भेदातिशयोक्ति	663
यद्यर्थमूलातिशयोक्ति	663
कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययातिशयोक्ति तथा इन भेदों के उदाहरण	663-669
प्रतिवस्तूपमा	669-671
दृष्टान्त	671-674
दीपक	674
क्रियादीपक एवं कारक दीपक	674-676
मालादीपक	676-677
तुल्ययोगिता	677-679
व्यतिरेक	679-682
आक्षेप	682-683
वक्ष्यमाणविषयक आक्षेप	683
उक्तविषयक आक्षेप	683-686
विशेषोक्ति	686-688
विभावना	689
अर्थान्तरन्यास	690
साधर्म्य से अर्थान्तरन्यास	690-691
वैधर्म्य से अर्थान्तरन्यास	692
यथासङ्ख्य	693-695
विरोधाभास	695-696
विरोधाभास के भेद	696-698
स्वभावोक्ति	699
स्वभावोक्ति के भेद	699-701
व्याजस्तुति	702-703
सहोक्ति	703-706
विनोक्ति	706-707
परिवृत्ति	707-708
भाविक	709-710
काव्यलिङ्ग	710
काव्यलिङ्ग के भेद	710-713
पर्यायोक्त	713-714
उदात्त	714-716
समुच्चय	716
सद्वस्तुयोगसमुच्चय	716-717
असद्वस्तुयोगसमुच्चय	718
सदसद्वस्तुयोगसमुच्चय	718
समुच्चय के अन्य भेद	719-720
पर्याय	720-721
अनुमान	721-723
परिकर	724
द्रव्यपरिकर	725
गुणपरिकर	726
क्रियापरिकर	726-727
जातिपरिकर	727
व्याजोक्ति	727-729
परिसङ्ख्या	729
परिसङ्ख्या के भेद	729-730
कारणमाला	730-732
अन्योन्य	732-733
उत्तर	733-734
सूक्ष्म	735-737
सार	737
असङ्गति	737-738
समाधि	739-740
सम	740-741
विषम	741
विषम के भेद	741-743
अधिक	743
अधिक के भेद	743-745
प्रत्यनीक	745-746
मीलित	746-747
एकावली	748-750
स्मृति	750-752

भ्रान्तिमान्	752-754
प्रतीप	754-755
सामान्य	755-756
विशेष	756
विशेष के भेद	757-759
तद्गुण	759-760
अतद्गुण	760
अतद्गुण के भेद	760-761
व्याघात	762-763
संसृष्टि	763-767
शब्दालङ्कारसंसृष्टि	763
अर्थालङ्कारसंसृष्टि	764
संसृष्टि की पृथगलङ्कारता के सम्बन्ध में पूर्वोत्तरपक्ष	764-767
सङ्कर	768
व्यक्तसङ्कर	768-769
अव्यक्तसङ्कर	769-770
संशयसङ्करालङ्कार	771-772
कतिपय अलङ्कारों का उपमा में अन्तर्भाव	772-777
विभावना में विरोधाभास का अन्तर्भाव	777
समता में यथासङ्ख्य का अन्तर्भाव	778
उपमादोष	779-782
हीनत्व	779
अधिकत्व	780-781
लिङ्गभेद	781
वचनभेद	781
असादृश्य	782
पुष्पिका	783-785
ग्रन्थसमयनिर्देश	786
सूत्रकारिकानुक्रमणिका	787-792
सङ्ख्याविरहितकारिकानुक्रमणिका	793-794
उदाहृतश्लोकानुक्रमाणिका	795-803
सङ्ख्याविरहितश्लोकानुक्रमणिका	803
आकरग्रन्थानुक्रमणिका	804-805
नामानुक्रमणिका	805
मृगाङ्कलेखा नाटिका	807-850
मृगाङ्कलेखायामुदाहृतश्लोकानुक्रमणिका	851-853
परिशिष्ट-1	854-860
परिशिष्ट-2	861-862

संक्षेप

ज जम्मू (श्रीरणवीर संस्कृत रिसर्च इन्स्टिट्यूट रघुनाथ मन्दिर जम्मू में विद्यमान हस्तलिखित प्रति)

अ अलवर (राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान महल चौक अलवर में विद्यमान हस्तलिखित प्रति)

त तिरुपति (ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट श्रीवेङ्कटेश्वर यूनिवर्सिटी तिरुपति में विद्यमान हस्तलिखित प्रति)

भूमिका

साहित्यसुधासिन्धु एक समन्वयात्मक सङ्ग्रहग्रन्थ है। काव्यलक्षण, काव्यभेद, शब्दशक्ति, दोष, गुण और अलङ्कार विषयों पर इस ग्रन्थ में जो विचार मिलते हैं वे प्राय: काव्यप्रकाश और उसके पश्चात् के ध्वन्यादिसम्प्रदायों में प्राप्त होने वाले परिष्कारों पर आश्रित हैं। इस कारण इसे काव्यप्रकाश, उसकी टीकाओं तथा अन्य ग्रन्थों का परिष्कारग्रन्थ कहना काफी दूर तक उचित है। परिष्कार में मूल की अपेक्षा कुछ अधिक सूक्ष्मता और तर्क प्रतितर्कों का समावेश रहता है। साहित्यसुधासिन्धु में भी पाठक इन विशेषताओं को आदि से अन्त तक पाता है।

संस्कृतसाहित्यशास्त्र विश्ववाङ्मय की अनूठी उपलब्धि है। दार्शनिकों की युद्धभूमि इस भारत में ललितकलाओं के मर्मस्पर्श की ललक भी कितनी प्रगाढ रही है कि वह गत 2000 वर्षों से अभी तक अतृप्त है और काव्यकला पर मौलिक चिन्तन देती चली आ रही है। इससे जिस विशाल साहित्यशास्त्र की सृष्टि हुई है उसकी अविच्छिन्नता भी एक विशेषता है। 1500 वर्ष तो इस अविच्छिन्नता की कम से कम आयु है। भरत के बाद तीन या पाँच शतकों तक की रचनाओं को छोड़ कर शेष सभी शतकों की प्रतिनिधि रचनायें सुरक्षित रही हैं और उनमें से मुद्रित होकर जो प्रकाश में आई हैं उनसे उस रूप में अप्रकाशित रचनाओं की सङ्ख्या शायद ही कम हो। साहित्यसुधासिन्धु भी ऐसी ही रचना है। यह ग्रन्थ अब मुद्रित होकर प्रकाश में आया है। भारत के कोने कोने में ऐसी अन्य रचनाएँ भी इसी प्रकार प्रकाशित हो रहीं हैं। आश्चर्य यह है कि ऐसे ग्रन्थ आनुषङ्गिक शोध से ही प्राप्त होते आ रहे हैं। योजनाबद्ध अभियान से और क्या क्या उपलब्धियाँ सम्भव हैं यह सरलता से सोचा जा सकता है।

बीती 15 सदियों ने साहित्यसमीक्षा को जो पाँच या छ: प्रस्थान दिए हैं उनमें सबसे अधिक महत्त्व ध्वनिप्रस्थान को दिया गया। इसमें कवि, काव्य और सामाजिक तीनों को उचित स्थान मिल जाता है। कदाचित् यही हो इसकी सार्वभौम प्रतिष्ठा का मूल। आनन्दवर्धन से चले आये इस प्रस्थान में 300 वर्षों के भीतर पर्याप्त परिवर्तन हुए और मम्मट तक आते आते आनन्दवर्धन का यह प्रस्थान कहीं का कहीं पहुँच

गया। मम्मट ध्वन्यालोककार की अपेक्षा उनके टीकाकार अभिनवगुप्त से अधिक अभिभूत हैं और कुन्तक से भी। उनके समय तक अन्य शास्त्रों में भी पर्याप्त विचारमन्थन हो चुका था। मीमांसा और व्याकरण इस मन्थन के प्रमुख केन्द्र थे। मम्मट ने उन्हें भी अभिनवगुप्त और आनन्दवर्धन के ही समान अपनाया। मम्मट की साहित्यसमीक्षा में विषयों की संश्लिष्टता श्लाघनीय थी किन्तु कुछ विषय सम्बद्ध होते हुए भी विकीर्ण थे तथा कुछ आवश्यक होते हुए भी छूटे हुए थे। परवर्ती शास्त्रज्ञों ने इन न्यूनताओं का अनुभव किया और मम्मट के काव्यप्रकाश को पूरक सामग्री जोड़कर, दुरूह स्थलों को अधिक स्पष्ट कर और वृत्ति में आए आवश्यक विषयों पर कारिकाएँ बना कर संक्षेप या विस्तार के साथ नए सिरे से प्रस्तुत करना चाहा। ऐसे अनेक प्रयत्नों में साहित्यसुधासिन्धु भी एक है। इसके रचयिता काशी के विश्वनाथदेव हैं। इसके विद्वान् सम्पादक तथा भाष्यकार का मत है कि ये रसगङ्गाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ से अधिक नहीं तो 25 वर्ष प्राचीन हैं। इसमें अनेक वाक्य और पूर्वपक्ष ऐसे हैं जो रसगङ्गाधर में भी अक्षरश: उसी रूप में मिलते हैं। यह तो सत्य है कि विश्वनाथदेव ने रसगङ्गाधर नहीं देखा था। क्योंकि उन्होंने रसनिष्पत्तिप्रक्रिया में नव्यों के मत का उल्लेख नहीं किया और न गुणों पर पण्डितराज की जो क्रान्तिपूर्ण तर्कावली है उसे ही। अलङ्कार आदि पर भी वे उतनी गहराई तक नहीं पहुँचते हैं। सम्भवत: उन शतकों और दशकों में साहित्यशास्त्र के अनेक परिष्कार निश्चितपदावली में पण्डितमण्डली में प्रसिद्ध रहे हों जिन्हें सभी ग्रन्थकारों ने समान रूप से यथावत् अपना लिया हो क्योंकि पण्डितराज जगन्नाथ भी विश्वनाथदेव के लक्षणा आदि से सम्बद्ध अनेक पक्षों पर चुप हैं। विश्वनाथदेव का यह ग्रन्थ एक ओर काव्यप्रकाश और दूसरी ओर रसगङ्गाधर के अध्येताओं के लिए साहित्यरत्नाकर के ही समान पूरक सामग्री प्रस्तुत करता है और नवीन विचार भी। नव्यन्याय का उपयोग ग्रन्थकार ने अतीव मात्रा में किया है और विचारों की स्पष्टता पर भी अधिक ध्यान दिया है। यद्यपि मम्मट की मिताक्षरा वाक् से कहीं कहीं ये भी अभिभूत हैं और अध्येता के लिए पहेली बन जाते हैं। सारोपा शुद्धा का स्थल ऐसा ही है। हिन्दी भाष्य में प्रो० रामप्रताप ने उसे स्पष्ट करने का स्तुत्य यत्न किया है।

आचार्य विश्वनाथदेव का काव्यलक्षण रसजन्यचमत्कारवादी साहित्यसमीक्षा पर निर्भर है। वे ब्रह्मानन्दसहोदर परम आनन्द की प्राप्ति के कारण काव्य को काव्य मानते हैं। वे केवल वाक्य को काव्य मानते हैं विश्वनाथ कविराज अर्थात् साहित्यदर्पणकार के समान। वृत्तिभाग में वे शब्दार्थयुग्मतावाद का खण्डन नए सिरे से प्रदर्शित करते हैं और वे पक्ष उठाते हैं जिन्हें पण्डितराज ने भी उठाया है। किन्तु

उनपर उनके निष्कर्ष या तर्क नवीन हैं। पण्डितराज ने प्रत्येकपर्याप्ति और व्यासज्यवृत्ति का उल्लेख तो किया था परन्तु इनको समझाने के लिए अपेक्षित दण्डत्वादि तथा द्वित्वपृथक्त्वादि उदाहरण नहीं दिए थे। विश्वनाथदेव ने ये उदाहरण दिए हैं। किन्तु इन दोनों तर्कों द्वारा पण्डितराज ने जो आपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं विश्वनाथदेव की आपत्तियाँ उनसे भिन्न और सङ्ख्या में न्यून हैं। काव्यलक्षण में दोष, गुण और अलंकार का निवेश पण्डितराज के ही समान विश्वनाथदेव ने भी दिखाये हैं। इस विषय पर उनके विचार त्रिवेणी बन गए हैं और वे अपने ही तर्कों को काटते हुए नई नई विचारधाराएँ प्रस्तुत करते दिखाई देते हैं, किन्तु अन्त में वे जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं वह स्पष्ट कर देता है कि उनका मस्तिष्क वैदिक पूर्वमीमांसक का मस्तिष्क है। कारिका (सा०सु०सि० 1.4) में वे काव्यलक्षण सम्बन्धी सर्वमान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं किन्तु वृत्ति में वे स्वर्गविशेष की उपलब्धि को काव्यत्व का निर्णायक बिन्दु मानते हैं। इस प्रकार का तर्क काव्यलक्षण में साहित्यसुधासिन्धु की ही देन है। स्वर्ग (सुखविशेष और चमत्कार) को काव्य का अन्यतम प्रयोजन अवश्य माना जाता रहा है, साथ ही काव्यत्व का निर्णायक भी। विश्वनाथदेव ने ऐसा स्वीकार कर भोजराज के मत का स्पष्टीकरण किया है। कुल मिलाकर विश्वनाथदेव का काव्यलक्षण विचारबुद्धि को पूरी तरह झकझोरने में उत्तम सफलता प्राप्त करता है और इसके लिए वे स्तुत्य हैं।

विश्वनाथदेव चमत्कारवादी आचार्य हैं। अत्रोभयत्र वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्.. वक्रोक्तिश्च चमत्कारकारिण्युक्तिः (साहित्यसुधासिन्धु 1, 2 वृत्ति) कहकर उन्होंने चमत्कारसम्प्रदाय के प्रति अपनी अभिरुचि प्रदर्शित की है। हमारे मत में भी चमत्कारी बोध का ही नाम काव्य है। (काव्यालङ्कारकारिका 190)

महत्तम उपलब्धि–इस दशक की उपलब्धि यह है कि हम जहाँ से भटके थे वहीं आ पहुँचे। हम अनेक परिभाषाओं में भरतमुनि के समय से ही भटकते आ रहे थे। कभी हमने इसे रस कहा, कभी गुण कहा, कभी उपमादि कहा किन्तु इन दोनों सहस्राब्दियों में हम यह कहते आए कि काव्यत्व के लिए चमत्कार अनिवार्य तत्त्व है और चमत्कार को आनन्द, आह्लाद, रस, शोभा, सौन्दर्यादि अनेक पर्यायों में कहते आए। सद्यः परनिर्वृति को हमने काव्यत्व के लिए अनिवार्य मान रखा है।

साहित्यसुधासिन्धुकार की उर्वरता शब्दशक्ति के प्रसंग में वहाँ और भी स्पष्ट होती है जहाँ वे कहते हैं कि व्यञ्जना ही एकमात्र शब्दशक्ति है और उसका स्वरूप है

अर्थज्ञान कराना। अभिधा और लक्षणा इसी में विलीन हो जाती हैं। उनका अस्तित्व केवल निर्वचन तक सीमित है। शास्त्र में विधिनिषेधादि के लिए जिस अर्थबोधक असन्दिग्ध शब्दव्यापार को अपनाया जाता है उसे अभिधा कह दिया जाता है और उसे ही किंचित् अन्तर के कारण लक्षणा। मूलत: है वह एक ही और यदि उसे अभिधा कहा जा सकता है तो व्यञ्जना कहने में भी कोई हानि नहीं है। कदाचित् मुकुलभट्ट के अभिधावाद की ही यह प्रतिक्रिया है। दोनों आलोचकों का अभिमत है एक ही तथ्य-एकशक्तिवाद। अखण्डशक्तिवाद और तात्पर्यवाद इसी के दूसरे नाम हैं। शब्दव्यापार को गमनादिव्यापार के समान केवल एक क्रिया मानना और उसमें प्रति तृतीय क्षण नश्वरता स्वीकार करना एक प्रकार का वैचारिक अतिरेक था। उद्भट की श्लेषसम्बन्धी धारणा से इस अतिरेक को प्रथम बार चोट पहुँची थी यद्यपि उस समय तक यह इतनी ऊँचाई तक उभर नहीं पाया था। उद्भट ने श्लेष को अर्थ और शब्द का धर्म मानकर भी उसे अलंकार अर्थ का ही माना था, क्योंकि वे प्रति अर्थ शब्द का अन्तर स्वीकार नहीं करते थे। यह अस्वीकृति क्रिया की तृतीयक्षणनिष्ठनश्वरता पर चोट थी क्योंकि शब्द को भी क्रिया के ही समान तृतीय क्षण में नश्वर मान लिया गया था यद्यपि शब्दनित्यतावाद भी अपनी जगह उपस्थित था। क्रिया और शब्द दोनों को तृतीय क्षण से आगे तक विद्यमान न मानने वाले उन महाप्राज्ञ विचारकों ने शब्दशक्तिविचार के क्षेत्र में पक्षपात से काम लिया। उन्होंने क्रिया को तो तृतीयक्षणध्वंसशक्ति मान लिया पर शब्द को नहीं। इसीलिए अभिधा के बाद अर्थबोध कराने वाली शक्ति अभिधा नहीं कही जा सकी। उसे लक्षणा आदि कहा गया किन्तु शब्द में परिवर्तन नहीं आया। अर्थात् एक साथ प्रवाहित दो तृतीयक्षणनिष्ठध्वंसी पदार्थों में से एक तो ध्वस्त हो गया पर दूसरा नहीं। वह विद्यमान ही रहा अत: द्वितीय शक्ति को भी शब्दनिष्ठ स्वीकार किया गया। महिमभट्ट ने इसका विरोध किया और द्वितीय शक्ति या व्यापार को अर्थनिष्ठ स्वीकार किया तथा उसे शब्दशक्ति नहीं माना। किन्तु इस विरोध का खुले मस्तिष्क से स्वागत नहीं किया गया। विश्वनाथदेव भी अपेक्षित दृढ़ता के साथ आगे नहीं आए। महिमभट्ट ने शब्द में शक्ति को स्वीकार ही कैसे किया? शब्द से अर्थ का बोध शब्दज्ञान और अर्थज्ञान के ज्ञानात्मक सम्बन्ध पर निर्भर है यह मम्मट ने भी माना। क्या ज्ञान और शब्द अभिन्न और एक हैं? नहीं तो शब्दज्ञान से होने वाले बोध को शब्दमूलक कैसे माना गया? शब्द में एक भी शक्ति को स्वीकार करना प्रथम असंगति थी जिसने अनेक शक्तिवाद को जन्म दिया। महिमभट्ट उसे नहीं रोक सके, क्योंकि शब्द में शक्ति की स्वीकृति की तार्किक असंगति से वे भी दूर न थे। किन्तु सत्य उनकी प्रज्ञा में टकरा रहा था और वे उसे

व्यक्त करने के लिए अपने अन्तर्मन में कहीं से कोई शास्त्रीय आधार खोजना चाह रहे थे जिसे वे मीमांसकों के दार्शनिक आधिपत्य में पा नहीं सके। विश्वनाथदेव भी उसी प्रकार की अन्तर्व्यथा का अनुभव करते दिखाई देते हैं। प्रसन्नता की बात है कि वे इस दिशा में पण्डितराज से भी और अधिक आगे बढ़े हैं और अनुमान आदि की अनेक विरोधी युक्तियाँ शब्दशक्ति के क्षेत्र में प्रस्तुत करते हैं। मानवमस्तिष्क विविध यात्राओं का आकलन करने हेतु जितनी सूक्ष्मता, निष्पक्षता और असाम्प्रदायिकता की अपेक्षा रखता है आशा है उसे उन विचारकों के तर्काघात नई पीढ़ी में प्रतिष्ठित करेंगे। विश्वनाथदेव इसमें पण्डितराज आदि की अपेक्षा अधिक सहायक सिद्ध होंगे। अतः मैं इस ग्रन्थ की उपलब्धि को उत्तम भविष्य का प्रभातमंगल समझता हूँ।

साहित्यशास्त्र के और भी ऐसे प्रश्न हैं जिनको अभी तक उचित समाधान नहीं मिला है। यदि शब्द काव्य है तो अनुवाद में उसका परिवर्तन हो जाने पर भी काव्य अपरिवर्तित क्यों रहा आता है? गुण और अलङ्कार का अन्तर यदि रस की पृष्ठभूमि पर ही मान्य है तो नीरस काव्य की ललित पदावली को ललित न कह कर परुष कहना भी संभव होना चाहिए। उधर निरलंकार वाक्य को काव्य नहीं कहा जाना चाहिए। इससे स्पष्ट है कि अलङ्कार काव्य का अपरिहार्य धर्म है, किन्तु किस रूप में? इसका निर्णय भोजराज के उक्तित्रयवाद से होता है जिसे मम्मट ध्वनिवाद के दबाव में खुलकर स्वीकार नहीं कर पाते। उधर कुन्तक का 'सालङ्कारस्य काव्यता' अथवा 'अलंकार' का ही काव्यनिष्ठधर्मिता का अवच्छेदक होना या अलंकार के बिना काव्य का काव्यत्व तक न पहुँच पाना भी मम्मट के समक्ष अप्रतिसमाधेय तथ्य के रूप में प्रस्तुत था। आनन्दवर्धन अलंकार को उपमादि तक सीमित मान कर काव्य के अपरिहार्य अंग के रूप में अस्वीकार कर चुके थे।

वामन का सौन्दर्यवाद और अलंकार का सौन्दर्यरूप होना अलंकार की अपरिहार्यतां का वास्तविक कारण था। परवर्ती आलंकारिकों ने इस तथ्य को उजागर नहीं किया और वे 'अलङ्कारसार' कहे जाने वाले उपमा आदि को ही अलङ्कार समझने का अवसर परवर्ती अनेक शतकों को देते आए। उद्भट ने उपमादि को अलंकार न कहकर अलंकारसार कहा था और वामन ने उसी समय अलंकार को सौन्दर्य। यह सत्य है कि सौन्दर्य के बिना काव्य काव्य ही नहीं होगा जिसे वामन सौन्दर्य कहते हैं उसी को आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त और मम्मट आदि चमत्कार। वस्तुतः सौन्दर्य का पर्याय चमत्कार काव्य का अनिवार्य तत्त्व है। यह जिन तत्त्वों से काव्य में आता है वे केवल उपमादि नहीं हैं। वे पदयोजना की सांगीतिक विशेषताएँ भी हैं, जिन्हें वृत्ति

और रीति के नाम से पुकारा गया। उपमा आदि उनसे और अधिक प्रभावकारी तत्त्व हैं, किन्तु कुल मिलाकर हैं तो ये सभी सौन्दर्यजनक। सौन्दर्य ही है अलङ्कार। तब कैसे हो सकता है काव्य अलंकार से रहित और कैसे माना जा सकता है केवल उपमादि को ही सौन्दर्यरूप अलंकार?

भामह ने गुणों की आनुषंगिक रूप से चर्चा की और तीन ही गुणों के नाम उदासीनतापूर्वक लिए। आनन्दवर्धन ने उसी परम्परा में गुणों को केवल तीन संख्या तक सीमित रखा और उनके नियामक तत्त्व के रूप में तीन अन्य गुणों की कल्पना की जिन्हें उन्होंने रसधर्म कहा। किन्तु यह उन्होंने इस अस्पष्टता के साथ कहा कि अभिनवगुप्त आदि ने रसनिष्ठ गुणों के सामने शब्दार्थनिष्ठगुणों का अस्तित्व अस्वीकार कर दिया। तब आनन्दवर्धन के छः गुण केवल तीन रह गए। मम्मट ने भी इन्हीं दोनों आचार्यों के सिद्धान्त दोहराए किन्तु आनन्दवर्धन का षड्गुणवाद त्रिगुणवाद में सिमट कर रह गया। दण्डी और वामन के विदग्ध मस्तिष्क उपेक्षा के गर्त में डाल दिए गए। विपरीत तर्कों द्वारा रचनापक्ष की इन 10 या 20 विशेषताओं को झुठलाया गया। 16वीं-17वीं शती तक यह अतिरेक समीक्षकों को खलने लगा था। फलतः उस समय के ग्रन्थकार 3 गुणों के ही साथ 20 गुणों का भी निरूपण करने लगे थे। पण्डितराज की प्रखरता इस विषय में स्तुत्य है। विश्वनाथदेव भी इस सत्य की ओर उन्मुख और इसके निर्वाह में सचेष्ट हैं। वे तीन रसगुणों के अनन्तर शब्दार्थनिष्ठ माने जाने वाले बीस गुणों का भी निरूपण करते हैं।

दोषाभाव एक जटिल पहेली है। इसे भोजराज ने समझा था और सुलझाया था। मम्मट पूर्ववर्ती आचार्यों के निष्कर्षों को सूत्रबद्ध कर इस विषय में सन्तुष्ट हैं। विश्वनाथदेव उनसे आगे बढ़कर उन्हीं के शब्दों में दोषों का उल्लेख कर उनके लक्षण, परिनिष्ठित लक्षण पदकृत्य तथा दूषकताबीज को भी वृत्ति में देते जाते हैं। वस्तुतः दोषों का इतना सुन्दर सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र कहीं नहीं मिलता है।

शब्दैककाव्यतावादी दण्डी आदि आचार्य वैदिक परम्परा से जुड़कर चलने की चेष्टा करते हैं जिसको कुछ दूर तक अधिक वैज्ञानिक कहा जा सकता है किन्तु शब्दार्थाभेदवाद या शब्दविवर्तवाद के आधार पर व्यवहार को परमार्थ अथवा अव्यवहारिकार्थ से जोड़ कर शब्दार्थयुग्म को काव्य मानने की बात तो निरी भावुकता है। भामह से चली इस भावुकता को वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, भोज, कुन्तक, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, महिमभट्ट, मम्मट और कदाचित् जयदेव ने भी ढोया। परन्तु साहित्यदर्पणकार ने दण्डी का पक्ष पुनः प्रस्तुत किया 800 वर्षों की उक्त भावुकता से

हटाकर। विश्वनाथदेव और पण्डितराज ने भी अपने समय तक चली उक्त दोनों परम्पराओं में से दण्डी की परम्परा को महत्त्व दिया। इससे स्पष्ट है कि ये आचार्य क्रान्ति में विश्वास रखते थे।

सबसे मुख्य प्रश्न है शब्द को काव्य मानने पर शब्द के स्वरूप को निश्चित करने का। मम्मट तो शब्दार्थयुग्मतावादी हैं तथापि वे भी शब्द को काव्य मानते ही हैं। वे शब्द का काव्य में जो स्वरूप सम्भव है उस पर चुप हैं। राजशेखर उसे व्याकरणस्मृतिनिर्णीत ध्वनि कह चुके थे। कदाचित् मम्मट को उनका मत अमान्य न रहा हो। कुन्तक की उदार वाणी शब्द के औचित्य पर ही आनन्दवर्धन के आधार पर टिकी रह गई, उसके स्वरूप पर वह भी चुप रही। पण्डितराज ने शब्द को पर्याप्त महत्त्व दिया किन्तु उन्हें भी इस प्रश्न ने नहीं रोका। कदाचित् यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं था, क्योंकि व्याकरणशास्त्र सर्वसामान्य शास्त्र के रूप में प्रचलित था और उससे शब्द का स्वरूप स्पष्ट था। विश्वनाथदेव भी शब्द का स्वरूप स्पष्ट नहीं करते। अत: यह अध्याय अनावृत नहीं हो पाता। यह इन आचार्यों की साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में न्यूनता है किन्तु सत्य यह है कि शब्द किसी भी स्थिति में उसी प्रकार काव्य नहीं कहा जा सकता जिस प्रकार शरीर को आत्मा नहीं कहा जाता। वस्त्र और शरीर के भेद से यह अन्तर दार्शनिकों ने पर्याप्त गम्भीरता के साथ स्पष्ट कर दिया है और हमने भी अपनी काव्यालङ्कारकारिका में।

परम्परावादी आचार्य के रूप में विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु के द्वारा प्रौढ तथा प्राञ्जल संस्कृत में साहित्य के काव्यपक्ष को काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण की पद्धति से अधिक से अधिक स्पष्ट करना चाहा है अंगोपांगों के भी लक्षण प्रस्तुत करते हुए और विरोधी मतों का भी उचित निराकरण देते हुए। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ साहित्य के अध्येताओं के लिए बहुत ही उपादेय और अपरिहार्य ग्रन्थ है।

साहित्यसुधासिन्धु के इस भाष्य में व्याख्याकार ने मूल को यथाशक्ति स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जिसमें वे पर्याप्त मात्रा में सफल हैं। त्रुटितमूल को उन्होंने स्वयं पूर्ण करने का प्रयत्न किया है और असंगत अंशों को सुधारने का भी। उनके वे संशोधन अवश्य ही लाभकारी हैं। इसका प्रकाशन हमारी बहुत बड़ी उपलब्धि है। इसके लिए प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार के हम सब कृतज्ञ हैं।

मृगाङ्कलेखा नामक नाटिका के भी रचयिता होने से आचार्य विश्वनाथदेव उत्तम कवि भी हैं और अन्य शास्त्रों के निष्णात विद्वान् भी। उनका यह विलक्षण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ साहित्यसुधासिन्धु सामग्रीबहुल है जिसका समग्र बोध आचार्यों के लिए भी

श्रमसाध्य है। साहित्यशास्त्र के ऊपर उल्लिखित पक्षों पर विचार करने हेतु मैं नई पीढ़ी को आमन्त्रित करता हूँ और प्राचीन परम्परा की अधिक प्रौढि के साथ प्रस्तुति के लिए इस ग्रन्थ और इसके हिन्दी भाष्य का स्वागत करता हूँ।

2, महामना कॉलोनी
बी०एच०यू०
वाराणसी
25-8-2017

रेवाप्रसाद द्विवेदी
पूर्वाचार्य, पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्ष
एवं पूर्व प्राच्यविद्यासङ्कायाध्यक्ष
काशी हिन्दूविश्वविद्यालय
वाराणसी

Introduction

Sāhityasudhāsindhu, a notable work on Indian Poetics was written by a South Indian scholar Viśvanāthadeva at Varanasi in 1592 A.D. As this book was found only in a manuscript form it could not attract the attention of scholars, though all aspects of Indian Poetics are dealt with in it. In the year 1978, I brought out a critical edition of this work. Just like Mammaṭa (1050-1100 A.D.) who in his Kāvyaprakāśa has incorporated and presented in a systematic way the views of all his predecessors, this writer also presents before us a complete scheme of poetics incorporating the ideas of all the thinkers in this field upto the end of the 16th century A.D. His keen insight into the theories propounded by his predecessors, his lucid style of explaining and discussing them, his brevity of exposition bringing scattered and vast material into a definite focus and his own creative ability have made his work so important that he can claim to stand in the line of great pioneers of Sanskrit Poetics. As such, this critical edition of Sāhityasudhāsindhu has brought into light an intelligent and meritorious poetician who unfortunately had remained unnoticed.

This book is divided into eight chapters called Taraṅgas dealing with different topics of Sanskrit Poetics. The author has quoted different therories of different scholars regarding various topics and has shown his originality and independence of judgement at various places.

In the first chapter he deals with the purpose of poetry, definition of poetry and three varieties of Kāvya. In this discussion we get a glimpse of his critical outlook.

In the beginning of the chapter, the author has placed the views of former Ācāryas regarding definition of poetry in two categories. Under the first category come those who regard the existence of poetry both in word and sense. He has not mentioned the names of propounders of this view but it seems he is referring indirectly to Bhāmaha, Udbhaṭa, Rudraṭa, Ānandavardhana and Mammaṭa. Under the second category are placed Caṇḍīdāsa and others who consider the existence of poetry in word. He has refuted the first view by arguing thus: If word and sense are both to be regarded as Kāvya then one would have to believe in the existence of two Kāvyas, viz. Śabdakāvya and Arthakāvya, but it is not possible for them to co-exist.

Those who consider poetry in word only have been refuted thus. Delight is obtained not only through words but also through the objects denoted by those words. The objects are created by Brahmā, the creator of the world and not by the poet. Hence, it has been argued by some that poetry which is the creation of the poet should be limited to words only. But here as pointed out by this author, the difficulty is as to whether poetry consists of words which express objects giving delight or poetry is delight-giving object expressed by words. Arguments can be given in favour of both these interpretations.

Viśvanāthadeva has critically examined in detail these theories i.e. (i) either a union of word and sense is called poetry or (ii) the word only can be regarded as poetry. He himself considers that sentence as poetry which is easily understandable and which produces supreme bliss. He uses neither śabda (word) nor śabdārtha (word and sense) but vākya (sentence) for giving his definition of poetry. Here the word vākya is significant and reminds us of the definition given by the other important poetician Viśvanātha, who has propounded that poetry consists in sentence (vākya). According to him, a sentence is a collection of words

possessing compatibility, expectency and juxtaposition (or proximity). A sentence without having these three qualities can not express its complete sense. Hence, this use of the vākya for defining the nature of poetry made by Viśvanāthadeva establishes that both word and sense in their harmonious and unbroken combination should be regarded as poetry.

The author seems to be a follower of the view of Bhojarāja in which the former includes the word Rasa and he has laid more stress on the attainment of the highest delight which is the main purpose of the poetry.[1] Here in his statement he uses the word Akhaṇḍa which may have threefold meaning: (1) Union of the word and sence (2) Synthesis of Vibhāvas (Excitants) Anubhāvas (Ensuants) and Vyabhicāribhāvas (Variants) with Sthāyibhāvas (permanent emotions) (3) Union of knowledge and supreme delight. Thus he advocates that real poetry is a combination of these aforesaid elements and it exists for giving the highest bliss. His own definition of poetry is as follows: The sentence, mere listening of which gives birth to the highest delight akin to the taste of ultimate reality, is called poetry[2]. The use of the term Brahmānandasahodara Paramānanda (The highest delight like *summum bonum*) in this definition clearly means that poetry does not give pleasure of an ordinary type but renders an extraordinary type of pleasure comparable to the highest bliss. Here the words स्वर्गविशेष and परमानन्द both are synonyms

---

1. (क) अदोषं .... स्वर्गं च विन्दति।। सरस्वतीकण्ठाभरण 1,2
(ख) वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तदेव लक्षणमस्तु किमनेनानुगतेन लक्षणेन।
सा०सु०सि० 1, 4 वृत्ति

2. जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।। तत्रैव 1,4

of रमणीय and चमत्कार used by Paṇḍitarāja Jagannātha[1]. Here they are right in laying more stress on the highest delight which is the main purpose of poetry.

Viśvanāthadeva does not favour Mammaṭa's threefold division of poetry into the best, the mediocre and the lowest, because Rasa etc. are present in all of them and the Rasa being the highest delight cannot be described as best, mediocre or the lowest.[2] Leaving the base of ध्वनि he presents threefold poetry on the basis of चमत्कार giving its examples. He also asserts that रसध्वनि, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार and वक्रोक्ति are the हेतु (cause) of चमत्कार।[3] To sum up this discussion we can say चमत्कारसत्त्वे काव्यसत्त्वं चमत्काराभावे काव्याभावः। It proves that he is staunch supporter of चमत्कार.

In the second chapter Viśvanāthadeva takes up the definition of the word and its three forms: expressive (Vācaka) indicative (Lakṣaka) and suggestive (Vyañjaka). He further gives the definition of sense (Artha) and its three varieties: expressed sense (Vācya) indicated sense (Lakṣya) and suggested sense (Vyaṅgya), definitions of the three varieties of the function (Vyāpāra) of word: denotation (Abhidhā), indication (Lakṣaṇā) and suggestion (Vyañjanā). He explains clearly that one single word can serve at different

---

1. (क) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।
   (ख) स्वविशिष्ट.....चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।
   रसगङ्गाधर, प्रथमानन काव्यलक्षण
   (ग) चमत्कृतिरानन्दविशेषः। वही द्वितीय आनन उपमानिरूपणप्रकरण
   (घ) इह खलु सामाजिकपरीक्षितमेव काव्यं स्वर्गापवर्गादिजनकमिति तत्परीक्षार्थमयमारम्भः।
   साहित्यसुधासिन्धु, 3 वृत्ति
2. वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः। तथा हि एतेषु त्रिषु रसादिकं न प्रतीयते प्रतीयते वा। नाद्यः, तदा काव्यत्वविरहापत्तेः। अथ प्रतीयते तदा कथं ध्वनित्वादिना विभागः?
   सा० सि० सु० 1,7 वृत्ति
3. (क) उत्तमकाव्य, मध्यमकाव्य, चित्रकाव्य। वही, 5-7
   (ख) वही 1,7 तथा वृत्ति।

times as Vācaka, Lakṣaka and Vyañjaka. So actually it is the power of a word which is threefold and not the word itself. For example, in a sentence like Gaṅgāyām Ghoṣaḥ=House on the Gaṅgā, the word Gaṅgā literally means a particular stream of water. Here the word 'Gaṅgā' is expressive (Vācaka). At other place where this literal meaning is found unsuitable we understand by it the river bank by means of indication (Lakṣaṇā). Here the word 'Gaṅgā' is indicative (Lskṣaka). As the word 'Gaṅgā' here is used with a special motive of conveying coolness and purity, this word is also suggestive (Vyañjaka). The one and the same word 'Gaṅgā', is expressive when denoting literal meaning of stream of water, is indicative when indicating the secondary meaning river bank and is suggestive when suggesting the third meaning of coolness and purity.[1]

Discussing Vācaka Śabda and its power Abhidhā, Viśvanāthadeva has raised the question of Saṅketa or convention. The problem is, does the meaning of a word refer to universals (jāti) or to a particular individual (Vyakti)? Like other rhetoricians he also refutes Mīmāṁsakas, according to whom, word signifies the jāti alone primarily. His standpoint in this matter is that although a word signifies primarily universals but in certain cases it does signify individual too. The word Ākāśa (the sky) refers to an individual object and does not belong to universals (Jāti).[2]

While discussing Lakṣaṇā (indication) he gives four divisions of the same and considers the classification into Śuddhā Lakṣaṇā (pure indication) and Gauṇī Lakṣaṇā

1. अत्रोपाधीनामेव त्रित्वं न तु उपाधेयस्य अन्यथा एकस्यैव गङ्गाशब्दस्य त्रिरूपत्वापत्तेः।
तत्रैव 2, 10 वृत्तिः

2. आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां जातावेवाभिधा मता।
ईश्वरेच्छातिरिक्ता वा सेत्यत्रापि न नो ग्रहः।। सा०सु०सि० 2,12 वृत्ति

(qualitative indication) as futile because the element of similarity is present in both of them.[1]

Further, like other predecessors of Dhvani and Rasa schools he shows an example of suggestive words containing suggested meaning. Here in the verse त्वं क्वापि गत्वा वस (you should go from here and live elsewhere) these words convey this second meaning that you should stay here with me to enjoy yourself in my company.[2]

Before presenting his view-point in favour of Dhvani theory he quotes Mīmāṁsakas. The action of the word is like that of an arrow, its reach being prolonged further and further, so that in whatever sense a word may be used, that is the meaning expressed or denoted by it.[3]

Thus even in the case of the verse Niḥśeṣacyuta-candanam etc. the affirmation (you had gone to enjoy yourself in my lover's company it has been held to be suggested meaning) is what is really only expressed or denoted by it.[4]

Viśvanāthadeva refutes this theory and argues thus— every direction is said to have its sense in the injunction of that particular factor only which forms its direct objective. So that the sense or import can apply only to what is directly expressed by the word actually used and not to anything and everything that may be implied (by it) otherwise the expression the former man is running would have to be

---

1. वस्तुतस्तु चतुर्भेदैव लक्षणा। तथाहि शुद्धभेदेष्वपि गौणीत्वस्यैवाङ्गीकारात्। आयुर्घृतमिति गङ्गायां घोष इत्यादि च तादृशशैत्यपावनत्वादिगुणयोगादेवापरार्थबोधकमिति नव्याः। वही 2,18 वृत्ति
2. एतस्याश्चतुरो न चास्ति रमणो वृद्धोऽपरस्याः पुन-
   र्ग्रस्तश्चापि परं चिरन्तनरुजाऽन्यस्याः परस्याः शिशुः।
   एतस्या बहिरेव तिष्ठति कृषिव्यापारवान् किं पुनः
   स्थानं पश्यसि नैव वेत्सि पथिक त्वं क्वापि गत्वा वस।।
   अत्र वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्येन तत्रैवावस्थानं ध्वन्यते। वही 2,16 तथा वृत्ति
3. ये त्वभिदधति सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार इति। काव्यप्रकाश 5, 47 वृत्ति
4. विधिरेव वाच्य इति। काव्यप्रकाश 5,47 वृत्ति

regarded as having its sense applying to the notion of the latter also.[1] So the affirmative sense of the said verse cannot be regarded as word meaning, it must be regarded as the object of suggestion.

Further, he presents different contentions of Lakṣaṇāvāda and Anumānavāda regarding Vyañjanā and refutes them producing some new arguments.[2]

In the third chapter are described the various sub-divisions of Dhvani (suggestion), definitions of Vibhāva (Excitant), Anubhāva (Ensuant), Vyabhicāribhāva (Varient), Sthāyibhāva (permanent emotion), the form of Rasa (sentiment) and the procedure of Rasāsvāda (taste for poetical composition)[3], the theory of Sādhāraṇīkaraṇa (universalization), definitions of all Rasas and Bhāvas along with illustrations. He also shows distinction between a sentence full of sentiment and a sentence without sentiment like this: स्त्री पश्यति (The woman beholds). This sentence does not appear to appeal because it does not convey any fine sentiment. On the other hand, कान्ता विलोकयति ('the charming and beautiful lady looks on amorously') is a far better composition as in it, erotic sentiment is obvious.[4]

---

1. (क) केचित्तु यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायाद् व्यङ्ग्येऽर्थे शक्तिरेव।

   सा०सु०सि० 2,19 वृत्ति

   (ख) तत्र नाद्यः। यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इत्यस्यायमर्थः–यदंशे विधेयत्वं तत्रैव तात्पर्यं न तु शब्दश्रवणानन्तरं प्रतीतमात्रे। ...... पूर्वो धावतीत्यत्रापरार्थेऽपि शब्दप्रामाण्यं स्यात्। वही 12, 19 वृत्ति

2. परे तु लक्षणयैव व्यञ्जनान्यथासिद्धिः। तार्किकास्त्वनुमानेनेति।.......नापरः। गङ्गायां घोष इत्यत्र प्रवाहे बाधात् तीरे लक्षणा।...........लक्षणाद्वयाङ्गीकारे तु यया शैत्यपावनत्वाद्युपस्थितिः सैव व्यञ्जना।............न च प्रभुनिदेशाद्यनुपाधिकत्वेन भ्रमणं विशेषणीयमिति क्व व्यभिचार इति वाच्यम्, एतादृशस्य साध्यस्य पद्यादनुपस्थितेः। यावदुपस्थितं तावद् व्यभिचार्येव।

   वही 2,19 वृत्ति

3. साधारण्यं च यत्किञ्चित्सम्बन्धविशेषसम्बन्धित्वेनाज्ञायमानत्वे सति ज्ञायमानत्वम्।

   तत्रैव 3,27 वृत्तिः

4. पश्यति स्त्रीति वाक्ये हि न रसः प्रतिभासते।
   विलोकयति कान्तेति व्यक्तमेव प्रतीयते।। सा०सु०सि० 3,27 वृत्ति

In the fourth chapter are defined and illustrated the eight varieties of Guṇībhūtavyaṅgya (subordinated suggestion). In the beginning of the fifth chapter he asserts that it is Doṣa (flaw) which mars all beauty (चमत्कार) of a poem.[1] In this, chapter he deals with sixteen flaws occurring in word and sentence. The writer has also shown the inclusion of many flaws into others and thus has reduced the total number of flaws, for example, the flaws Vyāhata (contradictory or incosistent) Duṣkramatva (irregular) Grāmya (vulgar) Prakāśitaviruddha (opposed to popular notions) and Anucitārtha (improper signification) can be put under one head Anucitārtha.[2] This treatment of flaws is definitely superior to that of Mammaṭa and has some novelty.

The sixth chapter covers the following topics—definition of Guṇa[3] (excellence) and its three varieties with their definitions and illustrations, and three varieties of style. The difference between Guṇa (excellence) and Alaṅkāra (figure of speech)[4], definitions and illustrations of ten excellences of words and ten excellences of sense. In the end, he says that ten excellences like Śleṣa (smoothness) etc. cannot be included in three excellences namely, Mādhurya (sweetness) Ojas (floridity) and Prasāda (lucidity).[5] In the seventh chapter occur six Śabdālaṅkāras (verbal figures of speech) with their

---

1. येषां ज्ञानाच्चमत्कारो न सम्यगुपजायते।
सालङ्कारगुणेऽप्यत्र ते दोषा: परिकीर्तिता:।।
दृष्टो हि लोके सगुणोऽपि सालङ्कारोऽपि सदोषत्वेन ज्ञातो न यथा चमत्करोति तथा काव्यमपि।
वही 5,81-82 वृत्ति
2. इति प्राचां दोषास्ते उक्तदोषेष्वन्तर्भवन्तीति न पृथक् प्रतिपादिता:। व्याहतस्य अनुचितार्थेऽन्तर्भाव:। वही 5, 124 वृत्ति
3. रसत्वसमानाधिकरणत्वे सति उत्कर्षहेतुत्वं गुणत्वम्। वही 6,135
4. ननु कथं तर्ह्यलङ्काराद् गुणानां भेद इति चेत्, उच्यते। गुणविशिष्टकाव्यशोभाकारिणो ऽलङ्कारा:। ओज:प्रसादादीनां तु केवलानामस्ति शोभाकरत्वम्। वही 6, 143 वृत्ति
5. यत्तु कैश्चिदुक्तम्-केचिदन्तर्भवन्त्येष्विति तन्न। शब्दार्थधर्माणां रसधर्मेषु तेष्वन्तर्भावाभावात्।
सा०सु०सि० 6, 164 वृत्ति

definitions and illustrations. In the eighth chapter he enumerates sixtyone Arthālaṅkāras (figures of speech) alongwith their definitions and illustrations, many of which, however, are shown to be incorporated into others for example, Ananvaya (non-connection) and Upameyopamā (reciprocal comparison) Śleṣa (paronomasia) are included in Upamā.[1] In the end of this chapter are mentioned six kinds of flaws of simile (upamā) with their definitions and illustrations. This treatment of both kinds of alaṅkāras contains some novelty as well as originality.

This brief summary of the contents of this work indicates how it covers all important aspects of Indian Poetics. It needs no justification to say that it requires the proper attention of the learned scholars. I have brought out this critical edition of the work alongwith Hindi translation and detailed notes. It is for the scholars, now to see this work in proper perspective and to give Viśvanāthadeva his appropriate and rightful place amongst the exponents of Indian Poetics. Let me hope that this work would be studied and enjoyed by the scholars for all times to come as wished by the author himself.[2]

Ram Pratap

---

1. वस्तुतस्तु उपमाविशेषा एव सम्भवन्ति केचिदलङ्कारा:। तथाहि–अनन्वय उपमेयोपमा चोपमातो नातिरिच्येते। सा०सु०सि० 8, 284 वृत्ति

2. यावत्पाटीरपङ्कद्रवमधुरसुधापूरसेकैस्त्रिलोकी–
मुच्चै: प्रीणाति विप्रप्रणतिनुतपद: पार्वण: शीतभानु:।
वेगादम्भोजजृम्भावितरणरसिका भानवो भान्ति यावद्
भानोस्तावद् विधत्तामयमपि च सुधासिन्धुरानन्दकन्दम्।। वही 8, 291

विषयावतरणिका

आचार्य विश्वनाथदेव का परिचय

I. कृतित्व

संस्कृतकाव्यशास्त्र के क्षेत्र में आचार्य भरत मुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक अनेक आचार्यों की एक लम्बी परम्परा है। इसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में भी भास, कालिदासादि अनेक प्रसिद्ध नाटककारों की रचनाओं ने संस्कृतसाहित्य को समृद्ध किया है। लगभग 2000 वर्षों की इस सुदीर्घ परम्परा में कई ऐसे साधकों के नाम प्रकाश में नहीं आ सके हैं जिनकी रचनायें महत्त्वपूर्ण होते हुए भी अज्ञात रह गई हैं। इन्हीं अज्ञात महती विभूतियों में एक नाम आचार्य विश्वनाथदेव का भी है। इनके द्वारा विरचित तीन कृतियाँ हैं–1. चित्रमीमांसा, 2. साहित्यसुधासिन्धु तथा 3. मृगाङ्कलेखा नाटिका। चित्रमीमांसा चित्रालङ्कारों की रचना है। इसकी कोई भी हस्तलिखित प्रतिलिपि अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। इसका उल्लेख साहित्यसुधासिन्धु की सातवीं तरङ्ग में चित्रकाव्य के प्रसङ्ग में आचार्य विश्वनाथदेव ने इस प्रकार किया है–चित्रान्तरोदाहरणान्यस्मत्कृतचित्रमीमांसायां द्रष्टव्यानि (साहित्यसुधासिन्धु 7, 279 वृत्तिभाग)।

विश्वनाथदेव ने मृगाङ्कलेखा नाम की स्वरचित नाटिका में अपना परिचय सूत्रधार और पारिपार्श्विक के मुख से दिलवाया है। सूत्रधार प्रथम अङ्क की प्रस्तावना (पृ० 5) में कह रहा है–

सूत्र०–(स्मृतिमभिनीय सहर्षम्) नन्विमामेव गोदावरीतीरस्थपवित्रधारा-सुरनगरनिवासिनः सम्प्रति विरचितवाराणसीवसतेस्त्रिमल्लदेवतनूजस्य विश्वनाथशर्मणः कृतिं मृगाङ्कलेखाभिधानां नाटिकामभिनेतुमुद्युक्त एवास्मि।

पारिपार्श्विकः–(प्रविश्य) भाव! अनतिप्रसिद्धस्य तस्यैव दाक्षिणात्यस्य कवेः कृतौ प्राचीनप्रबन्धानवधूय पर्युत्सुकः सामाजिकजनः।

उपर्युक्त वचनों में कवि का जो परिचय है उसे पढ़कर यह प्रतीत हो जाता है कि आचार्य विश्वनाथदेव का जन्म दक्षिण भारत में गोदावरी नदी के किनारे पर स्थित

धारासुर नगर में हुआ था। इनके पिता का नाम त्रिमलदेव था। बाद में ये वाराणसी में रहने लगे थे। साहित्यसुधासिन्धु में भी इन्होंने अपना परिचय इस प्रकार दिया है-

आस्ते धारासुराख्यं नगरमतिलसत्केशवोद्दामधाम-
प्रभ्राजत्कीर्तिपूरं विलसति सविधे यस्य गोदावरी सा।
तत्रत्योऽनन्तदेवात्मज इह वसति मुक्तिपुर्यां सवर्यां
तस्याङ्गजस्योल्लसति कृतिरियं विश्वनाथाभिधस्य।।

सा० 8, 294

प्रबलकर्कशतर्कविचारणोल्लसितकाव्यसुलक्षणलक्षिता ।
त्रिमलदेवतनूजविनिर्मितिर्मतिमतां वितनोतु मनोमुदम्।।

सा० 8, 295

इति त्रिमलदेवतनयविश्वनाथविरचिते साहित्यसुधासिन्धौ अर्थालङ्कारमार्जनं नामाष्टमस्तरङ्गः।

ग्रन्थकार के अपने इस वचन के अनुसार गोदावरी के किनारे बसे हुए धारासुर नामक नगर में अनन्तदेव नामक विद्वान् पण्डित रहते थे। दक्षिणदेश में जन्म लेकर उनके पुत्र त्रिमलदेव ने वाराणसी में रहना प्रारम्भ किया। इन त्रिमलदेव के पुत्र विश्वनाथ ने इस साहित्यसुधासिन्धु नाम के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की।

II. जीवनकाल

मृगाङ्कलेखा तथा साहित्यसुधासिन्धु में आचार्य विश्वनाथदेव का इतना ही परिचय मिलता है। इन दोनों ग्रन्थों का रचनाकाल निश्चित है। साहित्यसुधासिन्धु का रचनाकाल सन् 1592 (संवत् 1649) और मृगाङ्कलेखा का निर्माणकाल सन् 1607 (संवत् 1664) है। साहित्यसुधासिन्धु जैसी परिपक्व रचना आचार्य विश्वनाथदेव ने 40 वर्ष की अवस्था में लिखी होगी यह अनुमान किया जा सकता है। इस लिए इनके जन्म की कल्पना सन् 1552 ई0 के आसपास की जा सकती है। मृगाङ्कलेखा को इन्होंने साहित्यसुधासिन्धु से 15 वर्ष बाद लिखा है। इस कारण यदि इनकी आयु इतनी ही मानी जाय तो इनका समय सन् 1552 से सन् 1607 तक माना जा सकता है। यदि इसके बाद का अवशिष्ट जीवन 40 वर्ष का और माना जाय तो इनका अनुमानित जीवनकाल सन् 1552 से सन् 1647 के बीच में माना जा सकता है। यदि यह कल्पना की जाये कि जैसे आचार्य शङ्कर सरीखे विद्वान् ने अल्पायु में ही प्रौढ ग्रन्थों की रचना कर ली थी उसी प्रकार आचार्य विश्वनादेव ने 20 वर्ष की अल्पायु

में यह ग्रन्थ लिख लिया होगा तब इनका जन्मकाल सन् 1572 ई0 में माना जा सकता है। इस कल्पना के आधार पर इनका समय सन् 1572 से सन् 1667 के मध्य में निर्धारित किया जा सकता है।

उत्तर भारत में सन् 1530 से सन् 1556 तक हुमायूँ, सन् 1556 से सन् 1605 तक अकबर, सन् 1605 से सन् 1627 तक जहाँगीर और सन् 1627 से सन् 1658 तक शाहजहां ने शासन किया था। इस कारण विश्वनाथदेव को हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ का समकालीन माना जा सकता है। यदि इनका जन्मकाल सन् 1572 के आसपास माना जाय और कुल आयु 95 वर्ष के लगभग मानी जाय तो इनके जीवन के अन्तिम कुछ वर्ष सन् 1658 में भारत के शासन की बागडोर सम्भालने वाले औरङ्ग़ज़ेब के शासन काल में भी बीते होंगे।

III. विश्वनाथदेव नाम का औचित्य

विश्वनाथ, विश्वनाथशर्मा तथा विश्वनाथदेव ये तीनों ही नाम इन्होंने अपने लिए प्रयुक्त किये हैं। मृगाङ्कलेखा नाटिका की प्रस्तावना (पृ० 5) में इन्होंने– त्रिमल्लदेवतनूजस्य विश्वनाथशर्मण: कृतिं–यह कहकर अपने लिए विश्वनाथशर्मा इस नाम को बताया है मृगाङ्कलेखा नाटिका के चतुर्थ अङ्क के अन्त में समाप्तेयं मृगाङ्कलेखाभिधाना नाटिका कृतिरियं विश्वनाथदेवकवे: और साहित्यसुधासिन्धु की अन्तिम अष्टम तरङ्ग की पुष्पिका में कृतिरियं विश्वनाथस्य–यह लिखा हुआ है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि कवि को अपने तीनों ही नाम प्रिय थे।

अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि साहित्यसुधासिन्धु के लेखक के रूप में कौन से नाम को स्वीकार किया जाय? अधोनिर्दिष्ट आधारों पर तो इनको विश्वनाथदेव नाम से मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत हो रहा है।

1. साहित्यसुधासिन्धु की आठ तरङ्गों की पुष्पिकाओं में व्यवहृत नामों की तालिका इस प्रकार है–

तरङ्ग सङ्ख्या	ग्रन्थकार का नाम
प्रथम	कोई नाम नहीं
द्वितीय	कोई नाम नहीं
तृतीय	विश्वनाथदेव
चतुर्थ	विश्वनाथ
पञ्चम	विश्वनाथ

तरङ्ग सङ्ख्या	**ग्रन्थकार का नाम**
षष्ठ	विश्वनाथदेव
सप्तम	विश्वनाथदेव
अष्टम	विश्वनाथ
अष्टम	विश्वनाथ
अष्टम	विश्वनाथ
अष्टम	विश्वनाथ

क्योंकि आचार्य ने यहाँ अपने लिए विश्वनाथ और विश्वनाथदेव दोनों ही नाम प्रयुक्त किये हैं इस कारण ये दोनों ही नाम इनके लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। किन्तु इन्होंने अष्टम तरङ्ग की पुष्पिका में अपने पितामह का नाम अनन्तदेव तथा पिता का नाम त्रिमलदेव बताया हुआ है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि इनके कुल में देवपद अपने नामों के अन्त में लगाया जाता था। इनके वंश में आगे जाकर न्यायसार के प्रणेता माधवदेव हुए। इनका समय 18वाँ विक्रमाब्द माना जाता है। ये भी गोदावरी के तीर पर स्थित धारासुर नगर के निवासी थे। इस कारण दादा, पिता तथा प्रपौत्रों के नामों के अनुकरण पर इनका नाम विश्वनाथदेव मानना अधिक उचित प्रतीत होता है। वाराणसी के भगवान् विश्वनाथ (शिव) के पवित्र नाम पर इनका विश्वनाथ या विश्वनाथदेव नाम रखा गया था।

2. साहित्यसुधासिन्धु की भाँति मृगाङ्कलेखा के चतुर्थ अङ्क की पुष्पिका में विश्वनाथदेव नाम मिलता है।

3. साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ तथा इसी नाम वाले अन्य आचार्यों से पार्थक्य बनाये रखने के लिए भी विश्वनाथदेव नाम को चुनना समीचीन प्रतीत होता है। उपरिलिखित आधारों पर प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन करते समय ग्रन्थकार का नाम विश्वनाथदेव ही निर्धारित किया है।

2. मृगाङ्कलेखा का रचनाकाल और परिचय

'मृगाङ्कलेखा नाटिका' के उपोद्घात (पृ० 1) में रचनाकाल के सम्बन्ध में लिखा हुआ है–

अस्य समयश्च विक्रमशतकस्य सप्तदशं शतकम्। अस्माभिरुपलब्धे प्रायो ग्रन्थकर्त्रैव स्वयंलिखिते प्रकृतनाटिकापुस्तके संवत् 1664 इति समयो निर्दिष्टो वर्तते।

इसके अनुसार यह स्पष्ट है कि यह नाटिका संवत् 1664 में लिखी गई थी जिसका सन् 1607 बन जाता है। क्योंकि साहित्यसुधासिन्धु के बनाने के 15 वर्ष बाद मृगाङ्कलेखा नाटिका लिखी गई है इस कारण मृगाङ्कलेखा को बनाते समय आचार्य विश्वनाथदेव की आयु कम से कम 55 वर्ष की होनी चाहिए। अपनी इस रचना के बाद कम से कम 10 वर्ष तक तो इनके जीवित रहने की सम्भावना की जा सकती है।

इस नाटिका का प्रकाशन प्रिंसेस आफ वेल्स सरस्वती भवन टैक्स्ट नं० 26 के अन्तर्गत सन् 1931 में वाराणसी में हुआ है। काशीस्थ राजकीय संस्कृत पुस्तकालय सरस्वतीभवन के अध्यक्ष साहित्याचार्य नारायणशास्त्री खिस्ते ने इसका सम्पादन किया है और इसके प्रधान सम्पादक महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज हैं। इस ग्रन्थ के उपोद्घात में यह नहीं बताया गया है कि मृगाङ्कलेखा की कौनसी हस्तलिखित प्रति का सम्पादकों ने उपयोग किया है।

इस नाटिका में चार अङ्क हैं। इसकी कथा का नायक कलिङ्ग देश का स्वामी कर्पूरतिलक नामक राजा है। ललितकलाप्रेमी होने के कारण यह धीरललित नायक है। इसकी प्रधान रानी विलासवती है और प्रधानमन्त्री रत्नचूड है। यह प्रधानमन्त्री कामरूपेश्वर की कन्या मृगाङ्कलेखा का विवाह अपने स्वामी के साथ इस लिए कराना चाहता है क्योंकि किसी सिद्ध ने उसे यह बता दिया है कि इस कन्या का विवाह जिसके साथ होगा वह सार्वभौमपति अर्थात् चक्रवर्ती राजा होगा। प्रधानमन्त्री के प्रयत्नों से सिद्धयोगिनी नामक परिव्राजिका मृगाङ्कलेखा को किसी प्रकार राजा के अन्तःपुर में पहुँचा देती है। वहाँ इस कन्या को देखकर राजा की इसके प्रति अनुरक्ति हो जाती है और दोनों में प्रेम बढ़ने लगता है। इसी बीच दानवों का राजा शङ्खपाल मृगाङ्कलेखा का अपहरण करके श्मशान के कालिकायतन में बलि देने के लिए उसको समर्पित कर देता है। मृगाङ्कलेखा के अपहरण से क्षुब्धचित्त राजा उन्मत्त होकर अपने प्राणत्याग की इच्छा से श्मशान में चला जाता है। वहाँ वह इस दानवेश्वर को मारकर मृगाङ्कलेखा को लेकर लौट आता है। इसी समय मृगाङ्कलेखा का पिता कामरूपेश्वर कलिङ्गाधिपति कर्पूरतिलक के समीप आ जाता है और वह अपनी पुत्री मृगाङ्कलेखा को पहचान लेता है। इस अवसर पर सब लोग प्रसन्न हो जाते हैं और मृगाङ्कलेखा का विवाह कर्पूरतिलक के साथ हो जाता है। इस नाटिका की कथावस्तु किसी किसी अंश में रत्नावली, मालविकाग्निमित्र, मालतीमाधव, कर्पूरमञ्जरी आदि रूपकों के साथ मिलती है।

मृगाङ्कलेखा का नाम और कथा बहुत प्राचीन है। 10वीं शताब्दी के आचार्य

राजशेखर ने भी अपनी कर्पूरमञ्जरी में प्राकृतभाषा में नाटकों को लिखने की परिपाटी को अच्छी बताकर मृगाङ्कलेखा की कथा को पुराना बताया है। वे कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना (प्रथम जवनिकान्तर) में पारिपार्श्विक और सूत्रधार के मुख से कहलवाते हैं–

पारिपार्श्विकः–

परुषाः संस्कृतग्रन्थाः प्राकृतग्रन्थोऽपि भवति सुकुमारः।
पुरुषमहिलानां यावदिहान्तरं तावत् तेषु।।

कर्पूरमञ्जरी प्रस्तावना, श्लोक 8

सूत्रधारः– **तत आत्मा किं न वर्णितस्तेन?**

पारिपार्श्विकः–

सुणु बण्णिदो ज्जेब्ब तक्कालकइणं मज्झम्मि
मि अंकलेहा कहा आरेण अबराइएण।
[शृणु वर्णित एव तत्कालकवीनां मध्ये मृगाङ्कलेखा-
कथाकारेण अपरायितेन (अपराजितेन)]

राजा अपराजितवर्मा पल्लववंश में 7वीं शती के अन्तिम भाग से लेकर 895 ई0 के मध्य में उत्पन्न हुए थे (वाचस्पति गैरोला–संस्कृतसाहित्य का इतिहास, पृ० 596)।

इस प्रकार मृगाङ्कलेखा की कथा को आधार बनाकर नाट्यप्रणयन की परम्परा 7वीं शती से 17वीं शती तक अर्थात् महाकवि विश्वनाथदेव तक रही थी।

मृगाङ्कलेखा यद्यपि छोटी सी नाटिका है किन्तु उसमें काव्य के विभिन्न तत्त्वों का सर्वाङ्गीण समावेश किया गया है।

I अधोलिखित श्लोकों में विभिन्न रस हैं–

(1) मङ्गलाचरण के इस श्लोक में पार्वती के पति महादेव को परस्परविरोधी गुणों को धारण करने वाला बताकर उनके प्रति कवि ने अपनी भक्त्यञ्जलि समर्पित की है। यहाँ विरोधालङ्कार और भक्तिरस है।

वामां वामाङ्गभागे कलयति मदनप्लोषकीर्तिं च धत्ते
सर्वैश्वर्याकुलोऽपि प्रकटयति करे नारमेकं कपालम्।
दाता मुक्ते र्गरीयान् भवति स भुवने यः स्वयं चाविमुक्तः
पायान्मायादुरूहो गिरिवरतनयावल्लभो भूतनाथः।।

मृ० 1, 2

2. भयानकरसानुप्राणित कविनिष्ठदेवविषयकरतिभाव के इस उदाहरण में भावानुरूप भाषा का प्रयोग किया गया है। प्रथम तीन पङ्क्तियों की भाषा समासबहुला और अन्तिम पङ्क्ति की भाषा सरल है–

दूरादङ्घ्रिप्रहारप्रबलभरनतप्रौढदर्वीफणीन्द्र-
श्वासोद्रेकप्रशुष्यज्जलधिजलधरत्रस्तपाठीनकूटम् ।
गङ्गारिङ्गत्तरङ्गावलिवलितजटाक्षालनं शूलपाणेः
पायादायासखेदाज्जगदिदमखिलं ताण्डवाडम्बरं तत्।।

मृ० 1, 1

3. मृगाङ्कलेखा के वियोग में उन्मादावस्था को प्राप्त कर्पूरतिलक की दशा का वर्णन विप्रलम्भशृङ्गार का उदाहरण है–

वारं वारं हसति किमपि श्वासमञ्चत्युदारं
स्फाराम्भोभिः स्थगयति दृशौ स्रस्तकेशोत्तरीयः।
हारं द्वेष्टि श्रयति विजने पङ्कजश्रेणिशय्यां
पीयूषांशुं सपदि मनुते तिग्मरश्मिप्रतापम्।।

मृ० 1,15

4. मृगाङ्कलेखा का यह अतिशयोक्तिगर्भित सौन्दर्यवर्णन संयोगशृङ्गार रस की परापुष्टि करने में समर्थ है।

इन्दुं निन्दति पार्वणं मुखशशी मीनाङ्गनां लोचने
धम्मिलोऽपि कलिन्दशैलतनयां दन्तावली मौक्तिकम्।
किञ्चान्यत्कमनीयकाञ्चनरुचस्तस्याः स वृद्धिङ्गतो
लावण्याम्बुधिरन्धयत्यनुदिनं यूनां मनःसैकतम्।।

मृ० 1, 22

5. मृगाङ्कलेखा को अपने सच्चे प्रेम का विश्वास दिलाने वाले कर्पूरतिलक की यह उक्ति शृङ्गार रस से आनन्दविभोर कर देती है।

त्वं सर्वस्वं त्वमसि हृदयं जीवितं त्वं मदीयं
त्वं मे प्राणाः कमलनयने मामकीनं मनस्त्त्वम्।
त्वं जानीषे यदि सुवदने सोपचारं वचो मे
चेतःसाक्षी भवति भगवानावयोः कामदेवः।।

मृ० 1, 40

6. श्मशान के वर्णन के प्रकरण में प्रयुक्त निम्नलिखित श्लोक बीभत्स रस को पुष्ट करते हैं–

(क) **राजा (अग्रतोऽवलोक्य) अहो लीलारीतिः कौणपानाम्–**

व्यादायोत्तुङ्गदंष्ट्राकुटिलमुखदरीमुल्ललत्ताम्रजिह्वः
प्रेतो ग्रीवां विदार्य ग्रसति नववसासारमन्तः प्रमोदात्।
प्रीताभिः कामिनीभिः कृतविकटमहाहासकोलाहलाभिः
पीनोदञ्चत्कुचाभिः सह पिबति ललज्जाङ्गलस्नेहसारम्।।

(ख) **तालोत्तोलिततालिकाकलकलक्लाम्यच्छृगालार्भकः**
क्रेङ्कारस्फुटझर्झरध्वनिनटल्लाङ्गूललीलापरः।
एताभि र्नरनाभिपङ्कजचयप्रारब्धमालाविधिः
प्रक्रीडन्निह सारमेयतरुणस्तूर्णं नरीनृत्यते।।

मृ० 3, 20; 3, 21

(ग) कर्पूरतिलक की शङ्खपाल को लक्ष्य करके कही गई इस उक्ति में वीररस है–

यद्रामो जनकात्मजापहरणे भीमोऽपि यत्क्रोधनः
पाञ्चालीकचकर्षणे रचितवान् तत् किं न ते विश्रुतम्।
क्रोधोन्माथितकण्ठपीठरुधिरैरभ्यर्च्य शम्भोः प्रियां
तत्तत्कर्म करोमि येन भवतो नामापि न श्रूयते।।

मृ० 3, 29

II अधोनिर्दिष्ट श्लोकों में अलङ्कारध्वनि शृङ्गाररसध्वनि को पुष्ट कर रही है।

(क) **अतिपरिचयदोषात्प्रौढबालेव वाणी**
न रचयति विनोदं प्राक्तनानां कवीनाम्।
अभिनवकविवाचा काऽपि रीति र्नवीना
युवतिरिव विधत्ते प्रौढमानन्दमन्तः।।

मृ० 1, 13

यहाँ उपमा है।

(ख) प्रस्तावना में सूत्रधार सूर्य को प्रणाम कर रहा है–

अञ्चलान्तरितचोलसुन्दरीकुङ्कुमाक्तकुचमण्डलप्रभम्।
कोकशोकदहनाम्बुदमेकं पद्मिनीरमणमेष नतोऽस्मि।।

मृ० 1, 6

यहाँ उपमा एवं रूपक हैं।

(ग) मृगाङ्कलेखा की विरहदशा का वर्णन करते हुए कञ्चुकी सिद्धयोगिनी से कह रहा है–

कर्पूरो दहनायते कुमुदिनीनाथोऽपि सूर्यायते
हारोऽस्या भुजगायते मलयजो वातः कृतान्तायते।
गानं कर्णविषायते मृगमदालेपोऽपि भस्मायते
तस्या एव विधूदये प्रतिदिनं दृक् चन्द्रकान्तायते।।

मृ० 2.5

यहाँ वाचकधर्मलुप्ता उपमा है।

(घ) **मृदुलतरमृणालीकोमलौ बाहुपाशौ**
रचय सुतनु कण्ठे कामपाशौ र्निबद्धे।
कुपितफणिफणाभः पान्थसीमन्तिनीना-
मयमुदयति यस्मात्कैरवानन्दकन्दः।।

मृ० 2, 41

यहाँ उपमा एवं काव्यलिङ्ग अलङ्कार हैं।

इस प्रकार यह नाटिका अनेक रसों और अलङ्कारों से मण्डित होने के कारण सरस एवं मनोहारिणी है। इसमें शङ्खपाल के चंगुल में फंसी हुई मृगाङ्कलेखा को निकालने वाले कर्पूरतिलक की वीरता तो दिखाई पड़ती है किन्तु उसका अनेक महिलाओं में अनुराग दिखाये जाने के कारण यह अन्त:पुर के वासनात्मक प्रेम तक सीमित रह गई है।

3. मृगाङ्कलेखा और साहित्यसुधासिन्धु में समानतायें

इन दोनों कृतियों में कुछ ऐसी समानतायें हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि वे दोनों रचनायें एक ही व्यक्ति की हैं–

(1) मङ्गलाचरण में साम्य

मृगाङ्कलेखा के भीतर मङ्गलाचरण में ये तीन श्लोक दिये हुए हैं–

दूरादङ्घ्रिप्रहारप्रबलभरनतप्रौढदर्वीकरेन्द्र-
श्वासोद्रेकप्रशुष्यज्जलधिजलभरत्रस्तपाठीनकूटम् ।

गङ्गारिङ्गत्तरङ्गावलिवलितजटाक्षालनं शूलपाणेः
पायादायासखेदाज्जगदिदमखिलं ताण्डवाडम्बरं तत्।।

मृ० 1,1

अपि च–

वामां वामाङ्गभागे कलयति मदनप्लोषकीर्तिं च धत्ते
सर्वैश्वर्याकुलोऽपि प्रकटयति करे नारमेकं कपालम्।
दाता मुक्ते र्गरीयान्भवति स भुवने यः स्वयं चाविमुक्तः
पायान्मायादुरूहो गिरिवरतनयावल्लभो भूतनाथः।।

मृ० 1, 2

अपि च–

रोषाकुञ्चितपाणिपल्लवतया सेवाञ्जलि र्नो कृतः
स्तब्धैकाङ्गतया च नो नतितति र्विस्तारिता शम्भुना।
नो किञ्चिद् गदितं च मूकपदवीं वक्त्रैकदेशे गते
पार्वत्याः सफलैव मानपदवी पायात् त्रिलोकीतलम्।।

मृ० 1, 3

साहित्यसुधासिन्धु में मङ्गलाचरण के लिए ये तीन श्लोक रखे गये हैं–

उत्तालतालस्फुरदङ्घ्रिपातप्रजातपातालभुजङ्गकम्पम् ।
अभ्रान्तविभ्रान्तकपर्दजालं विस्रस्ततालं कलये नटं तम्।।

सा० 1,1

उत्तालाङ्घ्रिप्रपातस्फुटितवसुमतीरन्ध्रनीरन्ध्रनिर्यत् –
पातालाम्भःस्रवन्तीस्नपनसिमिसिमाकारिलालाटनेत्रम् ।
ऊर्ध्वव्याधूतभोगीश्वरवररचितायासनिःश्वासरिङ्गद्
गङ्गाकल्लोलजालं कलयतु विभवं धूर्जटे र्नाट्यलीला।।

सा०1, 2

चन्द्रचूडप्रियापाङ्गसन्दोहानन्दनिर्भरः ।
विदधाति कविः कोऽपि सुधासिन्धुतरङ्गितम्।।

सा०1, 3

इन दोनों मङ्गलाचरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों रचनाओं में भगवान् शिव की स्तुति की गई है। मृगाङ्कलेखा के पहले श्लोक में शिव के ताण्डव

नृत्य से सारे संसार के क्लेश को दूर करने की प्रार्थना की गई है और साहित्यसुधासिन्धु के प्रथम श्लोक में ताण्डवनृत्य के नर्तक शिव तथा इसके दूसरे श्लोक में उनकी भयङ्कर ताण्डवनृत्यलीला का वर्णन है। इस प्रकार दोनों ग्रन्थों में शिव का स्तवन एक ही ढंग से किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार वाराणसी में स्थित भगवान् विश्वनाथ (शिव) के उपासक थे।

मृगाङ्कलेखा के तीसरे श्लोक में मानवती पार्वती का उल्लेख है और साहित्यसुधासिन्धु के तीसरे श्लोक में चन्द्रचूडप्रिया पार्वती का कृपाकटाक्ष का आनन्द कवि को अभीप्सित है। मृगाङ्कलेखा के पहले और दूसरे श्लोकों में तथा साहित्यसुधासिन्धु के पहले श्लोक में स्रग्धरा छन्द का प्रयोग है।

(2) ग्रन्थसमाप्ति में साम्य–

मृगाङ्कलेखा में चतुर्थ अङ्क की समाप्ति पर यह भरतवाक्य है–

यावद् ब्रह्माण्डभाण्डे स्फुरति स भगवान् पद्मिनीजीवितेशो
यावत्क्षोणीं फणीन्द्रः कलयति शिरसा यावदास्ते शशाङ्कः।
यावत्कल्पान्तवातो न चलति भुवने सन्तु तावत् समस्ता
विस्फूर्जत्क्षीरधाराद्रवमधुरतराः सत्कवीनां प्रबन्धाः।।

मृगाङ्क० 4, 24

साहित्यसुधासिन्धु में आठवीं तरङ्ग की समाप्ति पर ये श्लोक हैं–

यावत्पाटीरपङ्कद्रवमधुरसुधापूरसेकैस्त्रिलोकी -
मुच्चैः प्रीणाति विप्रप्रणतिनुतपदः पार्वणः शीतभानुः।
वेगादम्भोजजृम्भावितरणरसिका भानवो भान्ति यावद्
भानोस्तावद् विधत्तामयमपि च सुधासिन्धुरानन्दकन्दम्।।
मौलौ गङ्गाम्बुधारा कुवलयपटलीमण्डिता शूलपाणेः
कौन्दीभृङ्गीकदम्बव्यतिकरमधुरा मालिका कन्धरायाम्।
कर्पूरक्षोदचञ्चन्मृगमदपटलीपङ्कसङ्काशमूर्त्ति -
र्वक्षःपीठे पतन्ती क्षितिधरतनया नेत्रशोभाऽवताद् वः।।
आस्ते धारासुराख्यं नगरमतिलसत्केशवोद्दामधाम-
प्रभ्राजत्कीर्तिपूरं विलसति सविधे यस्य गोदावरी सा।
तत्रत्योऽनन्तदेवात्मज इह वसति मुक्तिपुर्यां सवर्यां
तस्याङ्गजस्योल्लसति कृतिरियं विश्वनाथाभिधस्य।।

सा० 8, 291; 293; 294

इन तीनों श्लोकों में स्रग्धरा छन्द है। इसका लक्षण वृत्तरत्नाकर में इस प्रकार है–

म्रभ्नै र्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्त्तितेयम्।

जो 1–1 मगण, रगण, भगण, नगण, और तीन यगणों तथा तीन और सात की यति से युक्त हो वह स्रग्धरा छन्द होता है।

कवि ने दोनों ग्रन्थों के मङ्गलाचरण तथा समाप्ति में इस छन्द को रखा है। इससे इनकी इस छन्द के प्रति विशेष अभिरुचि प्रकट होती है। इन दोनों ग्रन्थों के 1–1 श्लोक का यावत् पद से आरम्भ किया गया है। दोनों में यह कहा गया है कि सूर्य और चन्द्र जब तक रहेंगे तब तक इन रचनाओं की सत्ता रहेगी। दोनों में ही पद्मिनीजीवितेश तथा अम्भोजजृम्भावितरणरसिक इन विशेषणों के प्रयोग से सूर्य के भीतर कमलों को विकसित करने का गुण बताया गया है।

(3) दोनों रचनाओं में समान रूप से उपलब्ध श्लोक

निम्नलिखित श्लोक ज्यों के त्यों दोनों रचनाओं में उपलब्ध होते हैं। ये श्लोक पूर्ववर्ती आचार्यों और कवियों के ग्रन्थों में नहीं उपलब्ध होते। इस कारण यह प्रतीत होता है कि विश्वनाथदेव ने इनको स्वयं बनाया है।

1. **किञ्चिद् वक्ति करोति हासमसकृन्निर्याति सन्तिष्ठते**
   वाष्पं मुञ्चति किञ्च रोषकलितः शोणां विधत्ते दृशम्।
   बालेति प्रणमत्यकाण्डकुपितेत्याभाषते निष्ठुरे-
   त्यालिङ्गत्यधुना स मन्मथशरै र्नीतः परां दुर्दशाम्।।

   मृगाङ्क० 2, 7; सा० 3,100

2. **तन्नेत्रान्ततरङ्गितं मृगदृशस्तत्कर्णकण्डूयनं**
   सा वक्रोक्तिपरम्परा प्रियसखीहस्तावलम्बोऽपि सः।
   यावन्नो हृदयात्प्रयाति सहसा तावद् द्विरेफावली-
   झङ्कारप्रणयोपदेशरसिको जातो वसन्तोदयः।।

   मृगाङ्क० 4,10 ; सा० 3, 73

3. **एष क्षुभ्नाति वीथीं तिरयति धरणिं सर्वतो दानपूरैः**
   पारीन्द्राणां क्षिणोति प्रबलतररवैः कन्दरागर्भशय्याम्।
   रोषान्मत्तालिमालाकुलविकटकटं किञ्च धूनोत्यजस्रं
   विस्रंसच्चारुचामीकरनिकरकृतोद्दामदामा गजेन्द्रः।।

   मृगाङ्क० 4,10; सा० 5,178

4. **वामां वामाङ्गभागे कलयति मदनप्लोषकीर्तिं च धत्ते**
सर्वैश्वर्याकुलोऽपि प्रकटयति करे नारमेकं कपालम्।
दाता मुक्ते र्गरीयान् भवति स भुवने यः स्वयं चाविमुक्तः
पायान्मायादुरूहो गिरिवरतनयावल्लभो भूतनाथः।।

मृगाङ्क० 1, 2; सा० 5,171

5. **सपदि मुकुलितेयं किंशुकानां वनाली**
ललितमधुपमाला विभ्रमं सन्तनोति।
इह घनमकरन्दामोदमाद्यन्मिलिन्दा
विलसति सहकारश्रेणिराकम्प्यकुञ्जा।।

मृगाङ्क० 1, 25; सा० 3,19

6. **क्षोणीराज्यं सपदि विहितं कान्तया सार्द्धमुच्चै-**
र्देवी तुष्टाप्यजनि भगिनीलाभमासाद्य सद्यः।
स्फीता कीर्तिः सपदि रचिता चन्द्रवंशस्य तस्मात्
कस्मिन्निष्टे भगवति पुनः कर्तुमीहा तवास्ते।।

मृगाङ्क० 4, 23; सा० 3, 81 (पुनरपि सखे)

7. निम्नलिखित श्लोक थोड़े परिवर्तन के साथ मिलता है–
निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात् परुषमलकं नूनमागण्डलम्बि।
मत्संयोगः सुखमुपनयेत् स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशम्।।

मृगाङ्क० 1, 39; सा० 3, 29

4. साहित्यसुधासिन्धु का रचनाकाल

(क) ग्रन्थ में निर्दिष्ट समय

साहित्यसुधासिन्धु का लेखनकाल निश्चित ही है। ग्रन्थकार ने जिस श्लोक में इसका समय बताया है उसके चतुर्थ पाद में कुछ अंश मिटा होने के कारण अस्पष्ट है। किन्तु संवत्सर बताने वाला भाग पढ़ा जा सकता है। जम्मू, अलवर और तिरुपति में उपलब्ध इस ग्रन्थ की तीनों प्रतियों में इसके काल को सूचित करने वाले ये दो श्लोक पाये जाते हैं–

कीर्तिशेषं गते तैस्तै र्गुणै र्विक्रमभूभुजि।
ग्रहाम्भोधिरसेन्दौ [हि तस्मिन्] संवत्सरक्रमे।।

एकादश्यां गुरौ स्वीयः सुधासिन्धुर्विलेखितः।
पत्तने चन्द्रचूडस्य विश्वनाथेन धीमता।।

सा० 8, 296-297

तीनों ही प्रतियों में कोष्ठाङ्कित पाठ नहीं है। यह पाठ अपनी ओर से संशोधित करके लिखा गया है। इन्दु शब्द अनेक ग्रन्थकारों ने एक सङ्ख्या के लिए प्रयुक्त किया है। अतः यहाँ भी यह पद इसी अर्थ में रखा है। काव्यप्रकाश में ध्वनि के भेदों को बताते समय दो स्थानों पर एक की सङ्ख्या को बताने के लिए चन्द्र और इन्दु शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] साहित्यदर्पण की विमला टीका के रचयिता श्रीशालिग्रामशास्त्री ने भी अपनी टीका के रचनाकाल को बताने के लिए इन्दु और शशाङ्क शब्द का प्रयोग किया है।[2]

प्राचीन काल के लेखक ग्रन्थनिर्माण का समय बताने के लिए विभिन्न अङ्कों को द्योतित करने वाले ग्रह, समुद्र आदि पदार्थों का प्रयोग करते थे। साहित्यसुधासिन्धु में भी ग्रहाम्भोधिरसेन्दौ पद का प्रयोग रचनाकाल बताने के लिए किया गया है। यहाँ क्रमशः इन पदों से प्रकट होने वाली सङ्ख्या इस प्रकार है-

ग्रह-इस पद का प्रयोग 9 सङ्ख्या को बताने के लिए किया जाता है। इन 9 ग्रहों के नाम ये हैं-सूर्य, चन्द्र, भौम (मङ्गल), बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनि, राहु और केतु।

(2) अम्भोधि या सागर पद चार सङ्ख्याओं को सूचित करता है। मोनियर विलियम्स डिक्शनरी में सागर को चार सङ्ख्याओं का वाचक बताया गया है।

(3) रस-ये 6 सङ्ख्या को सूचित करते हैं। अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, मधुर और कषाय ये 6 प्रकार के लौकिक रस माने जाते हैं।

(4) इन्दु-यह 1 सङ्ख्या को बताता है।

इस प्रकार यह सङ्ख्या 9-4-6-1 बन जाती है।

अङ्कानां वामतो गतिः-अर्थात् अङ्कों की सङ्ख्या उल्टी रीति से चलती है- इस नियमानुसार यह सङ्ख्या उल्टे क्रम को सीधा बनाकर 1649 बन जाती है। यही

1. वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः शरेषुयुगखेन्दवः।। काव्यप्रकाश 4, 44
2. (2) रामर्ष्यङ्केन्दुसङ्ख्ये (1973) कृतिरियमुदिता वैक्रमे तत्र वर्षे
विश्वेशस्यान्नपूर्णापदपयसिजयोरर्पिता प्रीतयेऽस्तु।। 1।।
भूमिनवाङ्कशशाङ्के (1991) विक्रमवर्षे पुनस्तस्याः।
श्रीमृत्युञ्जयभवने जाता लक्ष्मणपुरे द्विरावृत्तिः।। 10।।
इति विमलायां दशमः परिच्छेदः साहित्यदर्पणो विमलाटीकोपेतः, पृ० 371

संवत् 1649 इस ग्रन्थ का निर्माणकाल है। इसमें से 57 की सङ्ख्या घटा कर ई० सन् 1592 बन जाता है। डॉ० पी०वी० काणे[1] तथा एस० के० डे[2] ने भी साहित्यसुधासिन्धु का यही रचनाकाल माना है।

(ख) अन्तःसाक्ष्य के आधार पर साहित्यसुधासिन्धु की पूर्वापरसीमा

काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों के समान साहित्यसुधासिन्धु एक लक्ष्यलक्षण ग्रन्थ है। बहुत से लक्षण और उदाहरण आचार्य विश्वनाथदेव ने स्वयं बनाकर अपनी रचना में रखे हैं किन्तु इन्होंने अपने पूर्ववर्ती कवियों और लक्षणकारों की रचनाओं में से श्लोकों तथा लक्षणों को पर्याप्त मात्रा में लेकर उन्हें अपने ग्रन्थ का अङ्ग बनाया है। जिन कवियों और आचार्यों के श्लोक और लक्षण इन्होंने लिए हैं उनसे इनकी परवर्तिता सिद्ध हो जाती है। यहाँ कुछ कवियों के श्लोक तथा काव्यशास्त्रविद् आचार्यों के लक्षणों की तालिका दी जा रही है–

---

1. साहित्यसुधासिन्धु-लेखक त्रिमल्लदेव के पुत्र विश्वनाथ, 8 तरङ्गों में विभाजित। ये मूलतः गोदावरी पर स्थित धारासुर के निवासी, बाद में बनारस में निवास, रचनाकाल संवत् 1649 देखो अलवर पाण्डुलिपिसूची के उद्धरण 235
   संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास, पृ० 551 पी०वी० काणे
   हिन्दी अनुवादक डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, प्रथम संस्करण 1966
2. Minor writers on Alankara 91 Viśvanātha-Sāhitya Sudhāsindhu (Alwar Catalogue Extract 235; also Jammu Cat. no 1254).
   This south Indian author, who wrote in Benaras, was son of Trimala or Trimalla Deva and grandson of Ananta of Dharasura City on the Godavari. Stien's Kashmirian Ms. (Jammu Cat.p.xxix) is dated in 1894 A.D. Stien speaks of a M.S. transcribed from an autograph copy of the author. In the colophon referring to this original copy, which is added by author hand at the end of the Jammu Ms. The date Samvat 1649 can be made out with difficulty. He quotes at the beginning of his work from Mammata and Bhoja, and else where cites Candidasa (probably the same as the commentator on Mammata) and Mahimabhatta. The work is in eight Taraṅgas. Viśvanātha also wrote a drama called Mṛgāṅkalekhā a MS. of which is dated Samvat 1664.
   History of Sanskrit Poetics Vol. I, p. 301
   Sushil Kumar De Second Edition, 1960,
   Firma K.L.Mukhopadhyaya Publishers, 6/1A,
   Bancharam Akrur Lane, Calcutta-12.

1. कालिदास

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं सर्वैरनुज्ञायताम्।।

अभिज्ञानशाकु० 4,8 साहित्यसुधा० 3, 56

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निक्षेपणाय पदमुद्धृतमावहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।।

कुमारसम्भव 5,85; साहित्यसुधासिन्धु 3, 60

2. भवभूति

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति।।

उत्तररामचरित 5, 17; साहित्यसुधासिन्धु 3, 43 वृत्ति

3. हर्षवर्धन

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिताशेषोपसर्गाः प्रजाः।
प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
कामः काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः।।

रत्नावली 1, 9; साहित्यसुधासिन्धु 3, 86

4. भट्टनारायण

धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः।
यद् वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत्केन सेत्स्यति।।

वेणीसंहार 3, 46; साहित्यसुधासिन्धु 3, 79

श्रीहर्ष

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम्।।

नैषधीयचरित 1, 51; साहित्यसुधासिन्धु 3, 70

6. त्रिविक्रमभट्ट

एकान्ते सेवते योगं मुक्ताहारपरिच्छदः।
हंसः स मोक्षयोग्योऽपि देव किं बध्यते त्वया।।

नलचम्पू 2, 18; साहित्यसुधासिन्धु 2, 19 वृत्ति

निम्नलिखित आचार्यों की कारिकायें साहित्यसुधासिन्धु में मिलती हैं-

1. भरत

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रिताः।
अनेन यस्मात्तेनासौ विभावः परिकीर्तितः।।

नाट्यशास्त्र 7, 4; सा० सु० सि० 3, 25

2. भामह

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो ह्यनया विना।।

काव्याल० 2, 85; सा० सु० सि० 1, 4 वृत्तिभाग

3. दण्डी

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः।
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।।

काव्यादर्श 1, 41-42; सा० सु० सि० 6,143-144

4. वामन

यत्रैकपदवद्भानं पादानां भूयसामपि।
अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः।।

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति 3, 1, 25 कारिका 3 ;
सा० सु० सि० 6,145

5. रुद्रट

स्नेहप्रकृतिः प्रेयान् सङ्गतिशीलार्यनायको भवति।
स्नेहस्तु साहचर्यात् प्रकृतेरुपकारसम्बन्धात्।।

काव्यालङ्कार 3, 35; सा० सु० सि० 3, 35

6. धनञ्जय

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादे र्निर्वेदः स्वापमाननम्।

दशरूपक 4,9; सा० सु० सि० 3,44

7. भोज

अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।

सरस्वतीकण्ठाभरण 1, 2; सा० सु० सि० 1, 2 वृत्ति

8. मम्मट

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदा मताः।।

काव्यप्रकाश 5, 45-46; सा० सु० सि० 4,76-77

9. विश्वनाथ

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदेकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भः।।

साहित्यदर्पण 3,109; सा० सु० सि० 3, 33

उपरिनिर्दिष्ट कवियों में कालिदास का समय ईसा की प्रथम शताब्दी से 5वीं शताब्दी के बीच माना जाता है और त्रिविक्रमभट्ट का समय दसवीं शती माना जाता है। इसी प्रकार काव्यशास्त्रविद् आचार्यों में भरतमुनि का समय ईसा की प्रथम शती माना जाता है और आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण का प्रणयन सन् 1384 ई० में किया था।

आचार्य विश्वनाथदेव ने अपने से पूर्ववर्ती इन कवियों और आचार्यों के श्लोकों और कारिकाओं का भरपूर उपयोग किया है इस कारण इन आचार्यों से इनकी परवर्तिता एवं सङ्ग्राहकवृत्ति सिद्ध हो जाती है।

रसगङ्गाधर और साहित्यसुधासिन्धु के ये प्रसङ्ग एक दूसरे से मिलते हैं-

1. **यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तच्च शब्दे चार्थे चाविशिष्टमित्याहुः।** रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षण

   केचित्तु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् तत्तु शब्दे चार्थे

चाविशिष्टमिति शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वमिति प्राहुः। काव्यं करोतीत्यादिव्यवहारस्तु शब्दपरतया नेयः।

साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

2. **अपि च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं शब्दार्थयो र्व्यासक्तं प्रत्येकपर्याप्तं वा, नाद्यः, एको न द्वौ इति व्यवहारस्येव श्लोकवाक्यं न काव्यमिति व्यवहारस्यापत्तेः। न द्वितीयः, एकस्मिन् वाक्ये काव्यद्वयव्यवहारापत्तेः।**

रसगङ्गाधर 1,1 वृत्ति काव्यलक्षण

अत्र वदन्ति-काव्यत्वं दण्डत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्यवृत्ति उत द्वित्वपृथक्त्ववद् व्यासज्यवृत्ति वा। नाद्यः, केवले शब्दे केवलार्थे च तदव्यवहारात्। नापरः........।

सा० सु० सि० 1, 4 वृत्ति

3. **तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेनात एव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादि-निजधर्मेण प्रमात्रा.........**

रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षण

व्यक्तो व्यक्तविषयीकृतः व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित्।

रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षण

वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः।

रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्य०

अपकर्षश्च रत्याद्यवच्छिन्नस्यानन्दांशे आवरणस्यावस्थितिः।

सा० सु० सि० 5,82 वृत्ति

एवं च सति काव्यदर्शनश्रवणमहिम्ना उक्तयाऽभिव्यक्त्या चैतन्यस्यानन्दांशे आवरणभङ्गः क्रियते तथा च रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यमानन्दांशे भग्नावरणानन्दरूपतया परिणतं रस इति निर्गलितार्थः :।

वहीं 3, 27 वृत्तिभाग

ऊपर आचार्य विश्वनाथदेव का समय लगभग 1552–1667 ईस्वी के मध्य में निर्धारित किया जा चुका है। पण्डितराज जगन्नाथ ने अपना नवीनं वयः अर्थात् जवानी का पूर्वभाग शाहजहाँ के दरबार में बिताया था। शाहजहाँ का राज्यकाल

1627 से 1658 ई० है। यदि 20 से 30 वर्ष की आयु के बीच में पण्डितराज का शाहजहाँ के दरबार में प्रवेश माना जाय तो उनका जन्म सन् 1597–1607 ई० के मध्य माना जा सकता है। इस कारण विश्वनाथदेव का जन्मकाल (सन् 1552 से लेकर सन् 1572) पण्डितराज जगन्नाथ से पहले सिद्ध होता है। यद्यपि इन आचार्यों के ग्रन्थों की रचना में समकालिकता विद्यमान रही है तथापि दोनों में से किसी ने भी अपनी कृति में एक दूसरे का नाम नहीं लिया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उपर्युक्त ये अंश या तो साहित्यसुधासिन्धु ग्रन्थ से लिये हैं या दोनों ही आचार्यों ने किसी और परम्परा से ग्रहण किये हैं। इस प्रकार आचार्य विश्वनाथदेव की यह उत्तरसीमा सिद्ध हो जाती है कि वे पण्डितराज जगन्नाथ से बाद के नहीं हैं।

5. साहित्यसुधासिन्धु की वर्तमान हस्तलिखित प्रतियाँ

इस ग्रन्थ की इस समय तक तीन हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं। जम्मू, अलवर और तिरुपति इन तीनों स्थानों से उपलब्ध इन तीनों प्रतियों के आधार पर इस ग्रन्थ का सम्पादन किया गया है। स्थानों के नाम पर जम्मू की प्रति के लिए ज, अलवर की प्रति के लिए अ तथा तिरुपति की प्रति के लिए त अक्षरों का सङ्केत निर्धारित किया गया है। जम्मू की प्रति अलवर की प्रति से कुछ प्राचीन प्रतीत होती है। यदि इसे प्राचीन न भी माना जाय तो भी समकालीन तो है ही। तिरुपति की प्रति इन दोनों से बाद की है। यद्यपि इस ग्रन्थ के सम्पादन में जम्मू की प्रति के पाठ को ही आधार बनाया गया है। तथापि जहाँ जम्मू के पाठ की अपेक्षा अलवर अथवा तिरुपति का पाठ अधिक उपयोगी प्रतीत हुआ है वहाँ मूल संस्कृत पाठ में उसको समाविष्ट करके पादटिप्पणियों में इसका सङ्केत दे दिया है। कहीं कहीं तीनों प्रतियों का पाठ सङ्गत न होने पर अपनी ओर से संशोधित पाठ दिखलाया है। इन तीनों प्रतियों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है–

(क) जम्मू की हस्तलिखित प्रति

यह प्रति श्रीरणवीर संस्कृत रिसर्च इन्स्टिट्यूट, रघुनाथ मन्दिर जम्मू में विद्यमान है। डिस्क्रिप्टिव कैटेलोग आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन श्रीरणवीर संस्कृत रिसर्च इन्स्टिट्यूट जम्मू कश्मीर (सम्पादक डा० एच० एम० पटकर, प्रकाशक डा० कर्णसिंह, प्रैज़िडैण्ट, धर्मार्थ कौन्सिल, जम्मू) में इस प्रति का पूरा विवरण इस प्रकार दिया हुआ है–

X. अलङ्कार

1. अनुक्रमाङ्क तथा विषय 132 ; 39 X अलङ्कार
2. पुस्तकालय में प्राप्ति अथवा सङ्ग्रह की सङ्ख्या 338 घ
3. ग्रन्थ का शीर्षक साहित्यसुधासिन्धु
4. ग्रन्थकार का नाम विश्वनाथ त्रिमलदेवपुत्र
5. टीकाकार का नाम ......
6. लेखन के लिए प्रयुक्त साधन कागज़
7. लिपि देवनागरी
8. आकार 25. 5X 11 सैंटीमीटर्स
9. पत्रसङ्ख्या; पङ्क्ति; अक्षर 74; 10; 43
10. संवेदन सम्पूर्ण
11. अवस्था तथा समय अच्छी
12. अतिरिक्त विवरण पुष्पिका-इति त्रिमलदेवतनयविश्वनाथविरचितसाहित्य-सुधासिन्धौ अर्थालङ्कारमार्जनं नामाष्टमस्तरङ्गः।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

लिपिकाल

त्रिसङ्गम, कश्मीर 1894 में तैयार किये गये कैटेलोग आफ संस्कृत मैन्यूस्क्रिप्ट्स इन दी रघुनाथ टैम्पल लाइब्रेरी, रघुनाथ टैम्पल जम्मू (पृ० 29) में स्टाइन ने लिखा है कि 338 साहित्यसुधासिन्धु नं०1234 एक हस्तलिखित ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध होता है। यह प्रतिलिपि इसके मूल रचयिता के हस्तलिखित ग्रन्थ से की गई है। स्टाइन का यह भी कहना है कि सन् 1876 में पण्डित आशानन्द की अध्यक्षता में पण्डितों की एक उपसमिति बनाकर वाराणसी भेजी गई जिसने वहाँ की अमुद्रित पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ तैयार कीं। उनके इस कथन के आधार पर ये दो सम्भावनायें की जा सकती हैं-

1. पण्डित आशानन्द सन् 1876 में वाराणसी गये। वहीं पहुँचकर उसी समय उन्होंने इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि कराई और अपने ही साथ इसे जम्मू ले आये। परन्तु इस सम्भावना में यह बात सोची जा सकती है कि यदि नये सिरे से प्रतिलिपि कराई जाती तो प्रतिलिपिकार इस प्रति में पण्डित आशानन्द का नाम भी प्रविष्ट कर देता। किन्तु उनका नाम न दिया जाना भी बहुत अस्वाभाविक नहीं हैं क्योंकि पुराने पण्डित अपने नाम दिये जाने के लिए बहुत उत्सुक नहीं रहते थे।

2. पुष्पिका में सबसे अन्त के 'इदं पुस्तकं काशीस्थचिन्तामणिना लक्ष्मणब्रह्मज्ञानिने दत्तम्' इस वाक्य से यह सिद्ध हो जाता है कि यह प्रति वाराणसी में चिन्तामणि ने लक्ष्मण नामक ब्रह्मज्ञानी (संन्यासी, ब्रह्मचारी) को प्रदान की है। विश्वनाथदेव ने स्वयं किसी को नहीं दी है। स्टाइन भी इस बात को जानते थे कि यह मौलिक प्रति नहीं है किन्तु ग्रन्थकार के द्वारा स्वयं लिखी गई हस्तलिखित प्रति से उतारी गई है। इन दोनों ही बातों के आधार पर इस बात की अधिक सम्भावना है कि साहित्यसुधासिन्धु की यह प्रतिलिपि इससे पहले विद्यमान मूल प्रति से तैयार की गई है। स्टाइन ने पण्डित आशानन्द से इसका वृत्तान्त सुनकर ही यह लिखा होगा कि यह मूल प्रति से उतारी गई है। इसलिए यह प्रतिलिपि या तो सन् 1876 में लिखी गई अथवा इससे लगभग 100 वर्ष पहले बनी है। इस प्रकार जम्मू में अवस्थित इस प्रतिलिपि का समय सन् 1776 से सन् 1876 के बीच में माना जा सकता है।

(ख) अलवर की हस्तलिखित प्रति

यह प्रति राजस्थान प्राच्यविद्याप्रतिष्ठान शाखा कार्यालय महल चौक, अलवर में विद्यमान है। वहाँ अकारादि क्रम से विद्यमान सूची में इस प्रति का विवरण इस प्रकार है–

ग्रन्थ नाम	हस्तलिखित ग्रन्थसङ्ख्या	पत्रसङ्ख्या	सूचीपत्र का उद्धरण
साहित्यसुधासिन्धु	2412	161	235

लिपि समय –संवत् 1914

लिपिकाल

इस प्रति का उपरिनिर्दिष्ट लिपिसमय इसकी पुष्पिका में लिखे हुए संवत् 1914 वैशाख कृष्णतृतीया तद्दिने पुस्तकमिदं लिखितम् इस वचन पर आधारित है। इस वैक्रम संवत् का ई० सन् 1857 बन जाता है। अतः अलवर की प्रति का लिपिकाल सन् 1857 है।

(ग) तिरुपति की हस्तलिखित प्रति

एल्फाबैटिक कैटेलोग, संस्कृत तामिल तैलूगु मैन्युस्क्रिप्ट्स, तिरुपति 1956 में इसका विवरण इस प्रकार है–

ग्रन्थ	लेखक	लिपि
साहित्यसुधासिन्धु 40694	विश्वनाथदेव	देवनागरी
विवरण		
सम्पूर्ण 6851		

ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, श्रीवेङ्कटेश्वर यूनिवर्सिटी, तिरुपति के पुस्तकालय में यह प्रति रखी हुई है।

लिपिकाल

तिरुपति की हस्तलिखित प्रति के अन्त में पुष्पिका की समाप्ति पर हिन्दी भाषा में ये दो दोहे लिखे हैं-

सिधि निधि निधि विधु वर्ष शुभ अब सुरु करूं विचार।
श्रीसाहित्यसुधासिन्धु तिथि तृतीया सोमवार।।
प्रति समान लेखक लिखे यह नय हृदय विचार।
पण्डितजन नहीं देवेंगे लेखक दोष लतार।।

यहाँ लिपिकर्त्ता ने सिधि, निधि, निधि और विधु इन शब्दों से समय की सूचना दी है और साथ ही कहा है कि उसने समानप्रति अर्थात् साहित्यसुधासिन्धु की प्रतिलिपि की है।

1. **सिद्धि**–अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व–ये 8 सिद्धियाँ हैं।

2. **निधि**–इसकी सङ्ख्या 9 मानी जाती है। पद्म, महापद्म, शङ्ख, मकर, कच्छप, मुकुन्द, कुन्द, नील और खर्व निधियाँ है।

3. **विधु**-चन्द्रमा 1 सङ्ख्या का द्योतक है।

इस प्रकार 8 सिद्धि, 9 निधि, 9 निधि और 1 चन्द्रमा-इन सबकी 8-9-9-1 सङ्ख्या हो जाती है अङ्कानां वामतो गतिः इस नियम से क्रम को उल्टा कर देने से संवत् 1998 अर्थात् सन् 1941 इस प्रतिलिपि का काल निर्धारित किया जा सकता है।

तीनों प्रतिलिपियों का मूल प्रति से अन्तर तथा अमौलिकता

जम्मू, अलवर और तिरुपति-इन तीनों स्थानों में उपलब्ध जो हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ हैं ये सभी आचार्य विश्वनाथदेव के द्वारा अपने हाथ से लिखी गई मूल आदर्श प्रति से बहुत दूर हैं। इन प्रतियों में इतना अन्तर क्यों हो गया है–यह जानने के लिए हमें पुराने समय की परिस्थिति और परम्परा की ओर ध्यान देना चाहिए।

साहित्यसुधासिन्धु ग्रन्थ की रचना अब से 425 वर्ष पूर्व सन् 1592 ई० (संवत् 1649) में हुई थी। उस समय छापेखानों के अभाव के कारण मुद्रण सम्बन्धी वर्तमानयुगीन साधन उपलब्ध न थे। हस्तलिखित ग्रन्थों की सहायता से ही पठनपाठन की व्यवस्था थी। एक कक्षा में किसी एक हस्तलिखित ग्रन्थ को बाँचकर सुना दिया जाता था फिर उसी की व्याख्या गुरु के द्वारा सुना दी जाती थी। काव्यप्रकाश जैसे ग्रन्थों पर समय समय पर अनेक टीकायें भी इसी प्रयोजन से लिखी गईं। अनेक मूल हस्तलिखित प्रतियों की बड़ी सङ्ख्या में प्राप्ति भी इसी तथ्य को प्रकट करती है। जब कोई हस्तलिखित प्रति बहुत दिनों तक के सतत प्रयोग से जीर्ण शीर्ण अथवा धुंधले अक्षरों वाली हो जाती थी तो उसकी प्रतिलिपियां तैयार की जाती थीं। कभी कभी एक स्थान से दूसरे स्थान पर या तो उसी ग्रन्थविशेष को ले जाया जाता था अथवा उसकी प्रतिलिपि तैयार कर ली जाती थी। लेखक के द्वारा स्वयं लिखी हुई अथवा उसकी देख रेख में तैयार की गई हस्तलिखित प्रति को आदर्श प्रति का नाम दिया जाता है। ऐसी प्रतियों से और प्रतिलिपियाँ तैयार की जाती थीं तथा उन प्रतिलिपियों से और प्रतिलिपियां तैयार करने की परम्परा प्रचलित थी। इस परम्परा की एक अवश्यम्भावी परिणति यह थी कि जितनी अधिक किसी मूल ग्रन्थ की प्रतिलिपियाँ तैयार की जाती थीं उतनी ही अधिक आदर्श प्रति और उसकी अन्तिम प्रतिलिपि में अन्तर आ जाता था। यह अन्तर दो कारणों से आता था 1. लिपिकारों के प्रमाद से तथा 2. गुरुओं के द्वारा समय समय पर जोड़े या बदले जाने वाले पाठों से।

पहले प्रकार की अशुद्धियों में लिपिकार के दृष्टिदोष और बुद्धिदोष तो कारण होते ही हैं साथ ही ग्रन्थविशेष के पहले लिपिकार के अक्षरों की अस्पष्ट बनावट और उस पर मिटे हुए या धुंधले अक्षर भी कारण बनते हैं। दूसरे प्रकार के बदले पाठभेद उन अध्यापकों द्वारा कर दिये जाते थे जो उन ग्रन्थों के लक्षणों और उदाहरणों के स्थान पर अपने बनाये हुए अथवा अपने चुने हुए लक्षणों और उदाहरणों को कहीं कहीं समाविष्ट कर देते थे।

पहले प्रकार अर्थात् लिपिकारों के कारण उत्पन्न दोषों के कारणों पर प्रकाश डालते हुए डा० एस० एम० कात्रे[1] ने बताया है–"विविध ग्रन्थों के वर्तमान समय में उपलब्ध पाठ प्रतिलिपि रूप में पत्थर अथवा ताँबे जैसी दीर्घजीवी सामग्री पर लिखित ग्रन्थों से तैयार की गई मूलप्रतियों की फोटो प्रतियाँ नहीं हैं अपितु इन्हें

1. इण्ट्रोडक्शन टू इण्डियन टैक्स्च्युअल क्रिटिसिज़्म (भारतीय पाठालोचन की भूमिका) अनुवादक डॉ० उदयनारायण तिवारी पृ० 21-22, मध्यप्रदेश हिन्दी साहित्य एकादमी, भोपाल, 1971

विभिन्न लेखकों ने अपने हाथों से अपनी बुद्धि के अनुसार लिखकर तैयार किया है। इन प्रतिलिपियों में भूलों का रह जाना स्वाभाविक है और वे आदर्श प्रतिलिपि के समान नहीं हो सकतीं। ज्यों ज्यों हम आदर्श प्रति की प्रतिलिपियों से और प्रतिलिपियाँ तैयार करते जाते हैं और मूल हस्तलिखित प्रति से दूर हटते जाते हैं त्यों त्यों उनमें और भी अधिक भूलें होती जाती हैं और इस प्रकार तैयार की गई प्रतिलिपियाँ आदर्श प्रति से अधिक दोषपूर्ण और निकृष्टतर होती हैं। यदि हम पूर्ण रूप से शुद्ध हस्तलिखित पाठ के लिए 100 अङ्क निर्धारित करें और इसे क नाम दें तथा यह मान लें कि क से ख और ग प्रतिलिपियाँ तैयार की गईं। इसके साथ ही हम यह भी कल्पना करें कि प्रथम बार क से ख प्रतिलिपि करने में तीन प्रतिशत ही अशुद्धियाँ तथा दूसरी बार ख से ग प्रतिलिपि तैयार करने में भी तीन प्रतिशत ही अशुद्धियाँ हुईं तो ख और ग प्रतियों का सापेक्षिक मूल्य क्रमशः 97 तथा 94. 09 होगा। यदि ग से एक और प्रतिलिपि तैयार की जाय और उसमें भी तीन प्रतिशत अशुद्धियाँ होती रहें तो उसका सापेक्षिक मूल्य 91.7 होगा। प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ कराने का सामान्यतः यही परिणाम होता है।"

डॉ० कात्रे द्वारा बताई गई इस कसौटी पर जम्मू, अलवर और तिरुपति से उपलब्ध ज अ त इन तीन प्रतिलिपियों को यदि परखा जाय तो इनमें प्राप्त अशुद्धियों, पाठभेदों, छूटे हुए पाठों तथा बदलते हुए उदाहरणों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि ये तीनों ही प्रतियाँ मूल आदर्श प्रति से भिन्न हैं और इनमें और मूल प्रति में बहुत अन्तर आ गया है। इनका वंश भी भिन्न हो गया है।

स्टाइन ने जम्मू की प्रति के सम्बन्ध में कहा है कि यह प्रति मूल प्रति से उतारी गई है। इसी प्रति में डा० कात्रे के द्वारा बताया हुआ नियम लागू हो जाता है। इस प्रतिलिपि में पहले पत्र से अन्तिम पत्र तक का लेख एक ही लिपिकार के हाथ से लिखा हुआ दिखाई पड़ता है किन्तु कतिपय पृष्ठों पर कुछ छूटे हुए अंश दूसरे हाथ के लिखे हुए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि इस प्रतिलिपि को पहले एक लिपिकार ने तैयार किया था और छूटे हुए अंशों को दूसरे लेखक ने लिखा है। यह मौलिक प्रति नहीं है क्योंकि मौलिक प्रति में ग्रन्थकार आवश्यकतम अंशों को इस प्रकार नहीं छोड़ते। इन छूटे हुए अंशों की तालिका इस प्रकार है–

1. पत्र 5. एतदर्थोऽपि........सा सारोपा।
2. पत्र 9. अत्रोपादान........इति नव्याः।
3. पत्र 9. तदुक्तं बहवोऽर्था विभाव्यन्ते....व्यापारवत्त्वमेव विभावादित्वम्।

4. पत्र 11. ननु कः पुनरसौ स्थायी....व्यभिचारिभिः।
5. पत्र 69. तथा नियमपरिवृत्तस्य......माऽवमंस्थाः।।

इन तीनों प्रतियों के तुलनात्मक समीक्षण के आधार पर निम्न निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं–

1. अलग अलग प्रति में भी अशुद्ध पाठ (कठिनस्तां नायकान्ताय मे ज पृ० 173) मिलता है इससे यह ज्ञात होता है कि तीनों ही प्रतियाँ अलग अलग लिपिकारों के द्वारा तैयार की गई हैं।

2. तीनों ही प्रतियों में पाठभेद (श्रीगुरुभ्यो नमः त; गुरवे नमः ज; गुरवे नमः अथवा श्रीगुरुभ्यो नमः अ में नहीं; पृ० 147; काव्यविभागविशेषलक्षणमाह ज; काव्यविभागमाह त; पृ० 170 किसी उदाहरणविशेष को छोड़ देना) बहुत मात्रा में मिलते हैं इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये तीनों ही प्रतिलिपियाँ किसी एक मूल प्रति से न उतारी जाकर उस प्रति की दूसरी प्रतिलिपियों की प्रतिलिपियाँ हैं।

3. सर्वाधिक पाठभेद तथा उदाहरणभेद तिरुपति की प्रति के अलङ्कारप्रकरण में हैं। इससे जम्मू और तिरुपति की प्रतियों से उसकी दूरी बढ़ जाती है।

इस प्रकार इन तीनों प्रतियों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि इन तीनों के ही लिपिकार अलग अलग हैं और इनकी आधार प्रतियाँ भी भिन्न हैं। स्टाइन ने जम्मू की प्रति के सम्बन्ध में जो मूल प्रति से उतारने की बात कही है वह भी इन पाठभेदों को दृष्टि में रखने से असन्दिग्ध प्रतीत होती है।

6. साहित्यसुधासिन्धु में प्रतिपादित विषय

साहित्यसुधासिन्धु में काव्यशास्त्रविषयक सभी आवश्यक तत्त्वों का सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत किया गया है। केवल नाटक, प्रकरण आदि रूपकों के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है किन्तु श्रव्यकाव्य सम्बन्धी रस, अलङ्कार, गुण, रीति, दोष आदि समस्त सामग्री बहुत सुन्दर रूप में उपस्थित की गई है। आचार्य विश्वनाथदेव ने अपने इस ग्रन्थ में भरत मुनि से लेकर 16वीं शती के अन्त तक प्रचलित काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों को बुद्धिपूर्वक समाविष्ट किया है। पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष रखकर बड़ी बड़ी जटिल बातों को युक्तियाँ देकर समझाया है। विविध विषयों का चयन करते हुए जहाँ इन्होंने अपनी सङ्ग्राहकशक्ति का परिचय दिया है वहाँ इन सब विषयों का सूक्ष्मविवेचन कर अपनी नीरक्षीरविवेकिनी बुद्धि को भी प्रकाशित किया है। सुगम एवं स्पष्ट विषयप्रतिपादनशैली, पूर्वाग्रहहीनता, शालीनभाषा का प्रयोग और उपयुक्त युक्तियाँ

इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषतायें हैं। इन विशेषताओं के कारण यह रचना संस्कृत काव्यशास्त्र में अपना विशेष महत्त्व रखती है। इस ग्रन्थ के 8 विभाग हैं जिन्हें तरङ्गों का नाम दिया गया है।

प्रथम तरङ्ग में सबसे पहले मङ्गलाचरण के श्लोकों में शिव की स्तुति की गई है। इसके अनन्तर काव्यप्रयोजन और काव्यलक्षण बताये गये हैं। काव्य का सामान्य-लक्षण बताकर उसका एक परिनिष्ठित लक्षण बताया है और भोजदेव के द्वारा सरस्वतीकण्ठाभरण में दिये हुए काव्यलक्षण का समर्थन किया गया है। यहाँ ग्रन्थकार ने केवल शब्द को काव्य मानने वाले शब्दकाव्यतावादी तथा शब्द और अर्थ दोनों को काव्य मानने वाले शब्दार्थकाव्यतावादी आचार्यों के पक्ष और विपक्ष में दी जाने वाली युक्तियों को उपस्थित किया है। इसके बाद काव्य के उत्तम, मध्यम और चित्र इन तीनों भेदों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं। अन्त में युक्तियाँ देकर काव्य के इन तीनों भेदों के विभाग को अनुचित बताया है। इन्होंने चमत्कारिणी उक्तिस्वरूपा वक्रोक्ति को सामान्यालङ्कार (सकलालङ्कारगत अलङ्कार) और उपमादि को विशेषालङ्कार बताया है।

द्वितीय तरङ्ग में वाचक, लक्षक और व्यञ्जक इन तीन प्रकार के शब्दों को बताकर इनके लक्षण भी दिये गये हैं। इनके अर्थों को क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य नाम से अभिहित किया है। इन तीनों का अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना व्यापार की सहायता से अर्थज्ञान होता है। लक्षणा की परिभाषा बताकर उसके छः और आठ भेद बताये हैं किन्तु बाद में चार ही प्रकार की लक्षणा को नवीन आचार्यों ने माना है ऐसा बतलाया गया है। इन लक्षणाभेदों के उदाहरण भी दिये गये हैं। इसके बाद भट्टलोल्लट, कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकरमिश्र आदि मीमांसकों तथा अनुमानवादी महिमभट्ट के मतों को पूर्वपक्ष में रखकर उनका युक्तियों के साथ खण्डन किया गया है। तदनन्तर एक ही व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि अभिधा और लक्षणा की पृथक् सत्ता नहीं होती–इस नवीन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित मत को बताया गया है। अन्त में अतिनवीनों का अनुमान के भीतर व्यञ्जना का अन्तर्भाव हो जाता है–यह मत दिखाया है।

तृतीय तरङ्ग में ध्वनि के लक्षणामूल और अभिधामूल नाम के दो भेद बताये हैं। इन भेदों में से पहले के दो अर्थान्तरसङ्क्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत और दूसरे के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये दो भेद दिखाये गये हैं। लक्षणामूलध्वनि के भेदों के उदाहरण दिखाने के बाद अभिधामूलध्वनि के असंलक्ष्यक्रम

(रसध्वनि) भेद का सविस्तर विवेचन है। रसनिष्पत्तिप्रक्रिया और रसानुभूति के कारण विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारिभाव-इन सभी तत्त्वों का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। रसानुभूति के समय चैतन्य में आवरणभङ्ग होने के कारण सामाजिक के हृदय में रसाभिव्यक्ति होती है और चैतन्य रूप एवं आनन्दस्वरूप आत्मसाक्षात्कार (चमत्कार) का चर्वण होता है। तदनन्तर साधारणीकरण की परिभाषा तथा अभिनवगुप्तानुमोदित रस का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। रस की लोकोत्तरता इसी से ज्ञात हो जाती है कि उसे न कार्य कहा जा सकता है और न ज्ञाप्य। स्थायिभाव का लक्षण बताकर यह शङ्का उठाई गई है कि कई स्थलों पर विभावादियों में से केवल एक की स्थिति होने पर भी रसानुभूति देखी जाती है तो भरत के विभावानुभाव० इत्यादि रससूत्र की सार्थकता कैसे मानी जाय? इसका समाधान मम्मट तथा विश्वनाथ के सिद्धान्त उपस्थित करके किया गया है। यहाँ काव्य के बारह रस गिनाये गये हैं। प्रसिद्ध शृङ्गारादि नौ रसों के अतिरिक्त प्रेयान्, दान्त और उद्धत रस और जोड़े गये हैं। इन प्रधान रसों में किसी किसी के उपभेद दिखाते हुए लक्षण और उदाहरण देकर इनका स्वरूप स्पष्ट किया है। इन बारह रसों के बारह स्थायिभावों को लक्षण तथा उदाहरण दिखाकर उपस्थित किया है। शृङ्गार, हास्य, वीर और अद्भुत ये ही चार प्रधान रस नहीं हुआ करते अपितु सभी रस प्रमुख हैं ऐसा सिद्धान्ती ने बताया है। स्तम्भादि आठ स्थायिभावों के लक्षण और उदाहरण बताकर तेतिस व्यभिचारिभावों का भी लक्षण तथा उदाहरणों सहित निरूपण किया गया है। इस प्रकार असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के सभी भावों का निरूपण करने के उपरान्त संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि के भेदों को गिनाकर ध्वनि के 51 भेद गिना दिये गये हैं।

चतुर्थ तरङ्ग में गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य को उदाहरण समेत दिखाकर शब्दचित्र और अर्थचित्र नामक दो प्रकार के चित्रकाव्यों का उल्लेख किया गया है।

पञ्चम तरङ्ग में सबसे पहले दोषसामान्य का लक्षण दिखाकर पददोष और समासदोष बताये गये हैं। क्लिष्टादि तीन दोष समास में ही उपलब्ध होते हैं। इनमें से प्रत्येक दोष के पहले एक लक्षण को देकर दूसरे परिनिष्ठित लक्षण और तत्सम्बन्धी पदकृत्य को दिखाते हुए दूषकताबीज की ओर इङ्गित किया है और अन्त में उदाहरण दे दिये हैं। च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक इन तीनों को छोड़ कर शेष सभी श्रुतिकटु आदि दोष वाक्यदोष भी माने जाते हैं–यह बताया है। इनमें से कुछ दोष पदांश में भी देखे जाते हैं। इसके बाद वाक्यदोष गिनाकर उनके लक्षण, दूषकताबीज और उदाहरण दिखाये गये हैं। अर्थदोषों को गिनाकर इन सभी दोषों का अन्तर्भाव पूर्वोक्त पददोषों और वाक्यदोषों में कर दिया गया है। रसदोषों को दिखाकर इनमें से

कुछ के लक्षण और उदाहरण दिखा दिये हैं। कुछ का दूषकताबीज बताया है तथा किन्हीं का अन्तर्भाव पददोषों और वाक्य दोषों में कर दिया है।

षष्ठ तरङ्ग में गुणसामान्य का लक्षण दिखाकर माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीन गुणों के लक्षण तथा उनसे सम्बद्ध रस बताये गये हैं। इन गुणों के व्यञ्जक वर्णों को बताकर इनके उदाहरण दिये हैं। इन्हीं गुणों पर आधारित गौडी, पाञ्चाली और वैदर्भी रीतियों का स्वरूप समझाया गया है। गुण और अलङ्कार का भेद बतलाकर दण्डिसम्मत दस शब्दगुणों और दस अर्थगुणों के लक्षण और उदाहरण प्रदर्शित किये हैं। वामनसम्मत काव्यपाकों का उल्लेख करने के अनन्तर तीनों गुणों के भीतर ही सारे गुणों का अन्तर्भाव दिखाने वाले मम्मटानुमोदित मत के साथ ग्रन्थकार ने अपनी असहमति प्रदर्शित की है।

सप्तम तरङ्ग में सबसे पहले शब्दालङ्कार का सामान्यलक्षण बताया गया है। उसके बाद वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, श्लेष, समुच्चय एवं चित्र इन छः अलङ्कारों को इनके लक्षणों तथा उदाहरणों के साथ समझाया है। श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति ये दो भेद वक्रोक्ति के हैं और छेकानुप्रास और वृत्त्यनुप्रास ये दो भेद अनुप्रास के हैं। मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा इन पाँच वृत्तियों को इनके लक्षणों और उदाहरणों के साथ स्पष्ट किया है। यमकालङ्कार के भेदों को उदाहरणसहित बताकर आठ प्रकार के श्लेष को उदाहरणों के साथ दिखाया है।

अष्टम तरङ्ग में सर्वप्रथम अर्थालङ्कार का सामान्यलक्षण बताया हुआ है। इसके बाद आचार्य मम्मट के द्वारा काव्यप्रकाश के दशम उल्लास में प्रतिपादित 61 अलङ्कारों के नामों को 10 कारिकाओं में गिनाया है। आगे इन्हीं अलङ्कारों में से प्रत्येक के लक्षण और पदकृत्य प्रदर्शित करके कहीं कहीं पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष दिखाकर उदाहरण दिये हुए हैं। यहाँ सबसे पहले उपमा का निरूपण किया गया है। इसके 10 भेद हैं– 1. पूर्णोपमा 2. लुप्तोपमा 3. उभयोपमा 4. अनन्वयोपमा 5. कल्पितोपमा 6. असदुपमा 7. मालोपमा 8. रशनोपमा 9. समस्तवस्तुविषया उपमा 10. एकदेशविवर्तिनी उपमा। पूर्णोपमा के पहले श्रौती और आर्थी ये दो भेद हो जाते हैं। इनमें से प्रत्येक के 1. वाक्यगा, 2. समासगा और 3. तद्धितगा ये तीन भेद होकर 6 भेद हो जाते हैं। इस प्रकार पूर्णोपमा 6 प्रकार की बताई है। लुप्तोपमा 5 प्रकार की है 1. धर्मलुप्ता 2. उपमानलुप्ता 3. वाचकलुप्ता 4. द्विलुप्ता 5. त्रिलुप्ता। इन 11 भेदों के साथ उभयोपमादि 9 अन्य भेद मिला इस उपमा के 20 भेद हो जाते हैं। उपमा के प्रसङ्ग में ही अनन्वय और उपमेयोपमा को बता दिया है। अन्य उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति आदि सादृश्यमूलक अलङ्कारों के यहाँ बहुत कम भेदोपभेद बताये हैं। सङ्करालङ्कार

के लक्षणों और उदाहरणों को दिखाने के बाद यह बताया गया है कि अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह और रूपक जैसे अलङ्कार उपमा के भेद ही माने जा सकते हैं।

अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना और अप्रस्तुतप्रशंसा का समावेश अपह्नुति में किया जा सकता है। इसी प्रकार व्यतिरेक, प्रतिवस्तूपमा आदि सादृश्यमूलक अलङ्कारों का अन्तर्भाव उपमा में कर दिया है। विभावना में विरोधाभास और असङ्गति तथा व्याघात का विरोध में अन्तर्भाव किया गया है। समाधि और समुच्चय में विशेष अन्तर नहीं है। अतिशयोक्ति का चमत्कार तो प्रत्येक अलङ्कार में देखा जा सकता है। इसके बाद उपमादोष और उनके उदाहरण बताये हैं। तदनन्तर यह साहित्यसुधासिन्धु सूर्य और चन्द्र के रहने तक बना रहे यह कामना प्रकट की है। बलराम और भगवान् शङ्कर की स्तुति करने के बाद आचार्य विश्वनाथदेव ने अपने वंश तथा अपना भी परिचय दिया है। सबसे अन्त में ग्रन्थ का रचनासमय तथा निर्माणस्थली का नाम चन्द्रचूडपत्तन (वाराणसी) बताया है।

7. साहित्यसुधासिन्धु के कुछ विचारणीय स्थल

प्रथम तरङ्ग

आचार्य विश्वनाथदेव ने काव्य के ये दो लक्षण प्रस्तुत किये हैं–

जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।। सा०सु० 1, 4

यहाँ काव्य का अवच्छेदक धर्म चमत्कारापर्याय परम आनन्द माना गया है। दूसरा लक्षण इस प्रकार है–

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा तदेव लक्षणमस्तु, किमनेनाननुगतेन लक्षणेन। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

इस लक्षण में चमत्कारापरपर्याय स्वर्ग काव्य का अवच्छेदक धर्म माना है।

यहाँ इन्होंने यह भी आग्रह किया है कि आचार्य भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण में जो काव्यलक्षण है उसे ही मान लेना चाहिए। यह पूरा लक्षण इस प्रकार है–

अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।।

सरस्वतीकण्ठाभरण 1, 2

इनके अनुसार ध्वनि के आधार पर काव्यभेद करना अनुचित है।

वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः। तथा हि एतेषु त्रिषु रसादिकं न प्रतीयते प्रतीयते वा। नाद्यः, तदा काव्यत्वविरहापत्तेः। अथ प्रतीयते तदा कथं ध्वनित्वादिना विभागः? न च मध्यमे....कथं न ध्वनित्वम्?

सा० सु० सि० 1, 7 वृत्तिभाग

यहाँ ध्वनि के उत्तम, मध्यम और अवर इन तीन भेदों को अनुचित बताकर परम्पराप्राप्त सिद्धान्त का युक्तिपूर्वक विरोध किया है। मम्मट ने अधिक चमत्कारकारी ध्वनि को उत्तम, कम चमत्कारी गुणीभूतव्यङ्ग्य को मध्यम और अलङ्कारचमत्कारी को चित्र काव्य माना जाता है। किन्तु इस मत से विश्वनाथदेव सहमत नहीं है।

जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।।

सा० सु० सि० 1, 4

इस पहले काव्यलक्षण में चमत्कारापरपर्याय परमानन्द और ब्रह्मानन्द इन शब्दों का प्रयोग इस तथ्य को प्रकट करता है कि चमत्कारानुभव बहिर्वृत्तिप्रधान लौकिक विषयानन्द और गणितज्ञों के ज्ञानप्रधान लौकिक आनन्द से पृथक् होता है। ब्रह्मानन्द में ध्यान निर्विषय और अन्तर्मुखी होता है। श्रवणमात्रेण कहने से आचार्य विश्वनाथदेव काव्य में शब्द की प्रधानता को स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं।

(2) वस्तुतस्तु अदोषं.......काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयम् (सा० सु० सि० 1, 4 वृत्ति) में प्रयुक्त अखण्ड शब्द के आधार पर निम्नलिखित काव्यलक्षण हो सकते हैं–

(क) अखण्ड शब्दार्थ अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य है।

(ख) स्थायिभाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव इन सबका सम्पृक्तभाव काव्य है।

(ग) ज्ञान, प्रकाश और आनन्द की समष्टि काव्य कहलाती है।

इसके बाद यहाँ शब्द को काव्य मानने वाले और शब्दार्थ दोनों को काव्य मानने वाले आचार्यों के पक्ष विपक्ष में कही जाने वाली युक्तियों को उत्तम रीति से सङ्गृहीत किया है।

द्वितीय तरङ्ग

(1) सङ्केत का ग्रहण जाति में मानने के साथ साथ विशेष परिस्थितियों में व्यक्ति में भी माना है–

यत्र वाकाशादिपदेनानन्त्यव्यभिचारस्तत्र सा व्यक्तावपीति नानुपपत्तिः।

सा० सु० सि० 2, 12 वृत्ति

(2)षड्विधा लक्षणा की अनुपपन्नता बताकर चार प्रकार की लक्षणा बताई गई है–

अत्र केचित्-षड्विधात्वमनुपपन्नं गौण्यामप्युपादानादिसम्भवात्........... ......मिति नव्याः।

वहीं 1, 18 वृत्तिभाग

यहाँ शुद्धा लक्षणा के आयुर्घृतम् और गङ्गायां घोषः इन दोनों उदाहरणों का अन्तर्भाव गौणी लक्षणा में कर दिया गया है। क्योंकि आयु घृतम् में कार्यकारणभाव सम्बन्ध के स्थान पर सादृश्यसम्बन्ध माना जा सकता है और गङ्गायां घोषः में भी समान गुणों का योग है। इन दोनों उदाहरणों में सादृश्यसम्बन्ध को इस प्रकार दिखाया जा सकता है–

(क) आयुर्घृतम्–यादृशमायुर्वर्धकं कारणं घृतं तादृशं नान्यत् किमपि कारणमायुर्वर्धकम्।

यहाँ आयुर्वर्धकत्व रूप सदृश गुण का योग होने से उपमानलुप्ता उपमा है।

(ख) गङ्गायां घोषः-यादृशः शीतत्वपावनत्वादिगुणोपेतो गङ्गाप्रवाहस्तादृश एव घोषः।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक प्रकार की लक्षणा में सदृश गुणों का योग ढूँढा जा सकता है। अतः सादृश्य और सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा के भेद करने ठीक नहीं हैं।

(3) व्यञ्जनासिद्धि के प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी ने लक्षणावादी के द्वारा दो लक्षणाओं को मानने का सिद्धान्त दिखाया है। यह बात अन्यत्र देखने में नहीं आती है–

लक्षणाद्वयाङ्गीकारे तु–तावदेव कल्पनीयम्

वहीं 2, 19 वृत्ति

(4) वस्तुतः व्यञ्जना ही एकमात्रवृत्ति है और इसी के अभिधा और लक्षणा नाम हैं–

नव्यास्तु तद्धी..........व्यञ्जनेत्याश्रयणात्।

वहीं 2, 19 वृत्ति

तृतीय तरङ्ग

(1) रसनिष्पत्ति की प्रकिया को वेदान्तदर्शन की सहायता से नवीनरीति से स्पष्ट किया है–

अस्यां चाभिव्यक्तौ.........चैतन्यमानन्दांशे भग्नावरणमानन्दरूपतया परिणतं रस इति निर्गलितार्थः।

सा० सु० सि० 3, 27 वृत्ति

(2) साधारणीकरण की परिभाषा इस प्रकार प्रस्तुत की है–

साधारण्यं च यत्किञ्चित्सम्बन्धविशेषसम्बन्धित्वेनाज्ञायमानत्वे सति ज्ञायमानत्वम्।

वहीं 3, 27 वृत्ति

(3) रस के कार्य और ज्ञाप्य होने और न होने का प्रतिपादन नवीन युक्तियों से किया गया है।

(4) 12 रस तथा उनके 12 ही स्थायिभाव बताये हैं। काव्यप्रकाशोक्त ध्वनि के 51 भेदों को दिखाकर केवल 7 भेदों को उपयोगी माना है।

वहीं 3, 75 वृत्तिभाग

चतुर्थ तरङ्ग

शब्दचित्र और अर्थचित्र की स्थिति गौणप्रधानभाव से स्वीकार की है।

पञ्चम तरङ्ग

(1) येषां ज्ञानाच्चमत्कारो० इत्यादि दोषसामान्य का लक्षण देकर वस्तुतस्तु रसापकर्षजनकज्ञानविषयत्वं दोषत्वम् यह परिनिष्ठित लक्षण भी दिया है।

(2) काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण में श्रुतिकटु आदि सभी दोषों के विस्तृत लक्षण नहीं दिये हैं। किन्तु यहाँ इन दोषों का लक्षण, परिनिष्ठित लक्षण और दूषकताबीज बतलाया गया है।

(3) च्युतसंस्कृति, असमर्थ और निरर्थक को केवल पददोष ही नहीं वाक्यदोष भी माना है।

(4) एक दोष की दूसरे दोष में सङ्क्रान्ति की सम्भावना बताई है। समान दोषों का पारस्परिक सूक्ष्मभेद बताया है। इस सम्बन्ध में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति की शङ्का उठाकर उसका समाधान किया है।

(5) पददोष वाक्यदोष माने जा सकते हैं और वाक्यदोष पददोष बन जाते हैं इस बात का प्रतिपादन पूर्वपक्ष, अन्यपक्ष और सिद्धान्तपक्ष दिखाते हुए किया है।

(6) प्राचीन आचार्यों के द्वारा बतलाये हुए अपुष्टार्थ आदि दोषों का अधिकपद, निरर्थक आदि में अन्तर्भाव बतलाया है। पुनरुक्त आदि दोषों की अदोषता अर्थात् दोषाभासता का भी प्रतिपादन है।

षष्ठ तरङ्ग

(1) गुणों की वर्णवृत्ति न होकर रसवृत्ति होती है इसका युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

(2) 10 शब्दगुणों और 10 अर्थगुणों का 3 गुणों में अन्तर्भाव स्वीकार करने वाले मत से अपनी अस्वीकृति प्रदर्शित की है।

सप्तम तरङ्ग

(1) व्यञ्जना और श्लेष के अन्तर को स्पष्ट किया है।

(2) पुनरुक्तवदाभास को अलङ्कार मानने और न मानने के विषय में विशेष विवेचन है।

अष्टम तरङ्ग

(1) सभी छोटे बड़े अलङ्कारों के नव्यन्याय की शैली में परिनिष्ठित लक्षण दिये गये हैं। इस कारण इन लक्षणों में साङ्कर्य, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है।

(2) उपमा और अनन्वय जैसे सादृश्यमूलक अलङ्कारों तथा दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास जैसे आंशिक अन्तर रखने वाले अलङ्कारों में सूक्ष्म भेद बताया है।

(3) सादृश्यमूलक अनन्वय, उपमेयोपमा आदि अलङ्कारों का उपमा में तथा विभावनादि का विरोधाभासादि में अन्तर्भाव दिखाया है।

ग्रन्थगत दोष–नव्यन्याय की शैली के कारण कहीं कहीं क्लिष्टता है और दृश्यकाव्य के विभिन्न रूपकों के विभिन्न तत्त्वों और भेदोपभेदों तथा नायकनायिकादि का विवेचन नहीं किया है। श्रव्यकाव्यों के भी भेद नहीं बताये हैं।

8. साहित्यसुधासिन्धु में प्रतिपादित प्रमुख काव्यसिद्धान्तों की समीक्षा

साहित्यसुधासिन्धु में अनेक काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इनमें भरत मुनि से लेकर अपने समय (सोलहवीं शती) तक के आचार्यों के सिद्धान्तों को समाविष्ट करते हुए विश्वनाथदेव ने अपने विचारों को भी प्रस्तुत किया है। इन्होंने कहीं कहीं अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित इन सिद्धान्तों को

परिष्कृत रूप देकर रखा है और कहीं कहीं अपने मौलिक सिद्धान्त भी बताये हैं। यहाँ इनमें से कतिपय सिद्धान्तों की आलोचनात्मक और तुलनात्मक समीक्षा की जा रही है।

I काव्यप्रयोजन

काव्य के प्रयोजनों को बताते हुए विश्वनाथदेव ने कहा है–

इह खलु सामाजिकपरीक्षितमेव काव्यं स्वर्गापवर्गादिजनकमिति तत्परीक्षार्थमयमारम्भः। अत एवोक्तं काव्यप्रकाशे....अत एव अन्यत्रापि।[1]

इस संसार में सामाजिकों के द्वारा भलीभाँति परीक्षा करके देखा गया अर्थात् उनके द्वारा अनुभव किया गया काव्य ही स्वर्ग (सुख , आनन्द एवं चमत्कारानुभूति) और मोक्षादि का कारण बनता है इसलिए काव्य (के घटक तत्त्वों) की समीक्षा(विचार विमर्श) के लिए मेरा यह प्रयास है।

अपने पक्ष के समर्थन के लिए उन्होंने भोजराज के द्वारा प्रतिपादित दो काव्य-प्रयोजनों तथा मम्मट के द्वारा बताते हुए छः काव्यप्रयोजनों को बतलाया है।[2] इन दोनों आचार्यों के मतों को उद्धृत करने से दो बातें प्रकट होती हैं- 1. विश्वनाथदेव इन आचार्यों के द्वारा बताये गये सभी काव्यप्रयोजनों से सहमत हैं और 2. काव्य से आनन्द की प्राप्ति होती है ऐसा दूसरे आचार्य भी मानते हैं यह तथ्य अत एवोक्तं काव्यप्रकाशे तथा अत एवान्यत्रापि इन वाक्यांशों से प्रकट होता है।

आगे चलकर स्वनिर्मित काव्यलक्षण उपस्थित करते हुए इन्होंने कहा है–

जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।।[3]

इस लक्षण में प्रयुक्त ब्रह्मानन्दसहोदरः परमानन्दः यह वाक्यांश काव्य का अवच्छेदक धर्म है और काव्य के प्रयोजन को भी सूचित कर रहा है। काव्य के दूसरे लक्षण में परमानन्द के पर्यायवाची स्वर्गविशेष अर्थात् आनन्दविशेष (चमत्कार) को

---

1. साहित्यसुधासिन्धु, 1, 3 वृत्ति
2. (क) अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति।। सरस्वतीकण्ठाभरण 1,2
   (ख) काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
   सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।। इति, काव्यप्रकाश 1,2
3. साहित्यसुधासिन्धु 1,4

काव्य का अवच्छेदक धर्म बताया गया है। वहाँ भी अप्रत्यक्ष रूप में काव्य का प्रयोजन चमत्कारनिष्पत्ति माना जा सकता है।[1]

प्राचीन विद्वान् मम्मट ने ऐसी सद्यः परनिर्वृति (तुरन्त परमानन्द) प्राप्ति को काव्य का सर्वोपरि प्रयोजन बताया है जो रसास्वादन से उत्पन्न होती है। इस अनुभूति के समय किसी और प्रकार के ज्ञान की प्रतीति नहीं होती।[2] इसी प्रकार अतिनवीन आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी का मानना है कि आनन्दकोष अर्थात् प्रचुर आनन्द (चमत्कार) की अभिव्यक्ति में अलौकिक विभावन व्यापार से संवलित अलङ्कार से युक्त अर्थ की संवित् (ज्ञान) सबका मङ्गल करने वाली कविता (काव्य) है।[3]

II काव्यहेतु

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में शक्ति, निपुणता और अभ्यास इन तीनों को काव्य का कारण माना है। कवित्वबीज रूप संस्कारविशेष का नाम शक्ति है। इसी के कारण कवि अपनी कविता का निर्माण करता है। मम्मटोत्तरवर्ती श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य, पण्डितराजजगन्नाथ, सिद्धिचन्द्रगणि आदि आचार्यों ने केवल प्रतिभा को काव्य का कारण माना है। रेवाप्रसाद द्विवेदी का (काव्यालङ्कारकारिका में) कहना है कि जिस प्रकार मेघ के अन्दर विद्युत् चमकती है उसी प्रकार बुद्धि के अन्दर कभी कभी अदृष्टचर एवं अपूर्वकल्पित अर्थ का दर्शन होता है। इसी अर्थप्रतिभासन को प्रतिभा कहते हैं। यह काव्य का उपादान और निमित्त कारण है।[4] रवि भट्टाचार्य ने

---

1. वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा च तदेव लक्षणमस्तु। साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति
2. काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
   सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।
   सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् करोतीति। काव्यप्रकाश 1,2 तथा वृत्ति
3. आनन्दकोषस्योल्लासे लोकोत्तरविभावना।
   अलङ्कृतार्थसंवित्तिः कविता सर्वमङ्गला।। काव्यालङ्कारकारिका प्रथम कारिका
4. (क) कारणं प्रतिभा काव्ये सा चार्थप्रतिभासनम्।
   प्रज्ञा कादम्बिनीगर्भे विद्युदुद्योतसोदरम्।।
   उपादानं निमित्तं च काव्यस्य प्रतिभैव सा। काव्यालङ्कारकारिका 11 तथा 19 कारिकायें।
   (ख) सर्वेषामपि भावानां कलानां प्रतिभा मता।। नाट्यानुशासन, रसभोग पञ्चमोन्मेष

चमत्कार को भी प्रतिभादि की तरह काव्यहेतु माना है।[1] इसी प्रतिभा से कविगण सामाजिक को चित्रलिखित सा करके स्थिर बना देते हैं ऐसा विश्वनाथदेव ने कहा है।[2] यहाँ ये अपने पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन के इस विचार से सहमत हैं कि अव्युत्पत्ति (अज्ञान) से उत्पन्न काव्यदोष तो कवि की प्रतिभा से आच्छादित हो जाता है किन्तु उस (कवि) का प्रतिभा के अभाव से जनित दोष आचार्यों को तुरन्त ज्ञात हो जाता है।[3]

III काव्यलक्षण

आचार्य विश्वनाथदेव ने अपने ग्रन्थ साहित्यसुधासिन्धु में काव्य के निम्नलिखित दो लक्षण प्रस्तुत किये हैं–

प्रथम काव्यलक्षण

जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।।

जिस (वाक्य) के सुनने भर से ब्रह्मानन्दसहोदर (ब्रह्मसाक्षात्कार के अनुभव के आनन्द के समान) महान् आनन्द उत्पन्न होता है वह वाक्य काव्य कहलाता है।

इस काव्यलक्षण में वाक्य की काव्यता स्वीकार की गई है। देवदत्तो ग्रामं गच्छति जैसे जिन चमत्कारहीन वाक्यों से आनन्द की अनुभूति नहीं होती उनमें इस लक्षण की अतिव्याप्ति न हो जाये इसलिए यहाँ ब्रह्मानन्दसहोदरपरमानन्द इस विशेषण का प्रयोग किया गया है। इससे यह अभिप्राय भी निकलता है कि रसास्वाद बहिर्वृत्तिप्रधान लौकिक विषयानन्द और गणितज्ञों के ज्ञानप्रधान लौकिक आनन्द से पृथक् होता है। इनके पूर्ववर्ती आचार्य अभिनवगुप्त ने भी काव्यानन्द को ब्रह्मास्वाद के समान माना है। सविकल्पक और निर्विकल्पक न होते हुए भी उभयाभावस्वरूपात्मक

---

1. अस्य कारणमाह-इदमत्राकूतम्–
शक्त्यादित्रयं काव्यकारणमिव काव्ये चमत्कारोऽपि काव्यहेतुः। काव्यप्रकाश 1,3 रविभट्टाचार्यकृत मधुमती टीका।
2. अत एवास्ति कश्चित् प्रतिभावतां विशेषोपायो यः सामाजिकांश्चित्रार्पितानिव कृत्वा दोषान्न ग्राहयतीति वदन्ति। साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति।
3. अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
किन्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।। ध्वन्यलोक 3,6 वृत्ति

यह रसास्वाद (काव्यानन्द) अलौकिक होता है।[1] इसी ब्रह्मास्वादसहोदर काव्यनिष्ठ परमानन्द की प्रतीति कराने वाला वाक्य काव्य होता है।

यहाँ विश्वनाथदेव ने वाक्य को काव्य माना है। इस लक्षण में श्रवणमात्रेण पद का प्रयोग किया गया है। क्योंकि श्रवण वाक्य का ही होता है उसके अर्थ का नहीं अतः काव्यत्व शब्दसमूह रूप वाक्य में रहता है। द्वितीय तरङ्ग को आरम्भ करने से पहले इन्होंने स्पष्ट रूप से शब्दः काव्यम् यह काव्यलक्षण स्वीकार किया है साथ ही शब्द का लक्षण भी दिया है–

शब्दः काव्यमित्यभिहिते कोऽसौ शब्द इत्याकाङ्क्षायामाह–

आकाङ्क्षायोग्यतायुक्तस्तात्पर्यादिसमन्वितः ।
शाब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिकीर्तितः ।।[2]

शब्द काव्य होता है यह बतला दिये जाने पर वह शब्द क्या है यह जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार (शब्द का लक्षण) कहते हैं–

आकाङ्क्षा और योग्यता से युक्त एवं तात्पर्य और आसत्ति से समन्वित शब्दजन्य ज्ञान का जो अनुभव कराता है वह शब्द कहलाता है।

आचार्य विश्वनाथदेव ने इससे पहले प्रथम तरङ्ग में दिये इस काव्यलक्षण में तद् वाक्यं काव्यमुच्यते कहकर वाक्यकाव्यतावाद का समर्थन किया है। वस्तुतः यहाँ शब्दः काव्यमित्यभिहिते कोऽसौ शब्दः इसके स्थान पर वाक्यं काव्यमित्यभिहिते किं तद् वाक्यम् यह प्रयोग भी किया जा सकता था और फिर वाक्य का लक्षण उपस्थित करना भी उचित हो सकता था। परन्तु इन्होंने ऐसा न करके शब्दः काव्यम् कह कर शब्द का लक्षण दिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि इनकी दृष्टि में वाक्यं काव्यम् और शब्दः काव्यम् इन दोनों का एक ही अर्थ है तथा वाक्य और पद इन दोनों को पर्यायवाची माना जा सकता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का वाक्यलक्षण विश्वनाथदेव के इस शब्दलक्षण से मिलता है।[3]

---

1. (क) ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।
काव्यप्रकाश 4.28 वृत्ति
(ख) उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववल्लोकोत्तरतामेव गमयति न तु विरोधमिति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादाः। काव्यप्रकाश 4. 28 वृत्ति
2. साहित्यसुधासिन्धु 2.1
3. वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। साहित्यदर्पण 2.1

इस काव्यलक्षण में ब्रह्मास्वादसहोदरपरमानन्दजनकत्व काव्य का अवच्छेदक प्रथम धर्म है यह स्वीकार किया गया है। काव्य के परमानन्दजनकत्व रूप गुण को बताने के कारण यह लक्षण काव्य का तटस्थलक्षण है साथ ही वाक्यं काव्यमुच्यते इस अंश से वाक्य रूप (आकृति अवयवादिविशेष रूप) वस्तु का परिचय प्राप्त होने से यह स्वरूपलक्षण भी है। इस लक्षण को सङ्क्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

ब्रह्मानन्दसहोदरपरमानन्दजनकं वाक्यं काव्यम्।

विश्वनाथदेव के इस काव्यलक्षण तथा पण्डितराजजगन्नाथ के निम्नलिखित काव्यलक्षण में कोई तात्त्विक भेद नहीं है–

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः।[1]

रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा जाता है। रमणीयता लोकोत्तर आह्लादजनकज्ञान का विषय बनने वाला एक वस्तुधर्म है और वह रमणीयता हमारे ज्ञान का विषय बनकर लोकोत्तर आह्लाद प्रदान करती है। इस अलौकिक आह्लाद का दूसरा नाम चमत्कार है। यह साक्षात् अनुभव का विषय है।

ये दोनों आचार्य आनन्द या आह्लाद को काव्य का अनिवार्य तत्त्व मानते हैं। इस काव्यलक्षण का आधार प्राचीन है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्धन ने अभाववादियों के पूर्वपक्ष को उपस्थित करते हुए उनके मत को इस प्रकार बताया है–

अन्ये ब्रूयुः–नास्त्येव ध्वनिः सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।[2]

दूसरे ध्वन्यभाववादी कहते हैं कि ध्वनि है ही नहीं। क्योंकि सहृदयहृदयाह्लादक-शब्दार्थयुक्तत्व ही काव्य का लक्षण है। इस काव्यलक्षण में प्रयुक्त शब्दार्थमयत्वमेव के स्थान पर यदि वाक्यमेव का प्रयोग कर दिया जाये तो इस लक्षण का स्वरूप यह हो जायेगा– सहृदयहृदयाह्लादि वाक्यमेव काव्यम्। यह लक्षण विश्वनाथदेव के जायते परमानन्दः इत्यादि काव्यलक्षण के बहुत अधिक निकट है। इस काव्यलक्षण में

---

1. रसगङ्गाधर 1, 1 तथा वृत्ति
2. ध्वन्यालोक 1, 1 वृत्ति

प्रयुक्त परमानन्द और आस्वादापरपर्याय ब्रह्मानन्दसहोदर शब्दों को आचार्य मम्मट तथा कविराज विश्वनाथ की कृतियों से लिया गया प्रतीत होता है।[1] वाक्य को काव्य मानने का सिद्धान्त साहित्यदर्पण से लिया गया है।[2]

द्वितीय काव्यलक्षण

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेष-जनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा च तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम्।[3]

वास्तव में तो अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्य से बताये हुए स्वर्गविशेष अर्थात् सुखविशेष के जनक उस काव्य के भीतर रहने वाली जनकता के अवच्छेदक अखण्डधर्म काव्यत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए और वही काव्य का लक्षण हो जाये इन अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि अननुगत (अर्थात् जातिसाङ्कर्यादि के कारण अपने लक्ष्य पर पूरे न घटने वाले असङ्गत) लक्षण से क्या लाभ? क्योंकि पूर्ववर्ती काव्यलक्षणकारों के द्वारा बनाये गये लक्षण अननुगत (असङ्गत) हैं और हमारा यह लक्षण अनुगत (सङ्गत) है। इसलिए यह काव्यलक्षणविषयक सारा सिद्धान्त भलीभाँति स्थापित हो गया है।

इस लक्षण में प्रयुक्त अदोषं गुणवत् इत्यादि समस्त पद का विग्रह इस प्रकार है–

अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिना वाक्येन प्रतिपादितः यः स्वर्गविशेषः तस्य जनकतायाः (स्वर्गविशेषस्य जनकं यत् काव्यं तन्निष्ठजनकतायाः) अवच्छेदकं काव्यत्वम् (तच्च) अखण्डम्।

विश्नाथदेव के द्वारा प्रस्तुत यह द्वितीय काव्यलक्षण वाक्यविन्यास में सावधानी न रखने के कारण क्लिष्ट एवं दुरूह हो गया है। इसके अतिरिक्त यह लक्षण काव्य के पर्यवसित लक्षण के रूप में नव्यन्याय की शैली से प्रस्तुत किया गया है इस कारण इसकी क्लिष्टता और दुरूहता में और वृद्धि हो गई है। वस्तुतः इस लक्षण का

---

1. (क) विगलितवेद्यान्तरमानन्दम्। काव्यप्रकाश 1, 2 वृत्ति
   ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् शृङ्गारादिको रसः। वही 4, 28 वृत्ति
   (ख) वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः। साहित्यदर्पण 3, 2
2. वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। साहित्यदर्पण 1, 3
3. साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादित: इतना अंश प्रमाणवाक्य है तथा स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वम् अखण्डं कल्पनीयम् यह अंश काव्यलक्षणांश है। इन दोनों अंशों को कुछ आगे पीछे करके परिवर्तित रूप में रख देने से यह काव्यलक्षण सरल एवं सुस्पष्ट हो सकता है। यदि पहले प्रमाणवाक्य को रखकर बाद में काव्यलक्षण रख दिया जाये तो इसका स्वरूप यह बन सकता है-

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितविधिना स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वम् अखण्डं कल्पनीयम्।

वास्तव में तो (भोजराज के द्वारा) अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्य से प्रतिपादित विधि से अर्थात् सरस्वतीकण्ठाभरण की इस कारिका में जैसे काव्य का अवच्छेदक धर्म स्वर्ग (सुखविशेष) की जनकता बताया है वैसे ही सुखविशेष के जनक काव्य के भीतर रहने वाली काव्यता के अवच्छेदक अखण्डधर्म रूप काव्यत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए। यदि इसी प्रमाणवाक्य को बाद में रखा जाए तो इस लक्षण का स्वरूप इस प्रकार का बन सकता है-

वस्तुतस्तु स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वम् अखण्डं कल्पनीयम् एतदेव अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितम्।

वास्तव में तो सुखविशेष के जनक काव्य के भीतर रहने वाली काव्यता के अवच्छेदक अखण्डधर्म रूप काव्यत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए यही बात (भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण में) अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि कारिकावाक्य से निरूपित की गई है।

यदि इस दूसरे काव्यलक्षण में से अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादित: यह काव्यलक्षणांश पृथक् कर दिया जाये तो स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यमखण्डम् इतना ही काव्यलक्षण बनेगा।

विश्वनाथदेव के द्वारा प्रस्तुत इस काव्यलक्षण का सरल अर्थ इस रूप में समझा जा सकता है- अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्य से जिस सुखविशेष का प्रतिपादन किया गया है उसी सुखविशेष को काव्य उत्पन्न करता है। वस्तुत: भोजराज के सरस्वतीकण्ठभरण से उद्धृत किया गया यह पूरा कारिकावाक्य इस प्रकार है-

अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति।।

सरस्वतीकण्ठाभरण 1, 2

आचार्य विश्वनाथदेव के अनुसार इस पूरे कारिकावाक्य में इस बात का प्रतिपादन किया गया है कि वाक्य स्वर्गविशेष अर्थात् सुखविशेष का समुत्पादक है। इसलिए सरल शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आचार्य भोजराज ने अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्य से जिस सुखविशेष (प्रीति) को काव्य का प्रयोजन माना है उसी सुखविशेष का उत्पादक काव्य है। यहाँ प्रत्यक्ष रूप से आचार्य यह बताना चाहते हैं कि काव्य को सुखविशेष का जनक मानने का हमारा आधार भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण की यह कारिका है।

वस्तुतः भोजराज के सरस्वतीकण्ठाभरण से उद्धृत इस कारिका में दो वाक्यांश है–

1. अदोषं गुणवत् अलङ्कारैरलङ्कृतं रसान्वितं (यत्) काव्यम्।

2. (तत्) कुर्वन् कविः कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति।

पहले वाक्यांश में काव्यलक्षण है तथा दूसरे वाक्यांश में काव्यप्रयोजन है। ये दोनों वाक्य स्वतन्त्र रूप से दो भिन्न भिन्न अर्थों की ओर निर्देश करते हैं। किन्तु विश्वनाथदेव ने पहले वाक्यांश को दूसरे वाक्यांश का अङ्ग बना दिया है। इस प्रकार दूसरे वाक्यांश को प्रधान मानकर समस्त कारिकावाक्य से सुखविशेष की प्राप्ति गतार्थ कराई है। अपने पर्यवसित काव्यलक्षण के लिए इन अंशों का विश्वनाथदेव ने बड़े विचित्र ढंग से प्रयोग किया है। उनके मनोगत भाव को ध्यान में रखकर इस कारिका से इस प्रकार का अर्थ निकाला जा सकता है–

अदोषत्वादिविशेषणों से विशिष्ट काव्य की रचना करके कवि कीर्ति और स्वर्ग को प्राप्त करता है तथा उसके काव्य को पढ़कर सामाजिक को भी इस प्रकार का सुखविशेष प्राप्त हो जाता है। इस भाँति जैसा सुखविशेष उत्पन्न करने का प्रयोजन भोजराज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में बताया है वैसा ही सुखविशेष उत्पन्न करना काव्य का धर्म होता है यह विश्वनाथदेव के कथन का निर्गलितार्थ है।

अपने इस दूसरे पर्यवसित काव्यलक्षण को आचार्य विश्वनाथदेव ने अनुगत बताया है तथा अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के आस्वादजीवातुपदसन्दर्भः काव्यम् एवं अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि काव्यलक्षणों को अननुगत कहा है। अपने इस काव्यलक्षण के तुरन्त बाद उन्होंने कहा है–

तथा च तदेव काव्यलक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम्।[1]

1. साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्तिभाग

और (अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्यप्रतिपादित स्वर्गविशेष का समुत्पादक काव्य होता है इस प्रकार का) हमारा बताया हुआ यह काव्यलक्षण ही मान्य हो जाना चाहिए। इस अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि मम्मट और उनके समर्थकों द्वारा माने गये असङ्गत काव्यलक्षण को मानने से कोई लाभ नहीं है। इस प्रकार हमने उपयुक्त काव्यलक्षण को सिद्ध कर दिया है।

जो लक्षण अपने लक्ष्य पर पूरा नहीं घटता है, लक्ष्य से बाहर चला जाता है और असम्भवदोषग्रस्त होता है वह अननुगत अर्थात् असङ्गत होता है। यदि लक्षण अपने लक्ष्य पर पूरा घटता है, उससे बाहर भी नहीं जाता और उसमें असम्भव दोष भी नहीं होता तो वह अनुगत (सङ्गत) होता है। अन्यूनातिरिक्तविषयत्वं लक्षणत्वम्-जो अपने विषय (उदाहरण) पर न तो न्यून (कम) और न अतिरिक्त (उससे बाहर) होकर घटे अर्थात् जो अपने विषय पर पूरा पूरा घटे वही लक्षण अनुगत (ठीक) होता है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्य विश्वनाथदेव ने आचार्य मम्मट तथा उनके समर्थकों के अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि काव्यलक्षण को अननुगत किसलिए कहा है? वस्तुत: वहाँ इसी काव्यलक्षण को अननुगत नहीं कहा है अपितु वे आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, आस्वादजीवातु: पदसन्दर्भ: काव्यम् इत्यादि अन्य लक्षणों को भी अननुगत बता रहे हैं क्योंकि इन लक्षणों के सम्बन्ध में पक्ष विपक्ष में युक्ति, प्रत्युक्ति, तर्क एवं प्रतितर्क किये जाते हैं। इस कारण अदौषौ तद्धि शब्दार्थौ यह मत तो इन असङ्गत मतों का उपलक्षण है क्योंकि यह अपने साथ अन्य मतों का भी ग्रहण कर रहा है। अत: न केवल यही अकेला अननुगत है बल्कि इसके साथ ही दूसरे लक्षण भी अननुगत हैं यह तात्पर्य है।

अदौषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि काव्यलक्षण इसलिए अननुगत है कि शब्द और अर्थ दोनों में काव्य मानने पर शब्द में शब्दत्व और अर्थ में अर्थत्व रूप दो जातिधर्म एक वस्तु काव्य में कैसे रहेंगे? इस प्रकार दो जातिधर्मों के एक ही आश्रय में रहने से जातिसाङ्कर्य दोष आने के कारण यह लक्षण अननुगत अर्थात् असङ्गत है।[1] यदि शब्द: काव्यम् कहा जाये तो इस शब्द में अर्थ का भी अध्याहार किया जाता है क्योंकि अर्थप्रतिपादक शब्द ही काव्य में रखा जाता है। शब्द: काव्यम् तथा वाक्यं काव्यम् इन दोनों प्रकारों से शब्दप्राधान्यकाव्यतावाद का कथन होता है। शब्द: काव्यम् कहने से शब्द न केवल अपना ग्रहण करता है अपितु स्वसम्बद्ध अर्थ का भी

1. साङ्कर्यापत्त्या तादृशजात्यनङ्गीकारात्। सा० 1, 4 वृत्ति

ग्रहण करता है। निरर्थक शब्द से जब किसी अर्थ की प्रतीति ही नहीं होती तो उसका प्रयोग करना या न करना बराबर है। इसी प्रकार वाक्य तभी होता है जब किसी पदसमूह में आकाङ्क्षा, योग्यता तथा आसत्ति यह तीन धर्म पाये जायें। इन तीनों के होने पर ही वह पदसमूह सार्थक बन पाता है। किन्तु शब्दः काव्यम् अथवा वाक्यं काव्यम् इस लक्षण को मानने में यह आपत्ति आती है-रघुवंशादि श्रव्यकाव्य तो श्रवणीय एवं पठनीय होने के कारण काव्य के लक्षण के अन्तर्गत आ जायेंगे। पर अभिज्ञानशाकुन्तलादि दृश्यकाव्य इन लक्षणों के लक्ष्य नहीं बन सकते क्योंकि वे सुनने और पढ़ने के अतिरिक्त देखे भी जाते हैं। इसके अतिरिक्त काव्यं श्रुतं काव्यं पठितम् यह व्यवहार कैसे सङ्गत होगा? क्योंकि बोध तो अर्थ का ही होता है। यदि अर्थ को काव्य नहीं माना जाए तो अर्थदोष, अर्थगुण तथा अर्थालङ्कार के निरूपण का क्या प्रयोजन होगा? शब्द का चमत्कार तो शब्दालङ्कारों, शब्दगुणों तथा शाब्दीव्यञ्जना में ही देखने को मिलता है किन्तु अर्थ का चमत्कार अर्थालङ्कार, अर्थगुण, अभिधामूल, लक्षणामूल, और व्यञ्जनामूल त्रिविधध्वनि तथा कविप्रौढोक्तिसिद्ध अर्थों में देखने को मिलता है। रसादिध्वनि की अभिव्यक्ति में तो शब्द के समान अर्थ का व्यापार भी प्रधान होता है तो अर्थ की उपेक्षा कैसे की जा सकती है? कवि जैसे शब्द का निर्माण करता है वैसे ही अर्थ का भी निर्माण वही करता है। इसलिए अर्थ भी कविकर्म है। जब शब्द की तुलना में अर्थ का महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं है तो रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् जैसे काव्यलक्षणों में अर्थ को गौण स्थान तथा शब्द को प्रधान स्थान क्यों दिया जाता है? तददोषौ शब्दार्थौ इत्यादि काव्यलक्षण में मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनों को जो समान महत्त्व दिया है वह उसे शब्दप्राधान्यकाव्यतावादियों ने क्यों नहीं प्रदान किया? मम्मट ने शब्द और अर्थ को समान महत्त्व दिया है किन्तु इनके शब्दार्थयुगलकाव्यतावाद पर विश्वनाथ, विश्वनाथदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत से आक्षेप किये हैं। उनके द्वारा शब्दार्थों के जो अदोषौ, सगुणौ और अनलङ्कृती पुनः क्वापि विशेषण रखे गये हैं उनका भी उत्तरवर्ती विश्वनाथ जैसे आचार्यों ने खण्डन किया है। विश्वनाथ के इस खण्डन में सचाई भी है। दोषविहीन होना एवं गुण और अलङ्कारों से समन्वित होना काव्य के बाह्य धर्म हैं। गुण यद्यपि रसात्मक काव्य के आन्तरिक धर्म हैं तथापि जब ये प्रसादादि गुण रीति के रूप में काव्य के बाह्य स्वरूप में प्रमुखता से रहते हैं तो ये भी अलङ्कारों की तरह काव्य की बाह्य शोभा को बढ़ाया करते हैं। इसलिए आचार्य विश्वनाथदेव काव्य के पहले तथा दूसरे पर्यवसित लक्षण को रखते समय अदोषता, गुणों और अलङ्कारों का उल्लेख नहीं करते हैं। वे ब्रह्मास्वादसहोदरपरमानन्दजनकता

तथा सुखविशेष की जनकता को ही काव्यता मानते हैं। इस प्रकार शब्दार्थौ काव्यम्, शब्द: काव्यम् या वाक्यं काव्यम् मानने वालों के पक्षों में आने वाले दोषों से रहित होने के कारण इनका द्वितीय काव्यलक्षण अनुगत काव्यलक्षण बन जाता है। इनका स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वम् यह काव्यलक्षण बहुत मात्रा में असङ्गतियों से दूर हो गया है। इसी कारण इन्होंने अपने काव्यलक्षण को प्रत्यक्ष रूप में अनुगत बताया है।

यद्यपि इस काव्यलक्षण को विश्वनाथदेव की ओर से अनुगत काव्यलक्षण के रूप में उपस्थित करने का दावा किया गया है पर यह लक्षण भी सम्पूर्ण लक्षण नहीं है। इसका स्वर्गविशेषजनकताच्छेदक विशेषण काव्य के गुणविशेष का परिचय तो कराता है परन्तु उसके स्वरूप को नहीं बताता है। काव्य का जो लक्षण गुण, क्रिया आदि विशेषणों से किसी वस्तु का परिचय कराता है वह तटस्थ लक्षण कहलाता है। क्योंकि यहाँ गुणादि के द्वारा काव्य का ज्ञान हो रहा है इस कारण काव्य का यह लक्षण तटस्थलक्षणमात्र बनकर रह गया है। इससे काव्य के (आकृति और अवयव भूत) शब्दार्थ रूप मूर्ततत्त्वों का ज्ञान नहीं होता है। आकृति, अवयवादि विशेष रूपों के द्वारा वस्तु का ज्ञान कराने वाला स्वरूपलक्षण होता है। इस लक्षण से ही लक्ष्य वस्तु का पूर्णतया ज्ञान होना सम्भव है। इसलिए इस लक्षण में परिष्कार करना आवश्यक है। जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदर: इत्यादि पहले काव्यलक्षण में विश्वनाथदेव वाक्य की काव्यता स्वीकार करते हैं। इस कारण इनके दूसरे काव्यलक्षण में यदि अर्थप्रतिपादकवाक्यम् इन शब्दों का समावेश कर दिया जाये तो तटस्थ और स्वरूप लक्षण का समन्वित तथा परिष्कृत रूप इस प्रकार हो जायेगा–

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेष-जनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकवाक्यं काव्यम्।

स्वर्गविशेष (सुखविशेष) के जनक अर्थविषयक (पुन: पुन: अनुसन्धानात्मिका धारावाहिकप्रतीति में रहने वाली) जनकता के अवच्छेदक अर्थ का प्रतिपादक वाक्य काव्य है।

काव्य के इस परिष्कृत लक्षण के साथ पण्डितराजजगन्नाथ के निम्नलिखित प्रथम पर्यवसित काव्यलक्षण का पूर्णसाम्य परिलक्षित होता है–

इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम् (काव्यत्वम्)।[1]

1. रसगङ्गाधर 1,1 वृत्ति

इस प्रकार लोकोत्तर आह्लाद की जनिका भावना के विषयभूत अखण्ड अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है।

विश्वनाथदेव के काव्यलक्षण में स्वर्ग तथा वाक्य शब्द का प्रयोग है और पण्डितराज के काव्यलक्षण में चमत्कार और शब्द ये पद प्रयुक्त हुए हैं। स्वर्ग, सुख चमत्कार और आस्वाद पद काव्यशास्त्र में पर्यायवाची समझे जाते हैं। वस्तुतः स्वर्गपद ऐसे सुख का वाचक है जिसमें लेशमात्र भी दु:ख नहीं होता। इसके पर्यवसान में भी ग्लानि नहीं होती। इसलिए काव्यजनित सुख को ब्रह्मानन्दसहोदर परमानन्द कहा जाता है। पण्डितराजजगन्नाथ ने चमत्कार को आनन्द रूप बताया है।[1] इसी प्रकार वाक्य और शब्द भी पर्यायवाची हैं। साहित्यदर्पण में आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति से युक्त पदसमूह को वाक्य बताया गया है।[2]

साहित्यसुधासिन्धु में शब्द का निम्नलिखित लक्षण दिया हुआ है–

आकाङ्क्षायोग्यतायुक्तस्तात्पर्यादिसमन्वितः ।
शाब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिकीर्तितः।।[3]

आकाङ्क्षा और योग्यता से युक्त तथा तात्पर्य एवं आसत्ति आदि से समन्वित शब्दजन्यज्ञान का जो अनुभव (बोध) कराता है वह शब्द कहलाता है। पण्डितराजजगन्नाथ का तृतीय पर्यवसित काव्यलक्षण इस प्रकार है–

स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।[4]

वस्तुतः पण्डितराजजगन्नाथ के इस काव्यलक्षण तथा साहित्यसुधासिन्धु के काव्यलक्षण में चमत्कार तथा स्वर्गविशेष पदों का ही अन्तर है इसके तात्पर्य में कोई

---

1. (क) स्वर्गः – न्यायमते स्वर्गलक्षणं यथा – दु:खासम्भिन्नत्वादिविशिष्टसुखत्वं स्वर्गत्वं तदेव स्वर्गपदशक्यतावच्छेदकमिति सिद्धान्तः। आदिपदेन अनन्तरदु:खग्रस्त-भिन्नत्वाभिलाषोपनीतत्वयोः परिग्रहः। अतएव–

   यन्न दु:खेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
   अभिलाषोपनीतं यत् तत् सुखं स्वःपदास्पदम्।।

   इति स्वरादिपदशक्तिग्राहकार्थवादोऽपि सङ्गच्छते। स्वर्गः 485 पृष्ठे शब्दकल्पद्रुमः राधाकान्तदेवकृतः।

   (ख) चमत्कृतिरानन्दविशेषः रसगङ्गाधर द्वितीयानन उपमाप्रकरण
2. वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। साहित्यदर्पण 2,1
3. साहित्यसुधासिन्धु 2, 8
4. रसगङ्गाधर 1, 4 वृत्ति

तात्त्विक अन्तर नहीं है। पण्डितराज के चमत्कारत्ववत्त्वमेव के स्थान पर यदि स्वर्गविशेषत्ववत्त्वमेव पद रख दिया जाये तो निम्नलिखित काव्यलक्षण विश्वनाथदेवानुमोदित बन जायेगा–

स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण स्वर्गविशेषत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वम्।

विश्वनाथदेव के जायते परमानन्दो इत्यादि प्रथम काव्यलक्षण की पण्डितराजजगन्नाथ के रमणीयार्थप्रतिपादकः इत्यादि काव्यलक्षण के साथ समानता पहले दिखाई जा चुकी है। ब्रह्मानन्दसहोदर परमानन्द का भी चमत्कार अर्थ है। इस प्रकार विश्वनाथदेव के द्वारा प्रस्तुत ये दोनों काव्यलक्षण चमत्कारप्रधान हैं।

आचार्य विश्वनाथदेव ने अपने द्वितीय काव्यलक्षण में स्वर्ग शब्द का सुख अर्थ में प्रयोग सरस्वतीकण्ठाभरण के रचयिता भोजराज के द्वारा अपने काव्यलक्षण में प्रयुक्त प्रीति शब्द के स्थान पर किया है।[1] पण्डितराज ने अपने काव्यलक्षणों में रमणीयार्थ और चमत्कार पदों को रखा है तो इन्होंने ब्रह्मानन्दसहोदर, परमानन्द और स्वर्गपदों को रखा है। इनके पूर्ववर्ती विश्वनाथ ने वाक्यकाव्यत्व को स्वीकार किया है। इसी परम्परा के साथ विश्वनाथदेव भी जुड़ गये हैं। विश्वनाथदेव ने अपने द्वितीय काव्यलक्षण में भोजप्रतिपादित अदोष, सगुण, सालङ्कार और रसान्वित पदों को काव्य का घटक तत्त्व माना है। इन्हीं काव्यतत्त्वों से अभिव्यक्त चमत्कार ही काव्य का अवच्छेदक है। इन तत्त्वों के साथ चमत्कार का व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावसम्बन्ध है। ये तत्त्व चमत्कार के व्यञ्जक हैं और चमत्कार व्यङ्ग्य।[2] यहाँ कार्यकारणभाव सम्बन्ध भी हो सकता है। इस दशा में ये घटकतत्त्व चमत्कार के कारण हैं और चमत्कार है इनका कार्य। विश्वेश्वर कविचन्द्र ने भी चमत्कार के ये सात कारण गिनाये हैं– 1. गुण, 2. रीति, 3. रस, 4. वृत्ति, 5. पाक, 6. शय्या एवं 7. अलङ्कार।[3]

इसके अतिरिक्त विश्वनाथदेव के प्रथम काव्यलक्षण में चमत्कारापरपर्याय ब्रह्मानन्दसहोदर परमानन्द को ही काव्य के अवच्छेदक धर्म के रूप में स्वीकार किया

1. (क) अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति।। साहित्यसुधासिन्धु 1, 3 वृत्ति
   (ख) अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति।। सरस्वतीकण्ठाभरण 1, 2
2. काव्यचमत्कार 5, 128
3. गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
   सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः।।
   विश्वेश्वरकविचन्द्रकृत चमत्कारचन्द्रिका प्रथम विलास, पृ० 23

गया है। इनके पूर्ववर्ती भरत, भामहादि आचार्यों ने रस, अलङ्कारादि को काव्य का अवच्छेदक धर्म माना है। यह परमानन्द (चमत्कार) रसादि से अभिव्यक्त होता है किन्तु कहीं कहीं रसादि के बिना भी प्रकट हो जाता है। यह अद्भुताख्यानादि से अभिव्यक्त होता है किन्तु इनके बिना भी हो सकता है। उत्तम काव्य में चमत्कार तत्त्व की प्रधानता मानी जाती है। यह चमत्कारप्रतीति अशाब्दी होती है।[1]

वस्तुतः आचार्य विश्वनाथदेव तथा पण्डितराजजगन्नाथ के इन काव्यलक्षणों में उपलब्ध यह शब्दसाम्य एवं भावसाम्य आकस्मिक नहीं है। ये दोनों आचार्य वाराणसी में रहकर ग्रन्थप्रणयन एवं विद्याभ्यास में संलग्न रहे थे। इनके समय में भी इस नगरी में मम्मट के काव्यप्रकाश के माणिक्यचन्द्र, नरहरितीर्थ, चण्डीदास, विश्वनाथ आदि टीकाकारों के काव्यलक्षण आदि के सम्बन्ध में ऊहापोह तथा तर्क वितर्क की विचारपरम्परा प्रचलित थी। यह परम्परा नव्यन्याय की शैली से प्रभावित थी जिसमें काव्य के लक्षणों के पदकृत्य, पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष आदि पर बहुत बल दिया जाता था। उस समय गम्भीर विषयों पर वाद विवाद तथा शास्त्रार्थ किये जाते थे और प्रौढपाण्डित्य तथा सूक्ष्मविवेचन के प्रदर्शन की प्रवृत्ति चरमसीमा पर पहुँची हुई थी। यही कारण है कि इन दोनों आचार्यों की कृतियों पर इन टीकाकारों की टीकाओं का अधिक प्रभाव है। यद्यपि पण्डितराज ने तो अपनी ओर से स्वतन्त्र चिन्तन को दिखाने का प्रयास किया है तथापि वे कहीं कहीं उसमें सफल नहीं हो पाये हैं। साहित्यसुधासिन्धुकार विश्वनाथदेव ने अपने से पहले प्रचलित काव्यप्रकाश की श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्यकृत सारबोधिनी टीका तथा काव्यपरीक्षा को कहीं कहीं ज्यों का त्यों उतार लिया है। इन्होंने रुद्रट के काव्यालङ्कार आदि ग्रन्थों से भी प्रचुर मात्रा में सामग्री ग्रहण की है।

साहित्यसुधासिन्धु में प्रतिपादित वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि काव्यलक्षण का पूर्ववर्ती श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्यकृत काव्यामृत तथा परवर्ती सिद्धिचन्द्रगणिकृत काव्यप्रकाशखण्डन टीका के काव्यलक्षणों के साथ भी शब्दसाम्य

---

1. क्वाप्यनौचित्यसम्पृक्तं रसादिरहितं क्वचित्।
अद्भुताख्यानसंयुक्तं लोकवृत्तानुकीर्तनम्।।
अखण्डोचितशब्दार्थं विस्मयप्राणसङ्कुलम्।
चमत्कारात्मकं वाक्यं काव्यं भवितुमर्हति।।
चमत्कारत्ववत्त्वं वै काव्यत्वमप्युदीरितम्।
काव्यावच्छेदके तत्राशाब्दी चमत्कृतार्थधीः।। रामप्रतापकृत काव्यचमत्कार 5, 47-49

और भावसाम्य है।[1] क्षेमेन्द्र के द्वारा कविकण्ठाभरण में जिस चमत्कारसम्प्रदाय का प्रवर्तन किया गया था उसकी चरमपरिणति विश्वनाथदेव तथा पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में दिखाई देती है।[2]

कवि के जिस लोकोत्तरवर्णना रूप कविकर्म को काव्य कहा जाता है उसमें चमत्कारी बोध की अभिव्यक्ति होती है।[3] पहले कवि जिन स्वानुभूत भावों को अपने काव्य में सङ्क्रान्त करता है वे ही भाव काव्य को पढ़ने वाले और रूपक को देखने वाले सामाजिकों के हृदयों को चमत्कृत करके आनन्दित करते हैं।[4] चमत्कार आनन्दभोग

---

1. (क) वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयम् तथा च तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम्। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

   (ख) काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं चमत्कारजीवातुतावच्छेदकम्। अत्रेदं बोध्यम्-
   अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्त्तिं स्वर्गं च विन्दति।।
   इति प्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं च काव्यत्वमखण्डोपाधिरवश्यं वाच्यम्। तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन।
   श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्यकृतकाव्यामृत 1, 4 वृत्ति।

   (ग) नवीनास्तु-काव्यत्वमखण्डोपाधिश्चमत्कारजनकतावच्छेदकस्य काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तस्य चान्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति वदन्ति।
   काव्यप्रकाश 1, 4 काव्यप्रकाशखण्डनटीका

2. न हि चमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्।
   क्षेमेन्द्रकृतकविकण्ठाभरण 3, 1 वृत्ति

3. (क) काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म। काव्यप्रकाश 1, 2 वृत्ति

   (ख) लोकोत्तरचमत्कारप्रकर्षानुगुणा वर्णना विभावाद्युपनयनम्। काव्यप्रकाश 1, 2
   चण्डीदासकृतदीपिका टीका

   (ग) लोकोत्तरवर्णनैव काव्यम् ...... वर्णना चमत्कारानुकूलपदकदम्बः। काव्यप्रकाश 1, 2
   रविभट्टाचार्यकृत मधुमती टीका

   (घ) लोकादचमत्कारिणो बोधादुत्तरोत्कृष्टा चमत्कारिणी या वर्णना बुद्धिस्तन्निपुणं कविकर्म काव्यम्। काव्यप्रकाश 1, 2 गोकुलनाथ उपाध्यायकृत काव्यप्रकाश विवरणटीका

   (ङ) यः कश्चन चमत्कारी बोधः काव्यं स उच्यते।।
   काव्यालङ्कारकारिका 190

4. (क) जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
   यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4

   (ख) विगलितवेद्यान्तरं च विषयान्तरसञ्चाराभावः, अयमेव चमत्कार इत्यभिधीयते।
   काव्यप्रकाश, 1, 2 रविभट्टाचार्यकृतमधुमती टीका

का ही नाम है। रसध्वनि में स्थायिभाव के साथ अभेद होता है, और इसी से आनन्द की अभिव्यक्ति होती है।[1] काव्यगत आस्वाद तथा चमत्कार में अभेद सम्बन्ध है।[2]

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी काव्य (Poetry) कवि की वह कला या रचना मानी जाती है जिसमें उदात्त विचारों और अनूभूतियों की उच्चस्तरीय सुन्दर अभिव्यक्ति होती है।[3] पाश्चात्य विद्वान् वैब्स्टर का भी कथन है कि काव्य में सुन्दर अथवा उच्च विचारों, भावों एवं कल्पनादि को उपयुक्त भाषा के द्वारा मूर्त रूप में अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है।[4] इन परिभाषाओं और कविकर्म काव्यम् आदि संस्कृतकाव्यलक्षणों में भावसाम्य देखने में आता है।[5]

IV शब्दार्थकाव्यतावाद

काव्यलक्षण

आचार्य भामह ने काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है – शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्[6] शब्द और अर्थ का साहित्य (सहभाव) काव्य कहलाता है। यहाँ शब्दार्थ-साहित्य के सिद्धान्त का प्रवर्तन हुआ है। आगे चलकर आचार्य मम्मट के द्वारा इस लक्षण को विस्तृत एवं परिनिष्ठित रूप प्रदान किया गया है उनका काव्यलक्षण इस प्रकार है –

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।[7]

1. चमत्कारो नामानन्दभोगः .... रसध्वनौ च स्थायिभावाभेदेनानन्दोऽभिव्यज्यते।
काव्यप्रकाश 1, 2 गोकुलनाथ उपाध्याय कृत विवरणटीका
2. काव्याभिन्नश्चमत्कारः काव्यं चापि तदन्वितम्।
वागर्थाविव सम्पृक्तावपेक्षेते परस्परम्।। काव्यचमत्कार 1,99
3. Poetry n. art or work of the poet, elevated expression of elevated thought or feeling in metrical or rhythmical form.
The Concise Oxford Dictionary, Oxford University Press London, p. 790, Edition 1984
4. Poetry is the embodiment in appropriate language of beautiful or high thought, imagination or emotion, the language being rhythmical, usually metrical and characterized by harmonic and emotional qualities which appeal to arouse the feeling and imagination. Webster
द्विजेन्द्र लाल राय : कालिदास और भवभूति, पृ० 93
5. कविवाङ्निर्मितिः काव्यम्। असाधारणचमत्कारिणी रचना निर्मितिः।
अलङ्कारकौस्तुभ 1,2 तथा वृत्ति।
6. काव्यालङ्कार 1, 16
7. काव्यप्रकाश 1, 4

दोषों से रहित, गुणयुक्त और सामान्यतया अलङ्कारसहित परन्तु कहीं कहीं अलङ्काररहित शब्द और अर्थ काव्य कहलाते हैं। यहाँ उन्होंने शब्द और अर्थ दोनों को काव्य माना है तथा इन दोनों को इस काव्यलक्षण में समान महत्त्व दिया है। शब्दश्च अर्थश्च शब्दार्थौ इस रूप में यह उभयपदप्रधान द्वन्द्वसमास है जो पाणिनि की अष्टाध्यायी के चार्थे द्वन्द्वः[1] इस सूत्रसे निष्पन्न होता है। द्वन्द्वसमास में दोनों पदों का एक जैसा स्थान और महत्त्व होता है। इस समास में रहने वाले दोनों पद स्वतन्त्र होते हैं। काव्य में जितनी उपयोगिता शब्द की होती है उतनी ही अर्थ की होती है। इसके विपरीत पण्डितराजजगन्नाथ के द्वारा बताये गये-रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्[2] - लोकोत्तर आह्लाद के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा जाता है। इस काव्यलक्षण में अर्थ को शब्द का विशेषण बताया है और शब्द विशेष्य है। इस कारण यहाँ शब्द की प्रधानता और अर्थ की गौणता है। शब्द की प्रधानता पर आधारित यह शब्दप्राधान्यप्रस्थान है। शब्दार्थसाहित्यप्रस्थान को शब्दार्थकाव्यतावाद और शब्दप्राधान्यप्रस्थान को शब्दकाव्यतावाद नाम दिया जाता है। कवि के मुख में शब्द रहता है और अर्थ संसार में रहता है। ये दोनों मिलकर ही आह्लादजनक होते हैं अकेले अकेले नहीं। दोनों ही मतों में शब्द और अर्थ दोनों के द्वारा काव्यार्थ का ज्ञान होता है किन्तु शब्दार्थकाव्यतावादी शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व देते हैं। इसके विपरीत शब्दकाव्यतावादी शब्द को अधिक महत्त्वशाली मानते हैं। वस्तुतः शब्द और अर्थ जाति और व्यक्ति की तरह मिलकर अर्थ बताते हैं।[3] यहाँ यह बात उल्लेखीय है कि शब्दकाव्यतावादी भी अर्थविहीन कविता को काव्य नहीं मानते।[4] शब्द और अर्थ दोनों की काव्यता इसलिए स्वीकार की जाती है क्योंकि यदि अकेले शब्द में काव्यता मानी जाए तो समुद्रघोषादि में इस लक्षण की अतिव्याप्ति होगी। समुद्रघोष को कोई भी व्यक्ति काव्य नहीं मानता है। केवल अर्थ में यदि काव्य माना जाय तो द्रव्यादि में अतिव्याप्ति होगी।[5] यदि शब्दार्थमात्र में काव्यत्व मानें तो दोषदूषित काव्य को भी काव्य मानना पड़ेगा। च्युतसंस्कृति (व्याकरणहीनता) जैसे दोषों से दूषित काव्य को काव्य नहीं माना जाता है। माधुर्यादिगुणों से रहित शब्दार्थ काव्य न माने जायें इसलिए सगुणौ विशेषण को रखा गया है।[6]

1. अष्टाध्यायी 2, 2, 29
2. रसगङ्गाधर 1, 1
3. शब्दार्थौ मिलितौ जातिव्यक्तिवदन्योन्याव्यभिचारित्वेन। एतेन शब्दार्थयो र्भेदवादिनः प्रत्युक्ताः। काव्यप्रकाश 1, 4 माणिक्यचन्द्रकृतसङ्केतटीका
4. शब्दार्थव्यतिरेकेण काव्यत्वासम्भवात्। काव्यप्रकाश 1, 4 नरहरितीर्थकृत बालचित्तानुरञ्जिनी
5. तत्र शब्दः- द्रव्यादौ वही बालचित्तानुरञ्जिनी टीका
6. काव्यप्रकाश 1, 4 सुधासागर टीका

आचार्य भामह के द्वारा प्रवर्तित तथा आचार्य मम्मट के द्वारा समर्थित यह शब्दार्थकाव्यतावाद उत्तरवर्ती अधिकांश आचार्यों को मान्य रहा है। कुछ ही आचार्यों ने इसका खण्डन और विरोध किया है। वस्तुतः सत्कवि और विद्वान् दोनों को शब्द और अर्थ दोनों की ही समान रूप से अपेक्षा रहती है।[1] आचार्य विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में पहले शब्दार्थकाव्यतावाद का खण्डन करते हुए शब्दकाव्यतावाद की स्थापना की है। तदनन्तर इसको भी निरस्त करके शब्दार्थकाव्यतावाद को अपना समर्थन दिया है परन्तु उन्होंने अन्त में काव्य में काव्यत्व नामक अखण्डोपाधि की कल्पना की है।[2] वस्तुतः स्वयं वे अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद के समर्थक हैं।

काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार वामनाचार्य झलकीकर ने शब्दकाव्यतावाद और शब्दार्थकाव्यतावाद के सम्बन्ध में पक्ष विपक्ष की युक्तियाँ एवं प्रत्युक्तियाँ उपस्थित करके दोनों मतों का दिग्दर्शन उत्तमता से किया है। उन्होंने पूर्ववर्ती शब्दकाव्यतावाद के समर्थक आचार्य जगन्नाथ आदि एवं शब्दार्थकाव्यतावाद के समर्थक आचार्य मम्मट आदि के पक्षों को युक्तिपूर्वक प्रदर्शित किया है।[3]

काव्यप्रकाश के अधिकांश टीकाकारों ने मम्मट के काव्यलक्षण में प्रतिपादित शब्दार्थकाव्यतावाद पक्ष का समर्थन किया है परन्तु कुछ एक आचार्यों ने इसका खण्डन किया है। साहित्यदर्पण के टीकाकार गुरुनाथ एवं कृष्णमोहन ने भी मम्मटमत का समर्थन किया है।[4]

शब्दार्थकाव्यतावाद के भेद

यहाँ शब्दार्थकाव्यतावाद के निम्नलिखित दो भेदों की समीक्षा की जा रही है –

---

1. शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते। शिशुपालवध, 2, 86
2. न च तादृशजात्यङ्गीकारे साङ्कर्यशङ्केति वाच्यम्, अखण्डोपाधेरेव स्वीकारात्।

   साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति
3. यत्तु रसगङ्गाधरकारैः :- रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यमिति लक्षणं कृत्वा उक्तम्, यत्तु प्राञ्चः (काव्यप्रकाशकृदादयः) शब्दार्थौ काव्यमित्याहुस्तत्र विचार्यते। ...... काव्यं पठति, काव्यं रचयति काव्यं शृणोति इत्यादि व्यवहारस्तु काव्यपदस्य शब्दमात्रपरत्वादिति काव्यं पठितं श्रुतं काव्यं बुद्धं काव्यमित्युभयविधव्यवहारदर्शनाच्च काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं व्यासज्यवृत्ति।

   काव्यप्रकाश 1, 4 बालबोधिनी टीका
4. (क) प्रकाशोक्तं काव्यलक्षणमेव ज्यायः। साहित्यदर्पण 1, 3 विवृतिपूर्तिटीका
   (ख) शब्दार्थौ काव्यम् इत्येव निर्दुष्टमिति। वही 1, 3 लक्ष्मीटीका

1. आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थकाव्यतावाद
2. गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद

1. आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थकाव्यतावाद

इस मत के अनुयायी आस्वाद अर्थात् रस के व्यञ्जक शब्दार्थयुगल को काव्य मानते हैं। इसका उल्लेख विश्वनाथदेवविरचित साहित्यसुधासिन्धु में इस रूप में मिलता है-

केचित्तु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तत्तु शब्दे चार्थे चाविशिष्टमिति शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वमिति प्राहुः।।[1]

आस्वाद का अभिव्यञ्जन करना ही काव्यत्व का प्रयोजक (हेतु) है। वह आस्वाद का अभिव्यञ्जन तो शब्द और अर्थ दोनों में ही समान रूप से रहता है। इस कारण शब्द की भाँति अर्थ में भी काव्यत्व होता है इस प्रकार कुछ आचार्य कहते हैं। इन आस्वादवादियों के मतानुसार काव्य का इतना ही लक्षण है।

आस्वाद (रस) की अभिव्यञ्जना रूप प्रयोजन को दृष्टि में रखकर ही कवि अपने कविकर्म में प्रवृत्त होता है। क्योंकि वह आस्वादाभिव्यञ्जकता शब्द और अर्थ दोनों में ही पाई जाती है। इसलिए शब्दार्थ की समष्टि को ही काव्य माना जाना चाहिए। वह आस्वादाभिव्यञ्जकता अर्थात् रसनिष्पत्ति शब्द और अर्थ इन दोनों के ही उपस्थित होने पर होती है। काव्यों और रूपकों में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के वाचक शब्दों को रखा जाता है। वाचन, पठन और अभिनय द्वारा उन उन शब्दों से तत्सम्बद्ध अर्थों को उपस्थित किया जाता है। उन उन अर्थों की प्रतीति के साथ सहृदयहृदयस्थ स्थायिभावों के साथ सम्बन्ध होने से रसनिष्पत्ति होती है।

वस्तुतः काव्यं करोति जैसे स्थलों में काव्य शब्द का प्रयोग शब्दार्थसमूह के लिए होता है। इस प्रकार कवि शब्दनिर्माण के साथ साथ अर्थनिर्माण भी करता है। अतः काव्यं करोति यह व्यवहार अवयवावयविभाव रूप सम्बन्ध से लक्षणा के द्वारा सङ्गत हो रहा है। जिन शब्दों का समुदाय में प्रयोग होता है उनका एक देश में भी प्रयोग होता है। जैसे हस्त शब्द पूरी बाँह का वाचक होते हुए भी हस्ताग्र अर्थात् हथेली रूप एक अवयव को भी बतलाता है उसी प्रकार काव्य पद वस्तुतः शब्द और अर्थ दोनों का वाचक होते हुए भी अवयवावयविभावसम्बन्ध से लक्षणा के द्वारा केवल शब्द और केवल अर्थ का वाचक बन जाता है। काव्यं बुद्धम् जैसे प्रयोगों में

---
1. साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

काव्यशब्द अर्थ का वाचक है। पतञ्जलि के निम्नलिखित वाक्य से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है–

समुदाये प्रवृत्तः शब्दः अवयवेष्वपि वर्तते तैलं भुक्तं घृतं भुक्तमितिवत्।[1] शब्द और अर्थ दोनों के समुदाय को बताने वाला शब्द अपने अवयवों अर्थात् अकेले शब्द और अकेले अर्थ में भी बोधक बनता हुआ रहता है जैसे तेल खा लिया है और घृत खा लिया है इन वाक्यों में अवयवियों के अर्थ को बताने वाले ये पद अवयवों को भी बता देते हैं। तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम् इन वाक्यों में प्रयुक्त संसार के यावन्मात्र तेल और घृत के वाचक शब्द 10 ग्राम तेल और घी की स्वल्पमात्रा का भी, बोध कर देते हैं। जैसे अवयविबोधक ये पद अवयवों का भी ज्ञान करा देते हैं वैसे ही काव्यं करोति आदि पद शब्दार्थ में व्यवहृत होते हुए भी अवयवावयविभावसम्बन्ध से लक्षणा के द्वारा शब्दपरक काव्यव्यवहार करा देते हैं। अतः काव्यं करोति इत्यादि व्यवहार केवल शब्द में भी कर दिया जाता है। वस्तुतः शब्दार्थसमुदाय में इसका प्रयोग बाधक नहीं है। कवि शब्द ही बनाता है अर्थ नहीं यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि कवि अर्थों का भी निर्माण करता है। चन्द्र रूप अर्थ भले ही ब्रह्मा के द्वारा निर्मित होता है परन्तु कामिनीमुखचन्द्र जैसे अर्थ कवि के द्वारा निर्मित होकर काव्य में रखे जाते हैं।

वस्तुतः कवि शब्द का भी निर्माण नहीं करता है वह केवल शब्दों का गुम्फन करता है। शब्दनित्यत्ववादी वैयाकरणों के अनुसार शब्द नित्य होने के कारण बनाये नहीं जाते क्योंकि वे तो पूर्वसिद्ध वस्तु हैं। कवि पहले से वर्तमान इन पदों को चुन चुन कर अपने काव्य में रख देता है। इस प्रकार कविः काव्यं करोति यह व्यवहार भी बाधित हो जाता है। यहाँ भी अर्थबोध के लिए लक्षणा स्वीकार करनी पड़ती है। इसलिए काव्यं करोति आदि व्यवहारों में काव्य शब्द का प्रयोग लक्षणा से किया जाता है ऐसा शब्दार्थकाव्यतावादियों का मत है।

शब्दकाव्यतावाद को मानने वाले आचार्य शब्दार्थकाव्यतावादियों पर यह आक्षेप कर सकते हैं–शब्द और अर्थ दोनों को काव्य नहीं माना जा सकता क्योंकि काव्यं करोति इत्यादि व्यवहार काव्य की शब्दपरकता को सिद्ध करते हैं। इस शङ्का के समाधान के लिए विश्वनाथदेव का कहना है –

काव्यं करोतीत्यादिव्यवहारस्तु शब्दपरतया नेयः।[2]

1. पातञ्जल महाभाष्य ऋलृक् सूत्र की व्याख्या
2. साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

काव्यं करोति, काव्यं पठति, काव्यं शृणोति इत्यादि स्थलों में काव्यपद का शब्दपरक प्रयोग सामान्यतः शब्द और अर्थ इन दोनों की समष्टि के लिए होता है परन्तु कहीं कहीं इसका प्रयोग शब्द और अर्थ इन दोनों में न होकर केवल शब्द में भी लक्षणा से हो जाता है।

आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थकाव्यतावाद स्वतन्त्रमत अथवा उत्तरपक्ष

श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने स्वरचित काव्यपरीक्षा में यह तीसरा मत पूर्वपक्ष के आचार्यों के दो मतों को रखने के बाद केचित्तु कहकर उत्तरपक्ष में दिखाया है –

तत्रादौ काव्यस्वरूपमाह–

काव्यमास्वादजीवातुः पदसन्दर्भ उच्यते।
सालङ्कारगुणादोषौ शब्दार्थाविति केचन।।

काव्यं करोति, काव्यं पठति, काव्यं शृणोतीत्यादिव्यवहाराच्छब्द एव काव्यमिति प्राञ्चः। केचित्तु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तत्तु शब्दे चार्थे चाविशिष्टमिति शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वम्।[1]

काव्यपरीक्षा तथा सारबोधिनीटीका में विषयप्रतिपादनशैली एवं सामग्री दोनों एक ही प्रकार की हैं। आचार्य विश्वनाथदेव ने यहाँ दीपिका टीका में प्रदर्शित चण्डीदास का मत नहीं दिखाया है किन्तु आगे जाकर नामग्रहणपूर्वक इनका मत दिखाया है।[2] इसी प्रकार श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्यकृत काव्यपरीक्षा तथा काव्यप्रकाश की सारबोधिनी टीका में प्रतिपादित पूर्वपक्ष को छोड़कर उनके द्वारा प्रतिपादित केवल उत्तरपक्ष को लेकर आस्वादवादियों के मत को उन्होंने इस प्रकार रख दिया है–

केचित्तु –

आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् तत्तु शब्दे चार्थे चाविशिष्टमिति शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वमिति प्राहुः।[3]

यहाँ यह बात विचारणीय है कि विश्वनाथदेव के द्वारा उपस्थापित इन पङ्क्तियों में क्या आस्वादवादियों के एक स्वतन्त्र मत का प्रतिपादन हुआ है अथवा ये पङ्क्तियाँ शब्दकाव्यतावाद के विरोध में दी गई युक्तियाँ मात्र हैं इस सम्बन्ध में दोनों ही पक्षों

1. काव्यपरीक्षा 1, 1 तथा वृत्ति
2. तेनास्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यमिति चण्डीदासप्रभृतयः। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति
3. साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

में साधक बाधक युक्तियाँ होने से दोनों ही बातें सम्भव हैं। इसे स्वतन्त्र आस्वादवादियों का मत मानने के पक्ष में तो यह युक्ति जाती है कि यहाँ केचित्तु - आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् इस रूप में रखकर आचार्य विश्वनाथदेव ने इसे एक स्वतन्त्र मत का रूप दे दिया है। पूर्ववर्ती श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य ने भी काव्यपरीक्षा में इसका प्रतिपादन केचित्तु से किया है तथा अपनी सारबोधिनी टीका में भी अत्र केचित् इस रूप से इस मत का समारम्भ किया गया है।[1] इसके विरोध में यह युक्ति हो सकती है। क्योंकि पूर्ववर्ती श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने इसे शब्दकाव्यतावादी चण्डीदास के खण्डन में युक्ति रूप में प्रयुक्त किया है इसलिए यह शब्दकाव्यतावाद का खण्डनमात्र है और यह कोई काव्यलक्षण या काव्यसिद्धान्त नहीं है। सूक्ष्मता से यदि विचार किया जाये तो साहित्यसुधासिन्धु में आचार्य विश्वनाथदेव ने भी इसे अपने मत पर आक्षेप करने के लिए अपने मत को पूर्वपक्ष में रखकर इसे उत्तरपक्ष में रखा है। ग्रन्थकार ने स्वयं अपना काव्यलक्षण इस प्रकार बताया है–

जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।।[2]

यह लक्षण बताकर वे वाक्यकाव्यतावाद (शब्दकाव्यतावाद) का समर्थन करके स्वयं चण्डीदास की पङ्क्ति में आकर शब्दकाव्यतावाद के समर्थक बन गए हैं। इसके तुरन्त बाद ही आस्वादवादियों की ओर से केचित्तु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् कहलवाकर वे अप्रत्यक्ष रूप से अपने ही मत का खण्डन करवा रहे हैं। इस प्रकार यह अंश स्वतन्त्र काव्यलक्षण न होकर शब्दकाव्यतावाद की पक्षसाधिका युक्तिमात्र बनकर रह जायेगा।

क्योंकि इस मत को विश्वनाथदेव ने यहाँ केचित्तु कहकर स्वतन्त्र रूप में रख दिया है इसलिए इसे स्वतन्त्र काव्यलक्षण मान लिया है। यदि यहाँ आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् के स्थान पर आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थमयत्वं काव्यत्वम् यह काव्यलक्षण बना दिया जाये तो इस लक्षण में और अधिक स्पष्टता आ जायेगी।

पण्डितराजजगन्नाथ के द्वारा इस मत का खण्डन

आस्वादवादियों के इस मत का खण्डन पण्डितराजजगन्नाथ ने इस प्रकार किया है–

यत्त्वास्वादोद्बोधकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम् तच्च शब्दे चार्थे

---

1. काव्यप्रकाश 1, 4 सारबोधिनी टीका
2. साहित्यसुधासिन्धु 1, 4

चाविशिष्टमित्याहुः, तन्न, रागस्यापि रसव्यञ्जकताया ध्वनिकारादि-सकलालङ्कारिकसम्मतत्वेन प्रकृते लक्षणीयत्वापत्तेः। किं बहुना नाट्याङ्गानां सर्वेषामपि प्रायशस्तथात्वेन तत्त्वापत्ति र्दुवरिव। एतेन रसोद्बोध-समर्थस्यैवात्र लक्ष्यत्वमित्यपि परास्तम्।[1]

आस्वाद (आनन्द, रस) का उद्‌बोधक होना ही काव्यत्व का प्रयोजकहेतु है। अर्थात् काव्य वह है जो आस्वाद को उत्पन्न करता है और यह आस्वादोद्‌बोधकता शब्द और अर्थ दोनों में समान रूप से रहती है अत: शब्द और अर्थ दोनों काव्य हैं। इस रूप में कुछ आचार्य जो कुछ कहते हैं वह ठीक नहीं है अर्थात् उन आचार्यों का यह मत युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि राग की भी रसव्यञ्जकता ध्वनिकार आनन्दवर्धन आदि सभी अलङ्कारशास्त्रियों के द्वारा अनुमोदित है इसलिए प्रस्तुत काव्यलक्षण में उनकी भी लक्ष्यता की प्राप्ति हो जायेगी। (यदि यह मत मानने लगें तो राग को भी काव्य मानना पड़ जायेगा। परन्तु भैरवादिरागविशेषों को कोई भी काव्य नहीं मानता।) अधिक क्या कहें यदि आस्वादोद्‌बोधक राग को काव्य मानेंगे तो नाट्य के सभी अङ्गों (नेपथ्य, अङ्गहार, वस्त्रविशेष तथा सजावट की सभी वस्तुओं) की काव्यलक्षणप्राप्ति नहीं हटाई जा सकेगी और उनको भी काव्य मानना पड़ जायेगा। इस कारण जो रसोद्‌बोधन में समर्थ हो वही यहाँ काव्यलक्षण का लक्ष्य है। यह कथन भी खण्डित हो गया है।

पण्डितराजजगन्नाथ के अनुसार यहाँ आस्वाद शब्द से सामान्य सुख का ग्रहण नहीं है। यदि सामान्य सुख का ग्रहण करेंगे तो पुत्रस्ते जात: इत्यादि की भी काव्यता होने लग जायेगी इसलिए आस्वाद शब्द से यहां सुखविशेष (चमत्कारविशेष) का ही ग्रहण है जो काव्य से ही प्राप्त होता है न कि रागादि से। वस्तुत: वह आस्वादोद्‌बोधक शब्द काव्य है जिसमें कविकर्मता हो। राग, नेपथ्य आदि में क्योंकि कविकर्मता नहीं होती है। इसलिए वे काव्य नहीं कहलाते।

वस्तुत: पण्डितराज का यह खण्डन युक्तियुक्त नहीं है। राग और नेपथ्यादि को तो कोई भी काव्य नहीं कहता। यहाँ आस्वादवादियों के आस्वादोद्‌बोधकत्वं काव्यत्वम् तथा पण्डितराज के अपने चमत्कारत्ववत्त्वमेव काव्यत्वम् में कोई भेद नहीं है।

श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य की काव्यपरीक्षा और सारबोधिनी टीका से उद्‌धृत इस मत की विश्वनाथदेव ने तो साहित्यसुधासिन्धु में कोई आलोचना नहीं की है

---

1. रसगङ्गाधरप्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण

परन्तु उत्तरवर्त्ती पण्डितराजजगन्नाथ ने इस मत को न केवल उद्धृत किया है किन्तु इसका खण्डन भी किया है।

आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थकाव्यतावाद का महत्त्व

साहित्यसुधासिन्धु में इस वाद को निम्नलिखित रूप में प्रदर्शित किया है–

आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकं तत्तु शब्दे चार्थे चाविशिष्टमिति शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वमिति प्राहुः।[1]

यहाँ आस्वादव्यञ्जकता को काव्य का अवच्छेदक धर्म बताया है। यह आस्वादव्यञ्जकता काव्य में रहती है और काव्य का आश्रय शब्द और अर्थ दोनों हैं। इस कारण परम्परासम्बन्ध से इस आस्वादव्यञ्जकता का सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों के साथ है। क्योंकि यह आस्वादव्यञ्जकता का सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनों के साथ है तथा यह आस्वादव्यञ्जकता शब्द और अर्थ इन दोनों में समान रूप से रहती है इसलिए शब्द की तरह अर्थ में भी काव्यत्व मानना चाहिए। यहाँ अलग अलग कही बातों को समन्वित करके इन आस्वादवादियों का काव्यलक्षण इस रूप में रखा जा सकता है–

आस्वादव्यञ्जकशब्दार्थमयत्वं काव्यत्वम्।

इस लक्षण को बनाने का सुपुष्ट आधार इसी से मिलती जुलती शब्दावली में ध्वन्यालोक में प्रदर्शित ध्वन्यभाववादियों का वह प्रसिद्धप्रस्थान वाला मत है जिसमें वे शब्द, अर्थ, गुण और अलंकार के बिना किसी भी काव्यप्रकार की कल्पना करने का दृढ़तापूर्वक प्रत्याख्यान कर रहे हैं वहाँ उन्होंने सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् इस रूप में काव्यलक्षण उपस्थित किया है।[2] वस्तुतः इन दोनों स्थलों में प्रयुक्त आस्वादव्यञ्जक और सहृदयहृदयाह्लादित्व विशेषणों में कोई अन्तर नहीं है। इस कारण इनको पर्यायवाची शब्द माना जा सकता है।

वस्तुतः इस मत में शब्द और अर्थ दोनों की ही काव्यता स्वीकार की गई है। इन दोनों में ही काव्यता स्वीकार करनी भी चाहिए क्योंकि अकेला शब्द या अकेला अर्थ काव्य नहीं होता। वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने भी शब्द अर्थ दोनों में ही काव्यत्व

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति
2. अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः। प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः। सहृदयहृदयाह्लादिशब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्। न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य तत् सम्भवति। ध्वन्यालोक 1, 1 वृत्ति

का प्रतिपादन किया है। उनका कथन है कि रमणीयताविशिष्ट अकेला शब्द और अकेला अर्थ काव्य नहीं बन सकता।[1] इस प्रकार आस्वादाभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ दोनों को ही काव्य मानना सङ्गत है।

यहाँ आस्वाद शब्द का सम्बन्ध काव्य के आस्वाद के साथ है। रस, आह्लाद, प्रीति, आनन्द, सुख, चमत्कार आदि काव्यानन्द को अभिव्यक्त करने वाले ये सभी पद पर्यायवाची माने जा सकते हैं। इस कारण इस मत का सम्बन्ध भरत नाट्यशास्त्र में निरूपित विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति: तथा न हि रसाद् ऋते कश्चिदर्थ: प्रवर्तते के साथ है।[2] ध्वनिवादियों के द्वारा अनुमोदित रस, अलङ्कार और वस्तु इन तीनों ध्वनिभेदों में भी यही आस्वाद पाया जाता है। अङ्गनाओं के विभिन्न अङ्गों में रहते हुए भी उनसे भिन्न होकर रहने वाले लावण्य के समान महाकवियों की वाणी में रहने वाली शब्दार्थातिरिक्त जिस प्रतीयमान ध्वनि की ओर आचार्य आनन्दवर्धन ने इङ्गित किया है[3] उसके साथ इस आस्वाद का सीधा सम्बन्ध है। इसी आस्वाद रूप अर्थतत्त्व को प्रवाहित करने वाली महाकवियों की वाणी उनकी अलौकिक और प्रतिभासमान प्रतिभा (अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा) के वैशिष्ट्य को प्रकट करती है।[4]

आस्वादजीवातु: पदसन्दर्भ: काव्यम्[5] इस चण्डीदासकृत लक्षण का आस्वाद पद तथा उपर्युक्त इस लक्षण का आस्वाद पद एक जैसा ही है। यह आस्वादवाद विश्वनाथ कविराज के प्रपितामह नारायण के रसे सारश्चमत्कार: तथा उनके वाक्यं रसात्मकं काव्यम् लक्षण के बहुत समीप है। अनलङ्कृती की व्याख्या करते हुए काव्यप्रकाशदर्पण में विश्वनाथ ने आस्वादात्मकं वाक्यं काव्यम् कहा है। यहाँ तो आस्वादपद का ही प्रयोग हुआ है।[6]

---

1. न शब्दस्य रमणीयताविशिष्टस्य केवलस्य काव्यत्वं नाप्यर्थस्य। वक्रोक्तिजीवित 1, 7
2. नाट्यशास्त्र 6, 32 वृत्ति
3. प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
   यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।। ध्वन्यालोक 1, 4
4. सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
   अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्।। ध्वन्यालोक 1, 6
5. काव्यप्रकाश 1, 4 चण्डीदासकृत दीपिका टीका।
6. (क) रसे सारश्चमत्कार: सर्वत्राप्यनुभूयते।
   तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रस:।
   तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।। साहित्यदर्पण 3, 3 वृत्ति
   (ख) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। वही 1, 3
   (ग) काव्यप्रकाश 1, 4 दर्पणटीका।

पण्डितराज जगन्नाथ की लोकोत्तर आह्लाद को प्राप्त कराने वाली रमणीयता तथा चमत्कृति इन दोनों पदों के अर्थों के साथ इस आस्वाद का अर्थसाम्य तथा भावसाम्य दोनों हैं। आचार्य शङ्करदेव अवतरे का काव्यलक्षण भी चमत्कारप्रधान है।[1]

इस प्रकार ये प्रमुख आचार्य काव्य में आस्वाद की प्रधानता स्वीकार करते हैं। यह बात दूसरी है कि कुछ आचार्य इसकी स्थिति शब्द में प्रधान रूप से मानते हैं और कुछ आचार्य शब्द और अर्थ दोनों में इसकी तुल्य स्थिति को स्वीकार करते हैं। वस्तुतः इस मत का सीधा सम्बन्ध रससम्प्रदाय, चमत्कार सम्प्रदाय और ध्वनिसम्प्रदाय से है। इन तीनों सिद्धान्तों को भारतीय काव्यशास्त्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

2. गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद

गुण और अलङ्कार के विशेषणों से युक्त काव्यलक्षण होने से आचार्य मम्मट का मत गुणालङ्कारविशिष्टशब्दार्थकाव्यतावाद कहा जाता है।

आचार्य मम्मट ने काव्य का लक्षण इस प्रकार बताया है–

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।[2]

दोषों से रहित, गुणयुक्त और साधारणतः अलङ्कारसहित परन्तु कहीं कहीं अलङ्काररहित शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य कहलाती है। आचार्य मम्मट का यह मत शब्दार्थकाव्यतावाद के अन्तर्गत आता है। शब्दार्थौ पद का विग्रह शब्दश्च अर्थश्च शब्दार्थौ इस रूप में है। यहाँ चार्थे द्वन्द्वः (अ०2, 2, 29) से च के अर्थ में द्वन्द्व समास है। इस समास में शब्द और अर्थ इन दोनों का तुल्यप्राधान्य है। काव्य में भी इन दोनों ही घटकों का समान महत्त्व है।

मम्मटोत्तर युग के काव्यप्रकाश के टीकाकारों और कुछ आचार्यों ने मम्मटोक्त काव्यलक्षण का खण्डन मण्डन किया है। इनमें से एक प्रमुख आचार्य इन विश्वनाथदेव ने अपने ग्रन्थ साहित्यसुधासिन्धु (निर्माणकाल 1592 ई०) के आरम्भ में चण्डीदास, विश्वनाथ और श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य के द्वारा प्रस्तुत समाख्या और व्यवहार से

---

1. (क) रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। रसगङ्गाधर 1, 1 वृत्ति
 (ख) सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः।
 सौन्दर्यञ्च चमत्कृत्याधायकत्वम् चमत्कृतिः आनन्दविशेषः।
 वही द्वितीय आनन उपमानिरूपणप्रकरण
 (ग) शब्दार्थौ सहितौ काव्यं रम्यार्थप्रतिपादकौ।
 कोटिमन्तश्च रम्यार्थास्तत्त्ववैविध्यसंश्रयात्।।
 शङ्करदेव अवतरेकृत अलङ्कारप्रक्रिया कारिका 2
2. काव्यप्रकाश 1, 4

सम्बन्धित युक्तियों के आधार पर पहले शब्दकाव्यतावाद को रखकर मम्मटकृत काव्यलक्षण के प्रत्येक पद का खण्डन किया है।[1] इसके बाद इन्होंने मम्मटकृत काव्यलक्षण में रखे हुए प्रत्येक पद की संगति भी प्रदर्शित की है। इस प्रकार इन्होंने मम्मटप्रतिपादित काव्यलक्षण का समर्थन करके इसकी प्रतिष्ठापना की है। इनके द्वारा किये गये इस विवेचन में मम्मटोत्तरयुग में किये गये काव्यलक्षण से सम्बद्ध ऊहापोह एवं युक्ति प्रत्युक्तियों की झलक मिलती है।

1. शब्दार्थौ काव्यम् की संगति

आचार्य विश्वनाथदेव का कहना है-

सगुणौ इस विशेषण से शब्दार्थ में आस्वादव्यञ्जकता (रसव्यञ्जकता) होनी चाहिए यह सिद्ध हो जाता है। इसी कारण चण्डीदास ने आस्वादजीवातु: पदसन्दर्भ: काव्यम् यह काव्यलक्षण स्वीकार किया है। ग्रन्थकार का कहना है कि चण्डीदास का यह काव्यलक्षण ठीक नहीं है। उनसे प्रश्न किया जा सकता है कि क्या आस्वादयुक्त अर्थ के बोधक पद काव्य कहलाते हैं? अथवा पदों से उपस्थापित अर्थ काव्य कहलाते हैं। यहाँ इन दोनों लक्षणों में से किसी एक के अनूकूल एकतरपक्षपातिनी युक्ति अर्थात् एक पक्ष को पुष्ट करने वाला तर्क नहीं होने से दोनों में ही काव्य का लक्षण घट जाता है। उक्त लक्षण मानने पर शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्य मानना पड़ जायेगा (केवल शब्द में नही) कवे: कर्म काव्यम् यह समाख्या भी शब्द में काव्यत्व की विनिगमिका (एक पक्ष को पुष्ट करने वाली) युक्ति नहीं है।

समाख्या योगबलम् अर्थात् व्युत्पत्ति की शक्ति समाख्या है। जहाँ व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ समाख्या होती है। यौगिक: शब्द: समाख्या अर्थात् व्युत्पत्ति से अपने अर्थ को बोधित कराने वाला शब्द समाख्या कहलाता है। क्योंकि कामिनीमुख का चन्द्र के साथ तादात्म्य रूप अलौकिक अर्थ (कर्म) भी कवि के द्वारा ही निष्पन्न होता है इसलिए वह काव्यलक्षण अर्थ में भी चला जाता है। क्योंकि कवे: कर्म काव्यम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार जैसे शब्द कवि का कर्म है वैसे ही अर्थ भी हैं[2]। इस प्रकार अर्थ के भी कविनिर्वाह्य होने से उपर्युक्त पदसन्दर्भ: काव्यम् यह समाख्या इस काव्यलक्षण के लिए विनिगमिका नहीं है।

---

1. युज्यते तत् समाख्याबलादपि। कविनिर्वाह्यं काव्यम्। न ह्यर्थ: कविना निर्वाह्यते कामिनीचन्द्रचन्द्रिकादीनां ब्रह्मणैव निर्वाहितत्वात् अपितु कविनिर्वाह्या पदगुम्फना सैव काव्यम्। अतएव काव्यं करोति, पठतीत्यादिव्यवहार:। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति
2. सगुणावित्यनेन....... काव्यत्वात्। न च समाख्या विनिगमिका, कामिनीमुख-चन्द्रतादात्म्यस्यालौकिकार्थस्य कविनिर्वाह्यत्वेन तस्या अविनिगमकत्वात्। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

और यदि शब्दार्थौ काव्यम् यह काव्यलक्षण माना जाये तो देवदत्त: प्रभव: में देवदत्तप्रभवत्व जाति की तरह शब्दार्थ में भी उसी प्रकार के शब्दार्थकाव्यत्व रूप जाति धर्म को स्वीकार करने पर उसमें साङ्कर्य की शङ्का हो जायेगी। अत: यह लक्षण दूषित है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उस दशा में काव्य में काव्यत्व जाति न मानकर अखण्डोपाधि ही स्वीकार की जाती है। वास्तव में तो साङ्कर्यदोष के रसविघात में कारण न बनने से उसमें निर्दोषता ही आती है।[1]

शब्दार्थौ काव्यम् इस काव्यलक्षण में काव्यत्व को जाति मानने पर जातिबाधक सङ्करदोष की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि इसे जाति न मानकर अखण्डोपाधि माना जाये तो यह दोष हट जाता है। जैसे एक आकाश में अनेकों में रहने वाला जातिरूप धर्म नहीं रहता और उसमें एक आकाशत्व रूप अखण्डोपाधिधर्म रहता है उसी प्रकार अखण्डरूप में स्थित शब्दार्थ में एक ही काव्यत्व रूप अखण्डोपाधि रहती है। इसके अतिरिक्त जाति और व्यक्ति की तरह शब्द और अर्थ परस्पर समवायसम्बन्ध से एक साथ रहते हैं।[2]

नैयायिकों ने साङ्कर्य को जातिबाधक माना है परन्तु वैयाकरणों ने साङ्कर्य को सर्वत्र जातिबाधक नहीं माना है। यह बात वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा में स्पष्ट है। अत: काव्य में रहने वाले काव्यत्व धर्म को जाति मानने में भी कोई हानि नहीं है। इस प्रकार आचार्य मम्मट का शब्दार्थौ काव्यम् यह काव्यलक्षण युक्तियुक्त ही है।

अदौषौ शब्दार्थौ की सङ्गति

आचार्य विश्वनाथदेव का कहना है–

शब्दार्थौ के लिए अदोषौ इस विशेषण के प्रयोग करने की बहुत आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि सर्वथा निर्दुष्ट रचना हो ही नहीं सकती।[3]

और शब्दार्थौ के अदोषौ इस विशेषण से दोषसामान्याभाव या दोषविशेषाभाव रूप विकल्पों का अवसर ही नहीं है क्योंकि हमारे मत में दोषसामान्याभाव का ही लक्षण में प्रवेश होता है दोषविशेषाभाव का नहीं। दोषसामान्याभाव का लक्षण में

---

1. न च तादृशजात्यङ्गीकारे....मेवेतिब्रूम:। साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति
2. शब्दार्थौ मिलितौ जातिव्यक्तिवत् अन्योन्याव्यभिचारित्वेन। एतेन शब्दार्थयो र्भेदवादिन: प्रत्युक्ता:। एतेन कविनिर्मितकमनीयतातिशायिनो: प्रत्येकं काव्यत्वमिति पक्षद्वयं निराकृतम्।
काव्यप्रकाश 1, 4 माणिक्यचन्द्रकृतसङ्केतटीका
3. अदोषावित्यत्र–व्यर्थविशेषणत्वापत्ते:। वही 1, 4 वृत्ति

प्रवेश होने से जो प्रविरलविषयत्व आता है वह हमें इष्ट ही है। क्योंकि यदि केवल एक पद भी निर्दोष हो तो उतने को ही काव्य कहा जा सकता है इसलिए कुछ पदों के सर्वथा दोषविनिर्मुक्त होने की स्थिति में काव्य की निर्विषयता नहीं होगी। अतः पूर्वपक्षी का यह कहना कि सर्वथा दोषरहित कोई काव्य सम्भव ही नहीं है असङ्गत है ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है। वस्तुतः कोई न कोई दोष तो काव्य में रहता ही है इसलिए सब दोषों का अभाव काव्य में नहीं रह सकता। इसलिए यहाँ दोषसामान्याभाव में ही तात्पर्य है दोषविशेषाभाव में नहीं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि अदोषौ इस पद से यह विवक्षा है कि शब्दार्थों में स्फुटदोष नहीं होने चाहियें। यहाँ स्फुटदोष होने का अभिप्राय रसानुकूलशाब्द-बोधप्रतिबन्धकत्व है अर्थात् जो रस के अनुरूप शाब्दबोध में बाधा को उपस्थित करे वह स्फुटदोष कहलाता है। इससे निराकाङ्क्ष और असाधु आदि दोषों में रहने वाले निराकाङ्क्षत्व और असाधुत्वादि विशेष धर्मों का ग्रहण होता है। शाब्दबोध में प्रतिबन्धक होने से रसविघातक इन दोषों को काव्य में नहीं रहने देना चाहिए।

इसलिए प्रतिभाशाली कवियों का कोई ऐसा विशेष प्रकार (खास ढंग का अन्दाज़े बयां) है जो सामाजिकों को विस्मयविमुग्ध कर चित्रलिखित की भाँति स्थिर सा करके उन्हें दोषों को पकड़ने नहीं देता। अतः काव्य में स्फुटदोषराहित्य होना चाहिए भले ही छोटा मोटा दोष रह जाये ऐसा वे कहते हैं।[1] अभिप्राय यह है कि कविगण अपनी वर्णनशैली से अपनी रचना को इतना अधिक हृदयावर्जक बना देते हैं कि उसे पढ़कर सामाजिक आनन्दमग्न हो जाता है और उसका उस रचना के दोषों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। उदाहरणार्थ निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम् इत्यादि श्लोक विलक्षण रूप से रसोद्बोधक है। इसको पढ़ते ही पाठक आनन्द में डूब जाता है और उसका सारा ध्यान इसके शब्दों से ध्वनित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की ओर चला जाता है। यद्यपि इस श्लोक में विधेयाविमर्शदोष है (क्योंकि पहले यहाँ उद्देश्य स्तनतटम् को रखना चाहिए तदनन्तर विधेय निःशेषच्युतचन्दनम् को प्रयुक्त करना चाहिए। पर यहाँ इस नियम का उल्लङ्घन है) तो भी रसविभोर पाठक की एक तो इस ओर दृष्टि जाती ही नहीं है और यदि जाती है तो क्षणभर के लिए जाकर तुरन्त उस ओर से हट जाती है। आचार्य आनन्दवर्धन ने भी ऐसा ही कहा है।

---

1. न चादोषाविति ..... इति वदन्ति। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य स झटित्यवभासते।।[1]

अव्युत्पत्ति (युक्तायुक्तविवेचकज्ञानरूपा व्युत्पत्ति के अभाव) के कारण होने वाला दोष कवि की शक्ति के बल से छिप जाता है। परन्तु कवि की अशक्ति (नवनवोन्मेषशालिनी वर्णनीय वस्तु का नये नये ढंग से वर्णन कर सकने की शक्तिरूप जो प्रतिभा होती है इस (शक्ति के अभाव) के कारण जो दोष होता है वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है।

और दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं–जिस अंश में दोष होता है वह अकाव्य और जिस अंश में दोष का अभाव होता है वह काव्य होता है। जैसे एक ही ज्ञान प्रमा (यथार्थ) और अप्रमा (अयथार्थ) दोनों रूपों में होता है वैसे ही एक पद्य काव्य और अकाव्य दोनों हो जायेगा। इसलिए यहाँ दोषसामान्याभाव को ही काव्यलक्षण में सम्मिलित करना चाहिए।[2]

इन विद्वानों का यह कहना है-लक्षण में अदोषौ पद का दोषसामान्याभाव ही अर्थ है। यदि सकल दोषों का अभाव पूरे पद्य में सम्भव नहीं है तो एक ही पद्य उसी प्रकार काव्य और अकाव्य दोनों हो सकता है जिस प्रकार एक ही ज्ञान प्रमा और अप्रमा दोनों होता है। जैसे चित्रतुरगन्याय से नट में रामोऽयम् इस रूप में होने वाली प्रतीति दृष्टिभेद से प्रमा और अप्रमा दोनों है वैसे ही न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः इत्यादि श्लोक में जहाँ विधेयाविमर्श दोष है वहाँ अकाव्य है और जहाँ ध्वन्यंश है वहाँ काव्य है इस प्रकार यह श्लोक काव्याकाव्य दोनों है। अतः अदोषौ का अर्थ दोषविशेषाभाव न होकर दोषसामान्याभाव ही है। इस प्रकार यहाँ अदोषौ पद में नञ् का अर्थ अभाव है और दोष शब्द से सकल दोषों का ग्रहण होता है इसलिए सकलदोष अर्थात् दोषसामान्य का अभाव अर्थ करना संगत है। इस प्रकार अदोषौ से अभिप्राय दोषसामान्याभाववन्तौ शब्दार्थौ मानना चाहिए। केशव मिश्र ने भी सभी प्रकार के दोषों से बचने का आग्रह किया हैं।[3]

सगुणौ (शब्दार्थौ) की सङ्गति

आचार्य विश्वनाथदेव का कहना है–

---

1. ध्वन्यालोक 3, 6 वृत्ति
2. परे तु यदंशे .... इत्याहुः। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति
3. दोषः सर्वात्मना त्याज्यो रसहानिकरो हि सः।
   अन्यो गुणोऽस्तु वा मास्तु महान् निर्दोषता गुणः।। अलङ्कारशेखर 2, 1, 1

गुणान्वितावित्यत्र गुणव्यञ्जकावित्यर्थः।[1]

अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ सालङ्कारौ गुणान्वितौ में आये हुए गुणान्वितौ इस विशेषण में गुणव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्य होते हैं यह अर्थ निहित है।

गुण तो रस के धर्म हैं इसलिए गुणयुक्त रस ही हो सकता है शब्द और अर्थ नहीं। इसलिए शब्दार्थों के लिए गुणान्वितौ यह विशेषण अनुपपन्न हो जाता है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि गुण साक्षात् सम्बन्ध से रस में ही रहते हैं परन्तु वे स्वाश्रयरसाभिव्यञ्जकत्वरूप परम्परासम्बन्ध से (गुण+रस+शब्दार्थ) शब्द और अर्थ में भी रहते हैं इसलिए गुणान्वितौ यह विशेषण सङ्गत है। इसका रसवन्तौ शब्दार्थौ काव्यम् यह अर्थ व्यञ्जना से प्रतीत हो जाता है।

अनलङ्कृती पुनः क्वापि की सङ्गति

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि इस काव्यलक्षण को बताया है। लक्षण में प्रयुक्त अनलङ्कृती पुनः क्वापि इस विशेषण की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है–

क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः।[2]

क्वापि इति – कहीं कहीं अलङ्कार से रहित भी शब्द और अर्थ काव्य होते हैं इस कथन को ग्रन्थकार इसलिए कहते हैं कि काव्य में सब जगह शब्द और अर्थ अलङ्कारों से युक्त होने चाहिएँ परन्तु यदि कहीं स्पष्ट (उपमादिविशेष) अलङ्कार न हों तो उनके अभाव में भी (वहाँ सामान्य अलङ्कार होने से) काव्यत्व की हानि नहीं है।

इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण आचार्य विश्वनाथदेव ने इस प्रकार किया है –

अत्र च विशेषालङ्कारविरहेऽपि सामान्यालङ्कारसत्त्वान्न काव्यत्वहानिरित्यवधेयम्।[3] और यहाँ (काव्य में किसी उपमादि) विशेष अलङ्कार के न होने पर भी (वक्रोक्ति) जैसे सामान्य (सब में रहने वाले) अलङ्कार के होने पर काव्य में (काव्यत्व को मानने पर) किसी प्रकार की क्षति नहीं होती ऐसा समझना चाहिए।

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति
2. काव्यप्रकाश 1, 4 वृत्ति
3. साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

अभिप्राय यह है कि आचार्य मम्मट और आचार्य विश्वनाथदेव यह मानते हैं कि काव्य में उपमादि विशेषालङ्कारों की स्थिति होनी ही चाहिए परन्तु यदि इन विशेषालङ्कारों का किसी विशेष स्थान पर समावेश न हो और वहाँ पर वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) जैसा सामान्यालङ्कार हो तो वहाँ काव्यत्व बना रहेगा। इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर आचार्य मम्मट ने निम्नलिखित उदाहरण दिया है–

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते।।[1]

इस श्लोक के विषय में उन्होंने कहा है – अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। यहाँ कोई स्पष्ट अलङ्कार नहीं है। यहाँ स्पष्ट अलङ्कार का उपमादि विशेष अलङ्कार अर्थ लेना चाहिए। इस स्फुटालङ्कार के विरह में जब काव्य में वक्रोक्ति जैसा (सामान्य-सर्वव्यापी) अस्फुट अलङ्कार होता है तो भी उसे काव्य माना जा सकता है।

प्रस्तुत उदाहरण में अनवीनत्व (पुरानापन) रूप अनुत्कण्ठा की कारणसामग्री के विद्यमान होने पर भी अनुत्कण्ठा रूप कार्य नहीं पैदा हो रहा है। इसके विपरीत चेतः समुत्कण्ठते अर्थात् चित्त में मिलने की इच्छा उत्पन्न हो रही है– इस रूप में उत्कण्ठा रूप कार्य उत्पन्न हो रहा है। यहाँ कवि ने मनोवैज्ञानिक ढंग से मन की विचित्र स्थिति का विचित्र वर्णन वक्रोक्ति का आश्रय लेकर किया है।

आचार्य विश्वनाथदेव ने भी आचार्य मम्मट और श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य के द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्त का अनुकरण करते हुए निम्नलिखित दो श्लोकों में वक्रोक्ति नामक सामान्य अलङ्कार की स्थिति बताई है –

आपृच्छस्व सखी र्नमस्कुरु गुरून् वन्दस्व बन्धुस्त्रियः
कावेरीतटसन्निविष्टनयने मुग्धे किमुत्ताम्यसि।
आस्ते पुत्रि समीप एव सदनादेलालतालिङ्गित-
न्यञ्चत्तीरतमालदन्तुरदरी तत्रापि गोदावरी।।[2]

यथा वा–

1. काव्यप्रकाश 1, 1
2. साहित्यसुधासिन्धु 1,1

अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं तापः सखीष्वाहितो
न्यस्तं दैन्यमशेषतः परिजने चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता।
अद्य श्वः खलु निर्वृतिं व्रजति सा श्वासैः परं खिद्यते
विस्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दुःखं विभक्तं तया।।

अत्रोभयत्र वक्रोक्तिःकाव्यजीवितं तस्या एव पुरःस्फूर्तिकत्वात् प्राधान्येन व्यपेदशा भवन्तीति न्यायात्। अत एवोक्तम्–[1]

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो ह्यनया विना।।
वक्रोक्तिश्च चमत्कारकारिण्युक्तिः।[2]

यहाँ आपृच्छस्वादि पहले श्लोक में पीहर और ससुराल दोनों में असम्बन्ध होते हुए भी एकरूपता रूप सम्बन्ध बताया है। ससुराल और पीहर के दोनों घरों को सुन्दर कहा है। इस चमत्कारपूर्ण उक्ति से पुत्री की विदाई का दृश्य सामने आ जाता है। यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध होने से असम्बन्धातिशयोक्तिरूप वक्रोक्ति है। दूसरे श्लोक में भी सम्प्रदान क्रिया न होने पर भी सम्प्रदान की क्रिया की कल्पना है। इस कारण वहाँ भी असम्बन्ध में सम्बन्ध के कारण अतिशयोक्ति रूप वक्रोक्ति है।

इन दोनों श्लोकों में काव्य की प्राणभूत वक्रोक्ति (नामक सामान्य अलङ्कार) है क्योंकि यही यहाँ सामने आकर स्फुरित अर्थात् प्रकट हो रही है। यद्यपि यहाँ वक्रोक्ति के साथ साथ वात्सल्य और विप्रलम्भ शृङ्गार इन दोनों रसों की भी स्थिति है तथापि यहाँ प्रधानता वक्रोक्ति की है। क्योंकि प्रधानता के आधार पर ही नाम पड़ा करते हैं इस नियम से यहाँ वक्रोक्ति को ही मानना चाहिए। इसीलिए कहा है सारे स्थानों पर यह प्रसिद्ध वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) रहा करती है। इससे अर्थ में विभावन (चमत्कार) आ जाता है। कवि को इसमें (काव्य के भीतर इसको रखने में) प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ऐसा कौन सा अलङ्कार है जो इसके बिना होता है और चमत्कार को उत्पन्न करने वाली उक्ति का ही नाम वक्रोक्ति है। यहाँ उपर्युक्त दोनों श्लोकों में यद्यपि कोई विशेष अलङ्कार नहीं दिखाई पड़ता तथापि सामान्य रूप से परिलक्षित वक्रोक्ति अर्थात् अतिशयोक्ति की स्थिति सर्वथा स्पष्ट है और वक्रोक्ति पद का अर्थ है चमत्कार भरी उक्ति और जो जहाँ चमत्कारकारी होता है उसी का प्राधान्य सिद्ध होता है और उसी को वह व्यपदेश (नाम) दिया जाता है।

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1, 2
2. वही 1, 4 तथा वृत्ति

भामह के अनुसार वक्रोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति है और कुन्तक ने इसका अर्थ वैदग्ध्यभङ्गीभणिति (चातुर्यपूर्ण प्रकार से कही गई उक्ति) माना है। किन्तु विश्वनाथदेव ने तो इसका अर्थ चमत्कारकारिणी उक्ति बताकर चमत्कार के क्षेत्र को बहुत बड़ा कर दिया है। परिणामस्वरूप इसके अन्तर्गत रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि और औचित्य तत्त्व तो आते ही हैं क्योंकि ये सारे तत्त्व चमत्कार को अभिव्यक्त करते हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त नायक नायिकाओं के वे अङ्गहार (चेष्टा) आदि भी आते हैं जिनके कारण काव्य और नाट्य में चमत्कार की अभिव्यक्ति होती है। वस्तुतः चमत्कार का रस, अलङ्कार और ध्वन्यादि के साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध है। रसादितत्त्व चमत्कार के व्यञ्जक हैं और चमत्कार व्यङ्ग्य है। इसे दूसरे प्रकार से भी माना जा सकता है चमत्कार से रसादि की अभिव्यक्ति होती है इसलिए चमत्कार व्यञ्जक है और रसादिव्यङ्ग्य। यदि यहाँ कार्यकारणभाव सम्बन्ध भी माना जाय तो रसगुणादि चमत्कार के कारण हो जाते हैं और चमत्कार इनका कार्य। चमत्कार को यदि कारण माना जाय तो रसगुणादि इसके कार्य हो जाते हैं।[1]

इस प्रकार काव्य के उपर्युक्त इन उदाहरणों में विशेषालङ्कार के विरह में सामान्यालङ्कार की ही अवस्थिति है। मम्मट ने तददोषौ० इत्यादि काव्यलक्षण में कहा है– दोषों से रहित, गुणयुक्त और साधारणतः अलङ्कारसहित परन्तु कहीं कहीं अलङ्काररहित शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि काव्य होती है। क्वापि पद रखने का यह अभिप्राय है कि वैसे तो सब जगह अलङ्कारसहित शब्द और अर्थ होने चाहिए परन्तु जहाँ कहीं व्यङ्ग्य रसादि की स्थिति विद्यमान हो वहाँ उपमादि अलङ्कार की स्पष्ट रूप से सत्ता न होने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। जैसे- यः कौमारहरः इत्यादि उदाहरण में कोई स्फुट अलङ्कार नहीं है फिर भी यहाँ रस की प्रधानता होने के कारण काव्यत्व है।[2]

---

1. (क) गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः।। चमत्कारचन्द्रिका प्रथम विलास पृ० 23
(ख) रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्। साहित्यदर्पण 3, 3 वृत्ति
2. तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।
क्वापीत्यनेनैतदाह यत् सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित् तु स्फुटालङ्कारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः। यथा– यः कौमारहरः–समुत्कण्ठते।। अत्र स्फुटो न कश्चिदलङ्कारः। रसस्य प्राधान्यान्नालङ्कारता। काव्यप्रकाश1, 4 वृत्ति

इस प्रकार आचार्य मम्मट का यह अभिप्राय है कि सब जगह अलङ्कारों वाले और कहीं कहीं उपमादि स्फुट अलङ्कारों से रहित शब्द और अर्थ काव्य होते हैं। आठवें उल्लास में मम्मट ने कहा है–

उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ।।[1]

अनुप्रास और उपमादि अलङ्कार काव्य की बाह्य शोभा बढ़ाने वाले धर्म हैं। इनका होना काव्य में गुण की तरह आवश्यक एवं अनिवार्य नहीं है। उनका यह कथन अपने पहले कथन सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्तु ही के विरोध में जाता है और इस कारण यहाँ वदतो व्याघात (अपनी ही बात का खण्डन) है। इसका समाधान बाद के आचार्यों ने बड़ी उत्तमता से किया है। विश्वनाथदेव ने दो प्रकार के अलङ्कार माने हैं– एक उपमादि विशेषालङ्कार और दूसरे वक्रोक्ति जैसे सामान्यालङ्कार। यह वक्रोक्ति अर्थात् अतिशयोक्ति नामक अलङ्कार सर्वत्र चमत्कार भरी उक्तियों में रहता है। यः कौमारहरः इत्यादि उदाहरण में इसी वक्रोक्ति अलङ्कार के होने से काव्यत्व है।

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो ह्यनया विना।।[2]

वक्रोक्ति चमत्कारकारिणी उक्ति को कहते हैं। वास्तव में यह वक्रोक्ति तथा उपमादि अलङ्कार काव्य के बाह्य तत्त्व नहीं हैं। ये भी गुणों की तरह काव्य के आवश्यक और अनिवार्य तत्त्व हैं। इससे अलङ्कारों की भी गुणों की तरह काव्य में आवश्यकी स्थिति हो जाती है। इस नवीन दृष्टिकोण से देखने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य मम्मट को जितना रसवादी और ध्वनिवादी माना जाता है उतना ही उन्हें अलङ्कारवादी भी माना जाना चाहिए क्योंकि वे काव्य में गुण की तरह अलङ्कार को भी अनिवार्य और अपरिहार्य तत्त्व मानते हैं। उत्तरवर्ती आचार्य विश्वनाथदेव ने शब्दकाव्यतावाद और शब्दार्थकाव्यतावाद के पक्ष और विपक्ष में अनेक युक्तियाँ दी हैं और अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद की स्थापना कर गुण, रस और अलङ्कार की काव्य में स्थिति मानी है। आचार्य मम्मट ने आठवें उल्लास में अलङ्कार को काव्य का अनिवार्य और अपरिहार्य धर्म नहीं माना है। विश्वनाथ ने भी मम्मटप्रोक्त इस अलङ्कारलक्षण को स्वीकार कर रस को ही अधिक महत्त्व दिया है। उत्तरवर्ती गोविन्द ठक्कुर और सिद्धिचन्द्र गणि ने काव्य में रस और अलङ्कार की

1. काव्यप्रकाश 8, 67
2. साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

वैकल्पिक स्थिति मानकर नया सिद्धान्त स्थापित किया है। इन दोनों टीकाकारों ने काव्य में रस और अलङ्कार इन दोनों में से किसी एक की वैकल्पिक स्थिति मानी है। इन दोनों ने काव्य में रस को अलङ्कार का विकल्प तथा अलङ्कार को रस का विकल्प माना है। गोविन्द ठक्कुर का कहना है काव्य में स्फुटालङ्कार या रस में से किसी एक की सत्ता तो अनिवार्य है किन्तु दोनों का रहना जरूरी नहीं है। इसलिए सालङ्कारौ विशेषण ठीक नहीं है। रसालङ्कारान्यतरवत्त्वं काव्यत्वम् कहना चाहिए।[1] गोविन्दठक्कुर का अनुकरण करते हुए काव्यप्रकाशखण्डनकार सिद्धिचन्द्रगणि ने भी कहा है–

अदोषत्वे सति सगुणत्वे च सति स्फुटालङ्काररसान्यतरवत्त्वं काव्यत्वमिति फलितार्थः।[2]

वागीश्वर विद्यालङ्कार ने रस के विकल्प के रूप में भाव और चमत्कार को रखा है और केवल चमत्कार के भी रहने से काव्य की सृष्टि एवं उत्तमकाव्यता मानी है।[3]

काव्य में बाह्य और आन्तरिक दो प्रकार का सौन्दर्य पाया जाता है। सामाजिक की दृष्टि पहले बाह्यसौन्दर्य पर पड़ती है और गहरे विवेचन के बाद ही आन्तरिकसौन्दर्य पर पड़ती है। यहाँ जो वक्रोक्ति (उक्तिसौन्दर्य) रूप सामान्य अलङ्कार है वही हमारे सामने पहले आता है और चमत्कार इसी में रहता है। वक्रोक्तिगत जो स्पष्ट चारुत्व है उसी को लेकर वक्रोक्ति की प्रधानता मानी जाती है। यहाँ वाच्यार्थ में अधिक चारुता है। जिसमें अधिक चमत्कार हो उसी का नाम रखा जाता है। इस कारण आपृच्छस्व० एवं अच्छिन्नं इन दोनों उदाहरणों में चमत्कारजनित वक्रोक्ति नामक सामान्य अलङ्कार है।

अनलङ्कृती पुनः क्वापि कहने का अभिप्राय यह है और फिर कहीं कहीं स्फुटालङ्कार से रहित भी अर्थात् सर्वत्र विशेषालङ्कार से युक्त और कहीं कहीं अपवाद रूप में विशेषालङ्कार के राहित्य में सामान्यालङ्कार होने पर काव्यत्व स्वीकार कर लेना चाहिए। मन में यह ध्यान रखना चाहिए कि जिन काव्यों में कहीं विशेषालङ्कार नहीं भी होता है वहाँ भी वक्रोक्ति जैसे सामान्य अलङ्कार की स्थिति अक्षुण्ण रहती है। यह व्याख्या इसलिए अपेक्षित है कि आचार्य मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में

1. काव्यप्रकाश 1, 4 काव्यप्रदीपटीका
2. वही 1, 4 काव्यप्रकाशखण्डनटीका
3. रसभावचमत्कारान्यतमप्राणपेशलः।
काव्यं शब्दार्थसन्दर्भोऽलौकिकानन्दसुन्दरः।।
तेषामन्यतमस्यापि-- काव्यता। वैदिकसाहित्यसौदामिनी 2, 7; 5, 110

परम्परागत समस्त काव्यलक्षणों के समन्वय की सफल चेष्टा की है। फलत: उनके काव्यलक्षण में रस, अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि, चमत्कार और औचित्य सभी विभिन्न सम्प्रदायों के काव्यसिद्धान्तों की सुन्दर सङ्घटना (समन्वय) है। यह काव्यलक्षण अलङ्कार, ध्वनि और रसादि अनेक तत्त्वों को अपने में समेटने के कारण विचित्र रूप होता हुआ भी अभिन्न (एक) रूप प्रतीत होता है।[1] जब उन्होंने अपने काव्यलक्षण में सभी सम्प्रदायों का समन्वय किया है तो ऐसी स्थिति में वे अलङ्कारसम्प्रदाय की कैसे उपेक्षा कर सकते थे? इसी अलङ्कारसम्प्रदाय को ग्रहण करने के लिए उन्होंने अनलङ्कृती पुन: क्वापि यह अन्तिम विशेषण दिया हुआ है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि आचार्य मम्मट सालङ्कारशब्दार्थकाव्यतावाद को स्वीकार कर रहे हैं। अदोषौ कहकर औचित्य सम्प्रदाय, सगुणौ कहकर ध्वनि, रस, रीति और वक्रोक्ति तथा अनलङ्कृती शब्दार्थौ कहकर अलङ्कारसम्प्रदाय को भी महत्त्व दिया है। अलङ्कारों के साथ साथ उन्होंने सगुणौ कहकर रस की स्थिति को भी स्वीकार किया है क्योंकि गुण और रस का अविनाभाव सम्बन्ध है। उन्होंने उत्तम, मध्यम और अवर काव्यभेदों में चमत्कार तत्त्व को भी समाविष्ट किया है।[2]

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि काव्य में अलङ्कारों की सत्ता क्यों आवश्यक हैं? इसके समाधान के लिए हमें मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण की सहायता लेनी पड़ेगी। किसी भी भाषा की किसी भी कविता को पढ़कर उसका जो शब्दगत और अर्थगत बाह्यसौन्दर्य होता है हम उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। सबसे पहले हमें यही बाह्यसौन्दर्य अपनी ओर आकर्षित करता है। बाह्यसौन्दर्य की प्रतीति के बाद ही अलङ्कार, रस, ध्वनि आदि में आन्तरिकसौन्दर्य का आस्वाद होता है। जिस प्रकार सुन्दर नारी के बाह्यसौन्दर्य के लिए सुन्दर अङ्गरचना एवं शोभाकर अलङ्कारों की आवश्यकता होती है और आन्तरिक सौन्दर्य के लिए दया, दाक्षिण्य, शिक्षादि आन्तरिक गुणों की भी अपेक्षा रहती है और वह हावों (शारीरिक चेष्टाओं) भावों (मानसिक चेष्टाओं) से युक्त होकर ही आकर्षण का केन्द्र बनती है उसी प्रकार सहृदयहृदयसंवेद्या कविता वनिता के लिए जहाँ बाह्य सौन्दर्याधायक अलङ्कार आवश्यक हैं वहाँ आन्तरिक सौन्दर्याधायक गुण, रस और चमत्कार भी अपेक्षित हैं। इस प्रकार आचार्य मम्मट और उनके अनुयायी आचार्य विश्वनाथदेव दोनों ही कविता में गुणों की तरह समवाय सम्बन्ध से रहने वाले अलङ्कारों की आवश्यक और अनिवार्य स्थिति को मानते हैं।

1. इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूप: प्रतिभासते यत्।
न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतु:।। काव्यप्रकाश 10, 604 वृत्ति
2. काव्यप्रकाश 1, 4-6 तथा वृत्ति; वही, 1, 4 सारबोधिनी टीका

V अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद

वस्तुत: काव्य में न तो शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्त्व है और न ही इनमें वह गौणप्रधानभाव है जिसमें या तो अर्थ की सहकारिता होने पर शब्द का अधिक महत्त्व है और या शब्द की सहकारिता होने पर अर्थ का अधिक महत्त्व होता है ये दोनों नियम ठीक नहीं हैं। इस कारण तीसरे मत अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद को मानने की आवश्यकता होती है। क्योंकि शब्द और अर्थ इन दोनों के भीतर अभेद (तादात्म्य सम्बन्ध) है इसलिए इन दोनों को अखण्ड कहा जाता है। अखण्डवाक्यार्थ-काव्यतावाद को इसलिए भी स्वीकार करना आवश्यक है क्योंकि शब्द में शब्दत्व जाति और अर्थ में अर्थत्व जाति रहती है। ये दोनों पृथक् जातियाँ अपने आश्रय काव्य में युगपद् नहीं रह सकतीं। इस कारण दोनों की युगपद् स्थिति होने पर साङ्कर्यदोष आने के कारण शब्दार्थौ काव्यम् यह काव्यलक्षण असङ्गत है। यदि शब्द: काव्यम् कहा जाये तो इस शब्द में अर्थ का भी अध्याहार करना पड़ता है। क्योंकि केवल शब्द या केवल अर्थ को काव्य नहीं माना जा सकता। क्योंकि कवे: कर्म काव्यम् इसमें समाख्या (व्युत्पत्ति) आधारित शब्दकाव्यतावाद और शब्दार्थकाव्यतावाद इन दोनों ही पक्षों में साधकबाधक युक्तियाँ दी गई हैं। अत: इनमें किसी एक ही पक्ष को सिद्ध करने वाली युक्तियों का अभाव होने के कारण यह तीसरा मत ही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। साहित्यसुधासिन्धु में आचार्य विश्वनाथदेव ने काव्य का यह लक्षण प्रस्तुत किया है–

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेष-जनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा च तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम्।[1]

वास्तव में तो अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि (अदोषं गुणवत्काव्य-मलङ्कारैलङ्कृतम्। रसान्वितं कवि: कुर्वन् कीर्त्तिं प्रीतिं च विन्दति।। सरस्वतीकण्ठाभरण 1,2) वाक्य से बताई हुई विधि से स्वर्गविशेष (सुखविशेष) के जनक उस काव्य के भीतर रहने वाली जनकता के अवच्छेदक अखण्डधर्म काव्यत्व की कल्पना कर लेनी चाहिए और वही काव्य का लक्षण हो जाये। आस्वाद-व्यञ्जकत्वं काव्यत्वप्रयोजकम्, अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ और शब्द: काव्यम् जैसे अननुगत (असङ्गत) इन लक्षणों का क्या लाभ? (हमारा यही लक्षण अनुगत है)

इस प्रकार यह सारा सिद्धान्त सुस्थिर हो गया है।

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 1,4 वृत्ति

इस प्रकार आचार्य विश्वनाथदेव ने अखण्डवाक्य को काव्य माना है। शब्द और अर्थ परस्पर सम्पृक्त होते हैं इनकी अलग अलग सत्ता नहीं है बल्कि अर्धनारीश्वर शिव की तरह इन दोनों की अपृथक् स्थिति होती है। जैसे एक आकाश में अनेकों में रहने वाला जाति रूप धर्म नहीं रहता और उनमें एक आकाशत्व रूप अखण्डोपाधिधर्म रहता है उसी प्रकार अखण्ड रूप में स्थित वाक्य में एक ही काव्यत्व रूप अखण्डोपाधि रहती है। सिद्धिचन्द्रगणि ने भी इस मत का इस प्रकार प्रतिपादन किया है–

नवीनास्तु काव्यत्वमखण्डोपाधि:, चमत्कारजनकतावच्छेदकस्य काव्यपद-प्रवृत्तिनिमित्तस्य चान्यस्य वक्तुमशक्यत्वात् तदेव लक्षणमस्तु (काव्यप्रकाश 1,4 काव्यप्रकाशखण्डनटीका) नवीनों का कहना है–चमत्कार-जनक काव्य में रहने वाला काव्यत्व अखण्डोपाधि रूप ही है। क्योंकि काव्यपद का प्रवृत्तिनिमित्तक चमत्कारजनकता रूप और कोई अन्य अवच्छेदक धर्म नहीं कहा जा सकता। अत: इसी को काव्यलक्षण मानना चाहिए। इस मत की स्थापना का आधार वेदान्त और व्याकरण है जिनमें पद, पदार्थ, वाक्य तथा वाक्यार्थ में अभेद स्वीकार किया गया है। काव्यप्रकाश में वैयाकरण और वेदान्तियों के इन मतों को बताया है–

अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्य: वाक्यमेव च वाचकम्।

(काव्यप्रकाश 5,47 वृत्ति)

(पदों तथा उनके अर्थो का ज्ञान क्योंकि क्रियाकारकादि भेद के बिना ही एक ही बुद्धि से होता है अत:) अखण्ड बुद्धि से समग्र रूप से समझे जाने योग्य वाक्यार्थ ही अभिधा के द्वारा बोध्य होता है और अखण्डवाक्य ही उसका वाचक है। वस्तुत: वाक्य में स्थित पद और पदों के अर्थ उसी प्रकार अविभक्त होकर रहते हैं जैसे चित्र में विविध रंग और पानकरस में विभिन्न द्रव्य एक होते हैं।[1] इस प्रकार अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद नामक यह मत आचार्य विश्वनाथदेव तथा आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि के द्वारा अनुमोदित मत है। इनके पूर्ववर्ती दण्डी, चण्डीदास और विश्वनाथ ने शब्दकाव्यत्व तथा वाक्यकाव्यत्व को स्वीकार किया है। इसी परम्परा

1. वाक्येनैव तावद् बद्धव्यवहार:। न च वाक्यावस्थायां पदानि पदार्था वा विभिद्यन्ते यथा चित्रे नीलपीतरक्तादय: पानके गुडाम्लीकमरिचादय: ग्रामरागे षड्जर्षभगान्धारादय: पृथक्त्वेन नावभासन्ते (वृ.दे. 1, 89) तथा क्रियाकारकविशेषणादिपदानि तदर्थवाक्यार्थाभ्याम् अभेदनैव प्रतीयन्ते वाक्यार्थो हि पदपर्यायस्त्वखण्ड एवाभिधीयमानो दृश्यते। काव्यप्रकाश 5, 47 श्रीश्रीधरविरचितविवेकटीका

के साथ विश्वनाथदेव और पण्डितराज जगन्नाथ भी जुड़ गये हैं।[1] किन्तु विश्वनाथदेव और सिद्धिचन्द्रगणि अखण्डवाक्यार्थकाव्यतावाद को भी मानते हैं। वस्तुतः शब्दः काव्यम् और वाक्यं काव्यम् ये दोनों समान अर्थ को द्योतित करते हैं। साहित्यदर्पण और साहित्यसुधासिन्धु में वाक्य और शब्द का समान लक्षण किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त यहाँ आचार्य विश्वनाथदेव ने स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदक अखण्डवाक्य को अखण्डकाव्य बताया है और आचार्य सिद्धिचन्द्रगणि ने भी चमत्कारजनकता-वच्छेदक वाक्यस्वरूप वाले काव्य में रहने वाले काव्यत्व को अखण्डोपाधि कहा है। इस अखण्डकाव्यत्व की तीन प्रकार की व्याख्या हो सकती है–

1. अखण्डकाव्य में विद्यमान अखण्डकाव्यत्व जाति होती है। इस अखण्डकाव्यत्व को उपाधि (गुण) रूप अवच्छेदक धर्म भी कहा जा सकता है। सार्थक वाक्य में रहने वाले शब्दार्थ परस्पर सम्पृक्त होकर रहने के कारण अखण्ड होते हैं। इस प्रकार अदोषत्वादिविशेषणविशिष्ट अखण्डवाक्य ही अखण्डकाव्य होता है।

2. अखण्ड काव्यान्तर्गत यह रस भी अखण्ड होता है। यह रस भी विभावादियों के समूचे समूह पर टिके हुए स्वरूप वाला होता है अर्थात् विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव की समष्टि से अभिव्यक्त रत्यादिभाव की समष्टि का नाम ही रस है यह सारभूत अर्थ निकलता है। इसलिए काव्यप्रकाश में भी पानकरसन्याय से रसानुभूति होती है यह कहा है।[3] जैसे बहुत सारे द्रव्यों का एकीभाव पानकरस कहा जाता है वैसे ही विभावादि का समूहालम्बनात्मक (एकरूपात्मक) ज्ञान रस कहलाता है। जैसे भिन्न भिन्न स्वाद एवं स्वरूप वाले एला, शर्करा, बादाम आदि द्रव्यों के मिश्रण से बनी हुई सरदाई में इन सब वस्तुओं के स्वाद से भिन्न कुछ

---

1. (क) शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यादर्श 1, 10
   (ख) आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम्। काव्यप्रकाश 1, 4 चण्डीदासकृत दीपिका टीका
   (ग) वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। साहित्यदर्पण 1, 3
   (घ) जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
   यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4
   (ङ) रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्। रसगङ्गाधर 1, 1
2. (क) वाक्यं स्याद् योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः। साहित्यदर्पण 2, 1
   (ख) आकाङ्क्षायोग्यतायुक्तस्तात्पर्यादिसमन्वितः।
   शब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिकीर्तितः।। साहित्यसुधासिन्धु 2, 1
3. तेन विभावादिसमूहालम्बनात्मा रस इति निर्गलितोऽर्थः। अतएव काव्यप्रकाशे पानकरसन्यायेनेति। साहित्यसुधासिन्धु 3, 27 वृत्ति

दूसरे प्रकार का स्वाद होता है इसी प्रकार विभावादि से संयुक्त रत्यादिभाव भी इन भिन्न भिन्न वस्तुओं के स्वरूप से भिन्न ही प्रकार के रसास्वाद के रूप में परिणत हो जाता है।

3. ज्ञान, प्रकाश और आनन्द की समष्टि से युक्त अखण्ड चमत्कार ही अखण्ड काव्य है। विभावन, अनुभावन और सञ्चारण व्यापारों के द्वारा सामाजिक के हृदय में पहले यत्किञ्चित् (थोड़ा) अस्पष्ट सा प्रकाश होता है (फिर स्फुट प्रकाश होता है।) तदनन्तर और अधिक स्पष्ट प्रकाश होता है तथा इस सबके बाद और सबसे अधिक स्पष्ट प्रकाश होता है।[1] पहले यह रसापरनामा चमत्कार रामसीतादि रूप नायकनायकादि में उनके अभिनयकौशल के कारण उनके साथ सामाजिक का तादात्म्य सम्बन्ध होने से उनके भीतर प्रतीत होता है फिर सामाजिक के द्वारा अपने हृदय में अनुभूत होता है।

इन विभावनादि तीन व्यापारों का यह फल है - रसास्वाद के समय सामाजिकों की ऐसी स्थिति होती है जिसमें उनके विषयान्तरों की समाप्ति हो जाती है। इस कारण अन्य विषयों का ज्ञान उन्हें स्पर्श तक नहीं करता है और इन विभावादियों के भीतर प्रत्यक्ष अनुभव किये जाने वाले चमत्कार की अभिव्यक्ति की जनकता आ जाती है। इस प्रकार ये विभावादि चमत्कार को अभिव्यक्त करने के कारण बन जाते हैं। काव्य में विभावादियों से रत्यादिभाव की अभिव्यक्ति होती है। अन्तःकरणवृत्ति रूप इन स्थायिभावों की अभिव्यक्ति होने पर चैतन्य एवं आनन्द रूप आत्मा की भी प्रतीति होती है। नाटक के देखने और काव्य के सुनने की महिमा से इस अभिव्यक्ति से चैतन्य के आनन्दांश में आवरणभङ्ग हो जाता है। रत्यादिसमन्वित, आनन्दांश में भग्नावरण वाला तथा आनन्द रूप में परिणत हुआ चैतन्य ही रस है यह सारभूत सिद्धान्त है।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में रस को अखण्ड, प्रकाश, आनन्द और चिन्मय (ज्ञान) रूप माना है और इसको अलौकिकचमत्कार रूपी प्राणों से युक्त

---

1. तेषां च विभावनानुभावनसञ्चारणाख्यव्यापारत्रयत्वात् तथाविधाः सञ्ज्ञाः तेषां च व्यापाराणां यथाक्रमं रत्यादेरीषत् प्रकाशः स्फुटतरः स्फुटतमश्च। साहित्यसुधासिन्धु 3, 27 वृत्ति
2. फलं विगलिवेद्यान्तरत्वेनावस्थितिः पुरःस्फुरणादिचमत्कारित्वं च। .... काव्ये हि विभावादिभिरभिव्यज्यते स्थायी। ...... अस्यां चाभिव्यक्तौ अन्तःकरणवृत्तिरूपायां चैतन्यानन्दस्वरूप आत्मा अपि भासते। ...... एवं च सति काव्यदर्शनश्रवणमहिम्ना उक्तयाऽ-भिव्यक्त्या चैतन्यस्यानन्दांशे आवरणभङ्गः क्रियते। तथा च रत्याद्वच्छिन्नं चैतन्यम् आनन्दांशे भग्नावरणमानन्दरूपतया परिणतं रस इति निर्गलितार्थः। साहित्यसुधासिन्धु 3, 27 वृत्ति

कहा है। आचार्य विश्वेश्वर कविचन्द्र ने रस और चमत्कार में कार्यकारणभाव सम्बन्ध बताया है।[1] वास्तव में यह कारणभूत रस ही चमत्कार रूप कार्य में परिणत हो जाता है।

VI काव्यभेद

आचार्य मम्मट ने ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र नामक तीन काव्यभेद माने हैं। इनको उत्तम, मध्यम और अवर नाम दिया है।[2] उत्तरवर्ती विश्वनाथ ने ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दो भेद माने हैं। उनका कहना है कि शब्दचित्र और अर्थचित्र का रसादि में ही तात्पर्य होता है और उनमें अलङ्कारत्व की प्रधानता होती है इसलिए गुणीभूतव्यङ्ग्य का मध्यमकाव्य में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[3]

आचार्य विश्वनाथदेव मम्मटोक्त इन तीनों काव्यभेदों को स्वीकार करके उनके उदाहरण भी देते हैं। साथ ही इन तीनों भेदों के वर्गीकरण का आधार ध्वनिमूलक चमत्कार को बताते हैं। व्यङ्ग्यचमत्कार होने पर ध्वनि नामक उत्तम काव्य, व्यङ्ग्य में कम चमत्कार होने पर (और वाच्य में अधिक चमत्कार होने पर) मध्यम काव्य और शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार में चमत्कार होने पर चित्र नामक अवरकाव्य ये तीन काव्यभेद हैं।[4]

इन तीनों भेदों के लक्षण और उदाहरण प्रदर्शित करने के बाद आचार्य विश्वनाथदेव इन तीनों के वर्गीकरण को अनुचित मानते हैं और ध्वनि नामक एक ही काव्यभेद को स्थापित करते हैं। वास्तव में तो ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र नामक ये ध्वनिभेद अनुचित हैं क्या इन तीनों भेदों में रस आदि की प्रतीति होती है? यदि नहीं प्रतीति होती तो काव्यत्वाभाव मानना पड़ेगा। यदि रस प्रतीत होता है यह माना जाये तो रस तो तीनों भेदों में एक जैसा होता है उसका उत्तम, मध्यम और अवर भेद असम्भव है

---

1. (क) सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
   वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः।।
   लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
   स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।। साहित्यदर्पण 3, 2-3
   (ख) गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
   सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः। चमत्कारचन्द्रिका प्रथमो विलासः पृ० 23
2. काव्यप्रकाश 1,4-5
3. (क) साहित्यदर्पण 4,1
   (ख) प्रकारोऽयं -- पुनः।। साहित्यदर्पण 4,14 वृत्ति
4. साहित्यसुधासिन्धु 1, 5-7

क्योंकि रस तो पूर्ण, अखण्ड और आनन्दस्वरूप है। उसके न्यूनाधिक मात्रा के आधार पर भेद नहीं हो सकते। मध्यमकाव्य में भी व्यङ्ग्यार्थ की गौणता होने के कारण उसे मध्यम कहा जाता है ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि उसके भीतर व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता होने पर भी अन्तिम चमत्कार की दृष्टि से उस (व्यङ्ग्यार्थ) की अप्रधानता वहाँ बिल्कुल मामूली रूप में होती है। गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य में भी अन्त में चमत्कार दृष्टिगत होता है उस समय इस बात की ओर ध्यान ही नहीं जाता कि वहाँ व्यङ्ग्यार्थ गौण है या प्रधान है। इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ चाहे गौण हो या प्रधान हो सबको एक ध्वनि नाम देना युक्तिसङ्गत है।[1] इसी प्रकार के विचार काव्यप्रकाशखण्डन में सिद्धिचन्द्रगणि ने भी व्यक्त किये हैं।[2] विश्वनाथदेव ने शब्दालङ्कारचमत्कारि यथा और अर्थालङ्कारचमत्कारि यथा कहकर शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार इन दोनों चित्रकाव्य के भेदों में चमत्कार की स्थिति स्वीकार की है।[3]

VII व्यक्ति में सङ्केतग्रह

आचार्य मम्मट ने सङ्केत का ग्रहण व्यक्ति की जात्यादि उपाधि में माना है और व्यक्ति में मानना अस्वीकृत किया है।[4] किन्तु विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में व्यक्ति में भी सङ्केत माना है। आकाशादि पदों में आनन्त्य और व्यभिचार दोष से बचने के लिए व्यक्ति में सङ्केत माना जा सकता है।[5]

VIII चतुर्विधा लक्षणा

आचार्य मम्मट ने छः प्रकार की लक्षणा बताई है किन्तु विश्वनाथदेव छः प्रकार की लक्षणा न मानकर चार प्रकार की लक्षणा मानते हैं। शुद्धालक्षणा के आयुर्घृतम् और गङ्गायां घोषः- इन दोनों उदाहरणों का अन्तर्भाव गौणीलक्षणा में कर दिया है क्योंकि आयुर्घृतम् में कार्यकारणभावसम्बन्ध के स्थान पर सादृश्यसम्बन्ध माना जा सकता है और गङ्गायां घोषः में भी समान गुणों का योग है। प्रत्येक प्रकार की लक्षणा

1. वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः --सर्वेषां ध्वनित्वं सम्भवात्।

साहित्यसुधासिन्धु 1, 7 वृत्ति

2. अत्र केचित्-चमत्कारापेक्षया सर्वेषां ध्वनित्वसम्भवात्।

काव्यप्रकाश 1,5 काव्यप्रकाशखण्डन टीका

3. साहित्यसुधासिन्धु 1,7 वृत्ति
4. काव्यप्रकाश 2,8 वृत्ति
5. साहित्यसुधासिन्धु 2,12 वृत्ति

में सदृशगुणों का योग ढूँढा जा सकता है। इस कारण सादृश्य सम्बन्ध और सादृश्येतर सम्बन्ध के आधार भेद करना ठीक नहीं है। (षड्विधात्वमनुपपन्नं गौण्यामपि उपादानादिसम्भवात्। साहित्यसुधासिन्धु 2,18 वृत्ति)

गौणीलक्षणा के ही उपादानलक्षणा, लक्षणलक्षणा, सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा ये चार भेद हैं।

IX व्यञ्जना का ही एकमात्रवृत्तित्व

श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य ने सारबोधिनी टीका और काव्यपरीक्षा में बताया है कि नवीनों का मत है कि उन उन (शब्दप्रतिपाद्य वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों) का उत्पादक व्यापार ही व्यञ्जना कहलाता है। यही व्यापार सब जगह है। यह न अभिधा है और न लक्षणा है। यह व्यञ्जना जब सङ्केतग्रह के नियम से सङ्केतित अर्थ का बोध कराती है तो अभिधा है, जब मुख्यार्थबाध के अनन्तर दूसरे अर्थ की प्रतीति कराती है तो लक्षणा है और जब तीर में बाधित होकर शैत्यपावनत्वादि रूप अर्थ की प्रतीति कराती है तो व्यञ्जना है।[1] विश्वनाथदेव ने भी साहित्यसुधासिन्धु में भी इस मत का उल्लेख किया है।[2]

X रसनिष्पत्तिप्रक्रिया एवं रस

काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने रसनिष्पत्तिविषयक चार आचार्यों के मत ही प्रदर्शित किये हैं किन्तु पण्डितराजजगन्नाथ ने इस सम्बन्ध में ग्यारह मत बताए हैं। काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने भट्टनायक के सत्त्वोद्रेक के कारण प्रकाशानन्दसंवित् (ब्रह्मसाक्षात्कारजन्य अनुभूति) तथा अभिनवगुप्त के वासनारूप में स्थित स्थायिभाव की अभिव्यक्ति को रस बताया है। किन्तु उत्तरवर्ती श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य, विश्वनाथदेव, पण्डितराजजगन्नाथ और सिद्धिचन्द्रगणि ने भग्नावरणचिद्वि-शिष्टरत्यादिभाव को रस बताया है। (अस्यां चाभिव्यक्तौ ..... चैतन्यं भग्नावरणमा-नन्दरूपतया परिणतं रसः।)[2] इस प्रकार इन आचार्यों ने रसनिष्पत्ति की नवीन दृष्टि से व्याख्या की है। मम्मट ने 8 रस माने हैं किन्तु विश्वनाथदेव ने 12 रस तथा उनके 12 स्थायिभाव बताये हैं।

---

1. नवीनास्तु तद्धीजनकत्वमेव व्यञ्जना....शक्तिशरीरघटकत्वेन.....अन्यत्तु काव्यपरीक्षायां द्रष्टव्यम्। काव्यप्रकाश 2, 18 सारबोधिनी
2. (क) नव्यास्तु तद्धीजन .... व्यञ्जनेत्याश्रयणात्। साहित्यसुधासिन्धु 2, 19 वृत्ति
   (ख) वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः। साहित्यसुधासिन्धु 1, 6 वृत्ति

XI ध्वनिभेद

आचार्य मम्मट ने ध्वनि के 51 शुद्ध भेद माने हैं किन्तु विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में केवल सात भेद माने हैं।[1]

XII दोषों के परिनिष्ठितलक्षण एवं दूषकताबीज

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में श्रुतिकटु आदि दोषों के लक्षण या तो दिये ही नहीं हैं यदि दिए भी हैं तो वे अत्यन्त संक्षिप्त हैं, अतः बहुत स्पष्ट नहीं हैं। किन्तु उत्तरवर्ती श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य और विश्वनाथदेव ने इन दोषों का लक्षण, पदकृत्य, परिनिष्ठितलक्षण और दूषकताबीज भी बताया है। इन दोनों आचार्यों के दोषविश्लेषण आचार्य मम्मट के दोषविवेचन से निस्सन्देह अधिक उत्कृष्ट हैं।

XIII तीन गुण

मम्मटप्रतिपादित 10 शब्दगुणों और 10 अर्थगुणों का तीन गुणों में अन्तर्भाव विश्वनाथदेव को स्वीकार्य नहीं है। आचार्य विश्वनाथदेव ने सभी छोटे बड़े गुणों के परिनिष्ठित लक्षण दिये हैं। इस कारण इन लक्षणों में साङ्कर्य, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति का निराकरण हो जाता है।

XIV सादृश्यमूलक अलङ्कारों में अन्य अलङ्कारों का अन्तर्भाव

इस ग्रन्थ में अलङ्कारों के विशेष लक्षणों के साथ परिनिष्ठित लक्षण भी दिये हुये हैं। मम्मट तथा विश्वनाथ ने सादृश्यमूलक अलङ्कारों का विस्तृत विवेचन किया है। किन्तु विश्वनाथदेव ने साहित्यसुधासिन्धु में सादृश्यमूलक अनन्वय, उपमेयोपमा आदि अलङ्कारों का उपमा तथा विभावनादि का विरोधाभास आदि में अन्तर्भाव दिखाया है। उपमा और अनन्वय जैसे सादृश्यमूलक अलङ्कारों, दृष्टान्त और अर्थान्तरन्यास जैसे परस्पर आंशिक सम्बन्ध रखने वाले अलङ्कारों के लक्षणों और उदाहरणों में सूक्ष्म भेद बताया है।

XV चमत्कारसम्प्रदाय

वैसे तो रसादि षट्सम्प्रदायों के प्रवर्तक भरतादि आचार्यों की कृतियों में भी चमत्कारसम्प्रदायसम्बन्धी सामग्री यत्र तत्र बिखरी हुई है। फिर भी चमत्कार को सम्प्रदाय का रूप प्रदान करने में प्राचीन आचार्यों में कुन्तक, क्षेमेन्द्र और मम्मट

---

1. साहित्यसुधासिन्धु 3,75 वृत्ति

अग्रणी हैं।[1] इनके पश्चाद्वर्ती विश्वनाथ, विश्वेश्वर कविचन्द्र, श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्य, कविकर्णपूर, विश्वनाथदेव, पण्डितराज जगन्नाथ और हरिप्रसाद आदि आचार्यों ने भी चमत्कारसम्प्रदाय की परम्परा को बहुत आगे बढ़ाया है। आचार्य राजशेखर का कथन है कि शास्त्रों का समारम्भ नदियों के उद्गमस्थल के प्रवाह की भाँति पहले सूक्ष्म रूप में रहता है बाद में अन्य धाराओं के मिल जाने से वह और बड़ा होता जाता है। यह विकसित शास्त्रप्रवाह लोकवन्द्य हो जाता है।[2] विशेष रूप से कविकर्णपूर, विश्वनाथदेव, पण्डितराज जगन्नाथ और हरिप्रसाद इन आचार्यों ने अपनी कृतियों में चमत्कारतत्त्व और चमत्कारसम्प्रदाय को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। किस किस आचार्य ने कितनी कितनी मात्रा में किस किस प्रकार से इस सम्प्रदाय का प्रतिपादन किया है इस तथ्य को उजागर करने के लिए यहाँ चमत्कारसम्प्रदाय के क्रमिक विकास को दिखाया जा रहा है। इसके अध्ययन से विश्वनाथदेवकृत साहित्यसुधासिन्धु के चमत्कारसम्प्रदाय की परम्परा में दिये गये योगदान को समझने में पूरी सहायता मिलेगी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उपर्युक्त चारों आचार्यों के समय में चमत्कार- सम्प्रदाय पूर्ण रूप से स्थापित हो गया था।

चमत्कारसम्प्रदाय का क्रमिक विकास

जो तत्त्व काव्य में चमत्कार उत्पन्न करता है वह चमत्कार कहलाता है। वह सामाजिक के चित्त में (विभावनादिव्यापारों से) काव्य में (अभिव्यक्त) अर्थों का (सामाजिक) को आस्वादन कराता है। सारे सम्प्रदाय चमत्कार सम्प्रदाय पर टिके हुए हैं।[3]

---

1. (क) लोकोत्तरचमत्कारकारि...... विधीयते।। वक्रोक्तिजीवित 1,2
   (ख) न हि चमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्।
   कविकण्ठाभरण 3, 1 वृत्ति
   (ग) लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म काव्यम्।। काव्यप्रकाश 1, 2 वृत्ति (लोकोत्तरचमत्कार-प्रकर्षानुगुणा वर्णना दीपिका टीका)
2. (क) सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
   ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः।।
   काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय शास्त्रनिर्देश
   (ख) पूर्वं ह्रस्वास्ततो दीर्घा भवन्ति ये शनैः शनैः।
   शास्त्राणां ते समारम्भाः प्रवाहाः सरितां यथा।।
   एवमेष चमत्कारः सूक्ष्मरूपः पुराऽभवत्।
   विकासभावमासाद्य सम्प्रदायत्वमागतः।। चमत्कारविचारचर्चा 3, 94-95
3. (क) चमत्करोति यः काव्ये चमत्कारः स उच्यते।
   आस्वादयति काव्यार्थान् सामाजिकस्य चेतसि।। काव्यचमत्कार 1,104
   (ख) सर्वेषां सम्प्रदायानां येनास्ति सम्प्रदायता। काव्यचमत्कार स्वस्तिवाक् श्लोक 7

काव्यशास्त्र में प्रचलित प्रसिद्ध छः सम्प्रदायों के साथ ही चमत्कारसम्प्रदाय की भी परम्परा प्राप्त होती है। भरतादि से लेकर मम्मटादि प्राचीन तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ से लेकर काव्यालोककार हरिप्रसाद तक नवीन आचार्यों ने अपनी कृतियों में चमत्कारतत्त्व का विवेचन किया है। आधुनिक काल के ए०बी०कीथ, सूर्यकान्त, वागीश्वर आदि अतिनवीन आचार्यों के भी अनेक चमत्कारविषयक मत उपलब्ध होते हैं। यहाँ संक्षेप से प्रमुख आचार्यों के मतों को दिखाया जा रहा है।

प्राचीन आचार्य

भरत—भरतोक्त रसनिष्पत्तिप्रक्रिया को चमत्कारनिष्पत्तिप्रक्रिया भी कहा जा सकता है। उन्होंने नाट्यशास्त्र में बताया है कि काव्यवासना से सुवासित चित्त वाले सामाजिक नानाभावों के अभिनय से व्यञ्जित रत्यादिस्थायिभावों का (रसचर्वणा के रूप में) पहले आस्वादन करते हैं इसके अनन्तर चमत्कारापरपर्याय हर्ष आदि को प्राप्त करते हैं। अन्न को स्वादु करने वाले व्यञ्जनौषधि के संयोग की तरह विभावादि का योग काव्यास्वाद कराता है।[1] उन्होंने अतिशय आदि 36 लक्षणों को काव्य में रखने का निर्देश दिया है।[2] इनमें चमत्कार सम्प्रदाय बीज रूप में अन्तर्निहित है।

आनन्दवर्धन—उन्होंने ध्वन्यालोक में अपने ग्रन्थ के निर्माण का प्रयोजन सहृदयमनःप्रीति कहा है और प्रीति का अर्थ आनन्द बताया है। इसी आनन्द का पर्याय चमत्कार है। उन्होंने स्फुरित और चमत्कृति को चमत्कार का पर्याय बताया है। यह चमत्कृति सहृदयों के चित्त में आविर्भूत होती है।[3]

भट्टतौत—अभिनवगुप्त के गुरु भट्टतौत ने नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा रूप प्रतिभासम्पन्न कवि कर्म को काव्य कहा है। काव्यकौतुक में प्रतिपादित यही वर्णना चमत्कारपूर्ण काव्य की कारण हुआ करती है।[4] उन्मेष (स्फुरण चमत्कार) से युक्त प्रतिभा से अनुप्राणित होकर कविता भी प्राणमयी हो जाती है।

---

1. यथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति। व्यञ्जनौषधिसंयोगो.......परस्परम्।। भरतनाट्यशास्त्र 6,32 वृत्ति तथा 6,38 (संशोधित विभावादेस्तथा योगो हर्षं नयति भावकान्)
2. काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः।। नाट्यशास्त्र 15,227
3. (क) काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति -- तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्।।
ध्वन्यलोक 1,1 तथा वृत्ति आनन्दोलभताम्
(ख) आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्यायः। ध्वन्यालोक 1, 1 अभिनवगुप्तकृतलोचनटीका
(ग) यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित् स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते। स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते। ध्वन्यालोक 4, 16 वृत्ति
4. (क) लोकोत्तरचमत्कारप्रकर्षानुगुणा वर्णना-- तदुक्तं काव्यकौतुके-

राजशेखर—प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों मिलकर ही श्रेयस्करी होती हैं। जैसे लावण्य के बिना सुन्दर रूप फीका प्रतीत होता है और रूपसम्पत्ति के बिना लावण्य भी अधिक आकर्षक नहीं होता है वैसे ही प्रतिभा और व्युत्पत्ति के अभाव में काव्य में चमत्कार प्रकट नहीं होता है। इन दोनों का संयोग बहुत बड़े सौन्दर्य (चमत्कार) के लिए होता है।[1] इसका अभिप्राय है कि लावण्य के बिना सुन्दर रूप भी मनोहर प्रतीत नहीं होता और रूपवैभव के बिना केवल लावण्य से भी सौन्दर्य में आकर्षण नहीं होता है। जैसे सौन्दर्य की पूर्णता के लिए रूप और लावण्य दोनों ही आवश्यक हैं इसी प्रकार काव्यसौन्दर्य के लिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों अनिवार्य हैं।

सुन्दर शब्दविन्यास पाक है और अनिर्वचनीय वस्तु, रस के अनुकूल शब्द एवं सूक्तियों का निबन्धन काव्यपाक है। गुणालङ्कार, रीति और उक्ति के अनुसार शब्द और अर्थ का जो गुम्फनक्रम है वही वाक्यपाक है।[2] काव्य में इन्हीं वाक्यपाकों का समावेश होता है। उन्होंने काव्यास्वाद के स्थान पर काव्यपाक शब्द का प्रयोग किया है और उक्तिविशेष (चमत्कारिणी उक्ति) को काव्य कहा है।[3] इसकारण उन्हें चमत्कारवादी आचार्य माना जा सकता है।

कुन्तक—अपने ग्रन्थ की रचना का उद्देश्य बताते हुए कुन्तक ने कहा है - लोकोत्तर चमत्कार के उत्पादक वैचित्र्य (वक्रोक्ति) की सिद्धि के लिए काव्य का अद्भुत एवं अभूतपूर्व अलङ्कार (काव्यालङ्कार) यह वक्रोक्तिजीवित ग्रन्थ मेरे द्वारा बनाया जा रहा है।[4] इस प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति को चमत्कार को उत्पन्न करने वाली विच्छित्ति कहा है। वक्रोक्ति का स्वरूप उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट किया है।

प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।
तदनुप्राणनाज्जीवद्वर्णनानिपुणः कविः।।
तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्। काव्यप्रकाश 1,2 दीपिकाटीका

1. प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ इति यायावरीयः, न खलु लावण्यलाभाद् ऋते रूपसम्पद् ऋते रूपसम्पदो वा लावण्यलब्धि र्महते सौन्दर्याय। काव्यमीमांसा काव्यपाककल्पः पञ्चमः अध्यायः
2. गुणालङ्काररीत्युक्तिशब्दार्थग्रथनक्रमः।
स्वदते सुधियां येन वाक्यपाकः स मां प्रति।। काव्यपाककल्पः
3. उक्तिविशेषः काव्यम् (कर्पूरमञ्जरी 1,7)
4. लोकोत्तरचमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धये।
काव्यस्यायमलङ्कारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।। वक्रोक्तिजीवित 1, 2
अभिधायाः प्रकारोऽस्ति कोऽपि यत्नादुदेत्यसौ।
काव्यस्य कापि विच्छित्तिः सोऽलङ्कारोऽभिधीयते।।

वक्रोक्ति ही वैदग्ध्यभङ्गीभणिति कहलाती है। प्रसिद्ध कथन से विलक्षण प्रकार का कथन वक्रोक्ति है। यह कथन वैदग्ध्य (चतुराई) की भङ्गिमा (प्रकार) से युक्त होता है। वैदग्ध्य का अभिप्राय है - विदग्ध का भाव निपुण कवि के काव्यरचनारूप कर्म का कौशल उसकी जो भङ्गी विच्छित्ति (चमत्कार) उसके द्वारा कथन। विचित्र ही अभिधा अर्थात् विचित्र ही उक्ति वक्रोक्ति है।[1]

दो प्रकार की वर्णनशैली होती है-एक तो प्रसिद्धाभिधान–यह लोक और शास्त्र में प्रचलित सामान्य अर्थ में होती है जैसे देवदत्तः ग्रामं गच्छति यह सामान्य वाक्य है। दूसरी शैली इससे भिन्न है वह लोकोत्तरचमत्कारकारिणी होती है। इसी का नाम विचित्रोक्ति या वक्रोक्ति है। कुन्तक के उत्तरवर्ती महिमभट्ट ने भी वक्रोक्ति का इसी प्रकार का अर्थ किया है। शास्त्रादि के प्रसिद्ध मार्ग को छोड़कर वैचित्र्य (चमत्कार) की सिद्धि के लिए उसी अर्थ को जब दूसरे प्रकार से कहा जाता है उसी को वक्रोक्ति कहते हैं।[2]

काव्यामृतरूपी रस के द्वारा काव्य के मर्मज्ञ सहृदयों (के हृदयों) के भीतर चमत्कार का विस्तार किया जाता है।[3] ये दोनों ही चमत्कारसमर्थक हैं।

इस प्रकार उन्होंने काव्यामृतरस को अलौकिक चमत्कारकारी बताया है।

क्षेमेन्द्र–चमत्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक इन आचार्य ने औचित्यविचारचर्चा नामक कृति में औचित्य का विचार करते हुए कहा है–

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।[4]

काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति में साहित्यमीमांसा टीका पर महेश्वर के द्वारा उद्धृत वक्रोक्तिजीवित की लुप्त कारिका।

1. वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्यभङ्गीभणितिरुच्यते।। वक्रोक्तिः प्रसिद्धाभिधानव्यतिरेकिणी विचित्रैवाभिधा। कीदृशी वैदग्ध्यभङ्गीभणितिः वैदग्ध्यं विदग्धभावः कविकर्म कौशलं तस्य भङ्गी विच्छितिः तया भणितिः। विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते। वक्रोक्तिजीवित 1, 10 तथा वृत्ति
2. प्रसिद्धमार्गमुत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये।
अन्यथैवोच्यते योऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता।। व्यक्तिविवेक 1, 66
3. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते।। वक्रोक्तिजीवित 1, 5
4. औचित्यविचारचर्चा 3 कारिका।

यहाँ उन्होंने औचित्य को रस का प्राण बताया है साथ ही उसको चमत्कार की उत्पत्ति करने वाला कहा है। उन्होंने चमत्कार को काव्य का अपरिहार्य घटक तत्त्व माना है।

चमत्कारविरहित कवि के भीतर कवित्व नहीं रहता और न ही चमत्काररहित काव्य के भीतर काव्यत्व रहता है।[1] उनका यह कहना है- सुन्दरी का तारुण्य यदि सौन्दर्यहीन हो तो जैसे वह दोष से मुक्त रहने पर भी किसी के चित्त को लेशमात्र भी आकर्षित नहीं कर सकता वैसे ही सुन्दर वर्णों से निबद्ध तथा पूर्णतः निर्दोष काव्य यदि चमत्कृति के उत्पादक शब्दों से रहित हो तो वह किसका मन थोड़ा भी आकृष्ट करेगा? सोना भी मूल्यवान् रत्नों के तेज से ही आकर्षक बनता है।[2]

उनका यह भी कहना है–पुष्पों से सुन्दर वनप्रदेश में वसन्त ऋतु के अवसर पर नवीन पुष्पों की विशेष सुगन्धि के आस्वाद के लिए दौड़ने वाले चञ्चल भौंरे के समान अपने काव्य में सौन्दर्यातिशय के निर्माण की इच्छा रखने वाला सत्कवि वाणी की चमत्कृति के लोभ से आकर्षक विषय (वस्तु) मनोहर शब्द तथा रमणीय अर्थ के सारतत्त्व वाले काव्य की रचना करता है।[3]

क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण में चमत्कार के भेद इस प्रकार बताये हैं –

1. अविचारितरमणीय 2. विचार्यमाणरमणीय 3. समस्तसूक्तव्यापी 4. सूक्तैकदेशदृश्य 5. शब्दगत 6.अर्थगत, 7. शब्दार्थगत 8. अलङ्कारगत 9. रसगत और 10. प्रख्यातवृत्तिगत।[4] इन दसों भेदों को उदाहरण देकर स्पष्ट किया है।

---

1. न हि चमत्कार रहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम्। कविकण्ठाभरण 3, 1 वृत्ति
2. एकेन केनचिदनर्घमणिप्रभेण
   काव्यं चमत्कृतिपदेन विना सुवर्णम्।
   निर्दोषलेशमपि रोहति कस्य चित्ते
   लावण्यहीनमिव यौवनमङ्गनानाम्।। वही 3, 22
3. सुकविरतिशयार्थी वाक्चमत्कारलोभा–
   दभिसरति मनोज्ञे वस्तुशब्दार्थसार्थे।
   भ्रमर इव वसन्ते पुष्पकान्ते वनान्ते
   नवकुसुमविशेषामोदमास्वादलोलः।। कविकण्ठाभरण 3, 1
4. तत्र दशविधश्चमत्कारः – अविचारितरमणीयः, विचार्यमाणरमणीयः, समस्तसूक्तव्यापी, सूक्तैकदेशदृश्यः, शब्दगतः, अर्थगतः, शब्दार्थगतः, अलङ्कारगतः, रसगतः प्रख्यातवृत्तिगतश्च।
   कविकण्ठाभरण 3, 2 वृत्ति

मम्मट–उन्होंने सद्य:परनिर्वृति कहकर परमानन्द रूप चमत्कार को काव्यप्रयोजन कहा है तथा चमत्कारप्रकर्षसंवलित चमत्कारिणी वर्णना को ही कविकर्म काव्य कहा है।[1] इस प्रकार की वर्णना से युक्त यह विलक्षण काव्य रसास्वादनप्रक्रिया से समुद्भूत अन्य विषयों के परिज्ञान से शून्य आनन्द (चमत्कार) को कवि और सहृदय के हृदय के भीतर व्यञ्जना से अभिव्यक्त कर देता है। यहाँ विगलितवेद्यान्तर पद को आनन्द का विशेषण बताया है। ऐसा आनन्द चमत्कार कहा जाता है। अभिनवगुप्त ने भी आनन्द का अर्थ चमत्कार किया है।[2] मम्मट ने तददोषौ इत्यादि काव्यलक्षण में सगुणौ पद का प्रयोग सरसौ अर्थ में करते हुए काव्य में रस की स्थिति स्वीकार की है और ये रसस्याङ्गिनो धर्मा० इत्यादि गुणलक्षण में भी अङ्गी रस को काव्यात्मा बताया है किन्तु रसादिलक्षणस्त्वर्थ: स्वप्नेऽपि न वाच्य: कहकर रस में ध्वनि की स्थिति भी मानी है।[3] इस प्रकार उन्होंने काव्य के लिए रस और ध्वनि के समन्वित रूप वाली रसध्वनि को काव्य का परमावश्यक तत्त्व माना है। रसध्वनिसमर्थक आचार्यों का यह प्रसिद्ध वचन है –

रसध्वनि र्न यत्रास्ति तत्र वन्ध्यं विभूषणम्।
मृतायामेणशावाक्ष्यां किं फलं हारसम्पदा।।[4]

---

1. (क) सद्य:परनिर्वृतये। लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म काव्यम्।
काव्यप्रकाश 1, 2 तथा वृत्ति
(ख) लोकोत्तरचमत्कारप्रकर्षानुगुणा वर्णना तत्र निपुण:। वही 1, 2 दीपिका
(ग) लोकादचमत्कारिणो बोधादुत्तरोत्कृष्टा चमत्कारिणी या वर्णना बुद्धिस्तन्निपुणं कविकर्म काव्यम्। काव्यप्रकाश 1, 2 विवरणटीका
2. (क) रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दं .... विलक्षणं यत् काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणं कविकर्म तत् ..... कवे: सहृदयस्य च करोतीति सर्वथा तत्र यतनीयम्। काव्यप्रकाश 1, 2 वृत्ति
(ख) विगलितवेद्यान्तरत्वं च विषयान्तरसञ्चाराभाव: अयमेव चमत्कार इत्यभिधीयते।
काव्यप्रकाश 1, 2 मधुमतीटीका
(ग) सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते। आनन्दो निर्वृत्यात्मा चमत्कारापरपर्याय:। ध्वन्यालोक 1, 1 वृत्ति तथा लोचन टीका
3. (क) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन: क्वापि। काव्यप्रकाश 1, 4
(ख) ये रसस्याङ्गिनो धर्मा: शौर्यादय इवात्मन:।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणा:।। काव्यप्रकाश 8, 1
(ग) काव्यप्रकाश 5, 47 वृत्ति
4. काव्यप्रकाश 10, 27 बालचित्तानुरञ्जनी टीका

किन्तु रसध्वनिवादी होते हुए भी उन्होंने उत्तम, मध्यम और अवर इन तीनों काव्यभेदों में ध्वनिमूलक चमत्कार, वाच्यमूलक चमत्कार और अलङ्कारमूलक चमत्कार माना है।[1] इसलिए ये चमत्कार समर्थक आचार्य हैं।

अवर काव्य को गुणालङ्कारयुक्त बताया है। इसमें गुण और अलङ्कारों का चमत्कार तो रहता ही है भले ही वह व्यङ्ग्यार्थविहीन रहता है।[2] वाक्यगत श्रौती उपमा के स्वप्नेऽपि० इत्यादि उदाहरण में वाच्यवैचित्र्य के प्रतिभास से चमत्कार की प्रतीति हो रही है। जैसे पति की सेवा करती हुई स्वाधीनपतिका नायिका लोकोत्तरचमत्कारकारिणी होती है वैसे ही राजा की सेवा करते समय विजयश्री लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने वाली है। यहाँ वाच्यवैचित्र्य चमत्कारकारक है।[3] मम्मट ने अपने काव्यलक्षण में तो चमत्कारपद को नहीं रखा है किन्तु काव्यभेदों को दिखाते हुए उनमें चमत्कार की स्थिति मानी है। उन्होंने रसनिष्पत्तिप्रक्रिया में अभिनवगुप्त का मत दिखाया है और वहाँ यह बताया है कि शृङ्गारादि रस अलौकिक चमत्कारकारी है। वे स्वयं भी इस मत से पूर्णतया सहमत प्रतीत होते हैं।[4] इस प्रकार विगलितवेद्यान्तरचमत्कारापरपर्याय आनन्द, लोकोत्तरचमत्कारप्रकर्षानुगुणावर्णना-निपुणकविकर्म काव्य, चमत्कारमूलक ध्वनिभेद तथा अलङ्कारगत वाच्यवैचित्र्य (चमत्कार) को प्रदर्शित करने वाले आचार्य मम्मट ध्वनिवाद की तुलना में चमत्कारवाद का अधिक समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं। ध्वनिजन्यचमत्कार के कारण निःशेषच्युत० इत्यादि को उत्तम काव्य का उदाहरण बताया है।[5]

---

1. (क) इदं काव्यं वाच्यादतिशायिन्यधिकचमत्कारकारिणि व्यङ्ग्ये उत्तमम्। काव्यप्रकाश 1.4 काव्यप्रदीपटीका। इदमुत्तममतिशायिनि यहाँ अतिशयपद चमत्कारवाचक है।
   (ख) अतादृशि-- वाच्यस्यैव चमत्कारित्वात्।
   चित्रमिति गुणालङ्कारयुक्तम्। यत्र तयोरेव प्राधान्येन चमत्कारित्वमित्यर्थः।
   काव्यप्रकाश 1, 4-5 एवं वृत्ति तथा काव्यप्रकाशखण्डनटीका
2. (क) चित्रमितिगुणालङ्कारयुक्तं यच्च काव्यं केवलवाच्यवाचकवैचित्र्यभाक् तत् चित्रम्। काव्यप्रकाश 1, 5 वृत्ति तथा माणिक्यचन्द्रकृत सङ्केतटीका
   (ख) यत्र तयोरेव प्राधान्येन चमत्कारित्वमित्यर्थः। काव्यप्रकाश 1, 5 सारबोधिनी टीका
3. स्वप्नेऽपि समरेषु त्वां विजयश्री र्न मुञ्चति।
   प्रभावप्रभवं कान्तं स्वाधीनपतिका यथा।।
   स्वाधीनपतिका कान्तं भजमाना यथा लोकोत्तरचमत्कारभूः तथा जयश्रीस्त्वदासेवनेन....... न खलु व्यङ्ग्यसंस्पर्शपरामर्शादन्यत्र चारुत्वप्रतीतिः अपितु वाच्यवैचित्र्यप्रतिभासादेव।
   काव्यप्रकाश 10, 392 वृत्ति
4. अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः। काव्यप्रकाश 4, 28 वृत्ति।
5. काव्यप्रकाश 1.2

नारायण एवं धर्मदत्त–विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इनका मत इस रूप में उद्धृत किया है–

जैसा कि धर्मदत्त ने कहा है – रस में सार चमत्कार है और वह सर्वत्र शृङ्गारादिरसों में अनुभव किया जाता है। उस चमत्काररूपस्थायिभाव के होने पर सर्वत्र शृङ्गारादि रसों में अद्‌भुत रस (अद्‌भुत तत्त्व) होता है इस कारण विद्वान् नारायण ने अद्‌भुत रस को ही एकमात्र रस कहा है।[1] यहाँ चमत्कार पद का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है- 1. विलक्षण ज्ञान रूप काव्यास्वाद और विस्मय स्थायिभाव (स्थिरांश)। सर्वरसप्राणभूत चमत्कार के मिश्रण से शृङ्गारादि रस भी अभिव्यक्त हो जाते हैं।[2]

जयदेव– विचित्रार्थख्याति रूप अक्षरसंहति लक्षण में चमत्कारी अर्थ का प्रकाशन किया जाता है और अभिमान लक्षण में कल्पित अर्थ का चमत्कारी निषेध होता है ऐसा कहकर उन्होंने चमत्कारसम्प्रदाय का प्रतिपादन किया है।[3] इन लक्षणों में चमत्कारसम्प्रदाय भी अन्तर्गभित है।

नवीन आचार्य

विश्वनाथ–उन्होंने चमत्कार को चित्त का विस्तार करने वाला तत्त्व बताया है और इसे विस्मय नामक स्थायिभाव का पर्यायवाची माना है। यह लोकोत्तर चमत्कार रस का प्राण है। उनका यह भी कहना है कि हमारे प्रपितामह पण्डितमुख्य नारायण ने भी चमत्कार को रस का प्राण बताया है।[4] इस चमत्कार को रस का स्थायिभाव मानने पर उससे अद्‌भुत रसरूपकार्य सम्पन्न होता है। इस प्रकार चमत्कार कारण और रस कार्य है। चमत्कार अद्‌भुत रस के अतिरिक्त अन्य रसों का भी कारण है और वह उनमें ओतप्रोत भी रहता है। साहित्यदर्पण के हिन्दी टीकाकार शालग्राम शास्त्री ने अपनी पहली टिप्पणी में चमत्कार और व्यञ्जना को रस का कारण और रस को कार्य

1. यथाह धर्मदत्तः –
रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्रानुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्‌भुतो रसः।।
तस्माददद्‌भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्। साहित्यदर्पण 3, 3 वृत्ति
2. नारायणदासैरप्युक्तमिति – चमत्कार एव सर्वरसप्राणभूतः। तस्य च रत्याद्यंशशबलत्वेन यथायथं शृङ्गारादिव्यपदेशः। साहित्यदर्पण 3, 3 अनन्तदासकृतलोचनटीका
3. चन्द्रालोक 3,1; 3,3
4. लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः।।
तत्प्राणत्वं चास्मद्वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्।
साहित्यदर्पण 3, 3 तथा वृत्ति

बताया है किन्तु दूसरी टिप्पणी में रस अलङ्कार, रीति आदि को चमत्कार का कारण और चमत्कार को कार्य कहा है।[1] पहला मत नारायण एवं विश्वनाथ के मत से मिलता है और दूसरा मत विश्वेश्वर कविचन्द्र के मत के साथ सङ्गत होता है। आगे जाकर स्वयं विश्वनाथ ने वत्सल रस को चमत्कारजनक मानकर चमत्कार का कारण बताया है और चमत्कार की कार्यता का प्रतिपादन किया है।[2] उन्होंने साहित्यदर्पण (षष्ठ अध्याय) में चमत्कारानुप्राणित 36 लक्षणों को लक्षणोदाहरणप्रदर्शनपूर्वक प्रदर्शित किया है। इससे इनकी चमत्कार के प्रति निष्ठा सिद्ध होती है।

विश्वेश्वर कविचन्द्र–उन्होंने बताया है कि चमत्कार ऐसा तत्त्व है जो सामाजिक के हृदय में आनन्दप्रवाह को बहाने वाला है।[3] अतः यही आनन्द रूप चमत्कार काव्य का अवच्छेदक धर्म है। चमत्कारयुक्त शब्द और अर्थ काव्य के रूप में काव्यतत्त्ववेत्ताओं के द्वारा जाने जाते हैं।[4] इसके तीन भेद इस प्रकार हैं– चमत्कारि, चमत्कारितर और चमत्कारितम। जहाँ शब्द में चमत्कार होता है वहाँ चमत्कारि, जहाँ वाच्यार्थ में चमत्कार वहाँ चमत्कारितर और जहाँ व्यङ्ग्यार्थ में चमत्कार वहाँ चमत्कारितम नामक काव्यभेद होता है।[5] गुण, रीति, रस, वृत्ति, पाक, शय्या, और अलङ्कार ये सात चमत्कार के कारण हैं। इन सात कारणों से मिलकर बना हुआ यह चमत्कारपूर्ण काव्य सात अङ्गों से बने हुए साम्राज्य की तरह शोभित होता है।[6] ये चमत्कार समर्थक आचार्य है।

---

1. साहित्यदर्पण 3, 3 विमला टीका के अन्तर्गत अर्वाचीन साहित्य विवेचना की समाप्ति पर।
2. (क) स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः। साहित्यदर्पण 3, 25
   (ख) स्फुटं स्पष्टं चमत्कारितया चमत्कारजनकतया वत्सलं रसं विदुः।
   साहित्यदर्पण 3, 251 कुसुमप्रिया टीका
3. चमत्कारस्तु विदुषामानन्दपरिवाहकृत्।
4. वागर्थौ सचमत्कारौ काव्यं काव्यविदो विदुः।। चमत्कारचन्द्रिका प्रथम विलास पृ० 73
5. शब्दार्थरूपं तदिदं काव्यं शब्दार्थकोविदैः।
   त्रैविध्येन चमत्कारि चमत्कारितरं यथा।।
   चमत्कारितमं चेति प्रविविच्य निदर्शितम्।
   शब्दचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारीति कथ्यते।।
   वाच्यचारुत्वतात्पर्ये चमत्कारितरं मतम्।
   प्रत्येयार्थस्य चारुत्वे चमत्कारितमं मतम्।। चमत्कारचन्द्रिका तृतीय विलास पृ० 73, 77
6. गुणं रीतिं रसं वृत्तिं पाकं शय्यामलङ्कृतिम्।
   सप्तैतानि चमत्कारकारणं ब्रुवते बुधाः।।
   सप्ताङ्गसङ्गतं काव्यं साम्राज्यमिव भासते।
   लक्ष्यते तदिदं साङ्गं मया कृतधियां मुदे।। चमत्कारचन्द्रिका प्रथम विलास पृ० 2, 3

इन सात उपादानकारणों से चमत्कार रूपी कार्य की उत्पत्ति होती है। इन सब का परिवर्तित रूप चमत्कार है। कारण की अपेक्षा कार्य का अधिक महत्त्व होने से रसादिकारणों की तुलना में चमत्कार रूपी कार्य का अधिक महत्त्व है। स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र, दुर्ग और सेना ये साम्राज्य के सात अङ्ग माने जाते हैं। जैसे राजा और अमात्यादि से राज्य की सर्वाधिक शोभा होती है वैसे ही सात गुणरीत्यादि के द्वारा यह चमत्कार विशिष्टता को प्राप्त करता है।[1]

कविकर्णपूर–बंगाल में उत्पन्न हुए परमानन्दसेन उपनाम वाले आचार्य कविकर्णपूर विश्वनाथदेव और पण्डितराज जगन्नाथ के समकालीन थे। उन्होंने अपने ग्रन्थ अलङ्कारकौस्तुभ में स्वानन्दरूप रस का अनुभव करने वाले, चैतन्यतत्त्व से निर्मित शरीर वाले और अधमात्माओं एवं पुण्यात्माओं को चमत्कार रूपी अमृत से स्नान कराने वाले भगवान् श्रीकृष्ण का जय जयकार किया है।[2] अग्निपुराण में भी आदिब्रह्म को चैतन्यस्वरूप कहा गया है और उसकी आनन्दाभिव्यक्ति को भी चैतन्य, चमत्कार और रस का नाम दिया गया है।[3] उन्हीं श्रीकृष्ण की कृपा से सहृदय सामाजिकों की सुन्दर (सूक्ष्म) दृष्टि में व्यञ्जनावृत्ति की अभिव्यक्ति होती है अर्थात् उन्हें व्यञ्जनावृत्ति का मर्म दृष्टिगोचर हो जाता है। यह भी उन्हीं की लीला है कि उनके दर्शन से उत्पन्न आनन्दाश्रुओं से धोये जाने के कारण सुनयना गोपाङ्गनाओं के नेत्रों में लगा हुआ काजल बह जाता है। शब्द और अर्थ का अतिक्रमण करके प्रतीयमान अर्थ को बताने वाली ध्वनि के समान उनकी मुरलीध्वनि भी वैकुण्ठादि (विष्णुलोकादि) स्थान में प्राप्त होने वाले आनन्द एवं ब्रह्मानन्द (मुक्तिजन्य आनन्द) को मात करने वाली है अर्थात् मुरलीध्वनिजन्य वह आनन्द और सभी प्रकार के लौकिक और अलौकिक आनन्दों से बढ़ चढ़ कर है।[4] काव्य के श्रवण और प्रेक्षण से आलङ्कारिकों

1. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशो राष्ट्रदुर्गबलानि च।
अङ्गानि सप्तसङ्ख्यानि राज्यस्य प्रथितानि वै।।
यथामात्यादिभिः शोभा महती तस्य जायते।
तथा गुणादिभिरेष चमत्कारो विशिष्यते।। चमत्कारविचारचर्चा 3, 145-146
2. स्वानन्दरससतृष्णः कृष्णश्चैतन्यविग्रहो जयति।
आपामरमपि कृपया सुधया स्नपयाम्बभूव भूमौ यः।। अलङ्कारकौस्तुभ 1,1
3. अक्षरं परमं ब्रह्म सनातनमजं विभुम्।
वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।।
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।। अग्निपुराण 339, 1-2
4. स जयति येन प्रभवति दृशि सुदृशां व्यञ्जनावृत्तिः।
अतिशयितपदपदार्थो ध्वनिरिव मुरलीध्वनि र्मुरारेः।।

को व्यञ्जनावृत्ति का ज्ञान हो जाता है और सुन्दरियों के नेत्र में व्यञ्जना अर्थात् हर्षाश्रुओं के द्वारा धोने के कारण विगताञ्जना (धुलकर नष्ट हुए काजलवाली) वृत्ति का जन्म हो जाता है। इसके फलस्वरूप दोनों ही चमत्कारदशा को प्राप्त कर लेते हैं।

उन्होंने काव्य के घटकतत्त्वों को समझाने के लिए काव्यपुरुष की कल्पना की है। उस काव्यपुरुष के शब्दार्थ शरीर हैं, ध्वनि (पञ्च) प्राण हैं और रस (चमत्कार) आत्मा है। चातुर्यादि गुणों की तरह माधुर्यादि गुण हैं, उपमादि अलङ्कार लौकिक अलङ्कारसमूह हैं और रीति अङ्गसौष्ठव है।[1] उन्होंने काव्यलक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि कवि की शब्दार्थमयी असाधारणचमत्कारिणी रचना काव्य कही जाती है। कविवाङ्निर्मिति कहने से यह अर्थ भी हो जाता है कि रसापकर्षकदोषरहित, यथासम्भव गुणालङ्कार और रसात्मक शब्दार्थयुगल काव्य होता है। असाधारणचमत्कारिणी रचना यह कहने से काव्यप्रकाशोक्त दोषाभाव और गुणवैशिष्ट्य, शब्दार्थोभयत्वादि विशेषण के बिना भी केवल चमत्कार के कारण काव्यलक्षण सम्पन्न हो जाता है।[2] अथवा यह काव्यत्व गोत्वादि की तरह जातिरूप है। जैसे सास्नादि अवयवों वाली गोव्यक्तियों में असाधारण गोत्व नामक धर्म रहता है वैसे ही काव्य में सहृदयहृदयास्वाद्य काव्यत्वस्वरूप वाला काव्यत्वधर्मविशेष रहता है।[3]

पदं वैकुण्ठादिस्थानं पदार्थो वस्तुभूतो ब्रह्मानन्दः, ताभ्यामप्यतिशयी तत्र तत्रापि दुर्लभ इत्यर्थः। येन हेतुभूतेन सुदृशां गोपाङ्गनानां दृशि नेत्रे व्यञ्जना विगताञ्जना वृत्तिः प्रभवति आनन्दाश्रुधौतत्वात्। ध्वनिरुत्तमकाव्यतत्त्वं व्यङ्ग्यभूतं यत् किमपि स कीदृशः अतिशयितौ पदपदार्थौ येन पदपदार्थातिरिक्त इत्यर्थः। सुष्ठु पश्यन्तीति सुदृशः आलङ्कारिकास्तेषां दृशि ज्ञाने येन व्यञ्जनावृत्तिः प्रभवति प्रादुर्भवति। अलङ्कारकौस्तुभ 1, 2 तथा वृत्ति

1. शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रसो
गुणा माधुर्याद्या उपमितिमुखोऽलङ्कृतिगणः।
सुसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्यपुरुषो
यदस्मिन् दोषः स्याच्छ्रवणकटुतादिः स न परः।। कविकर्णपूरकृत अलङ्कारकौस्तुभ 1, 1

2. (क) कविवाङ्निर्मितिः काव्यम्। तेन रसापकर्षकदोषरहितं यथासम्भवगुणालङ्कारं रसात्मकं शब्दार्थयुगलं काव्यमिति लक्षणस्य स्वरसः। अलङ्कारकौस्तुभ 1, 2 तथा वृत्ति
(ख) तेन असाधारणचमत्कारिणी रचनेति व्याख्यानेन काव्यप्रकाशोक्तं दोषाभावगुण-वैशिष्ट्यशब्दार्थोभयत्वादिविशेषणं विनैव निर्वाहः कृतः।
अलङ्कारकौस्तुभ 1, 2 लोकनाथविरचितसंस्कृतटीका

3. अथवा काव्यत्वं नाम गोत्वादिवज्जातिरेव। यथा सास्नाद्यवयववतीषु गोव्यक्तिषु .... कोऽप्यसाधारणो धर्मो गोत्वं तथा शब्दार्थसङ्घातस्य सहृदयहृदयास्वाद्यः कोऽपि काव्यत्वलक्षणो धर्मविशेषः काव्यत्वं जातिः। अलङ्कारकौस्तुभ 1, 2 वृत्ति

उन्होंने मम्मट का अनुकरण करते हुए पहले काव्य के ये तीन भेद किये हैं - 1. उत्तम 2. मध्यम और 3. अवर।

1. उत्तमकाव्य–ध्वनि का वैशिष्ट्य (वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ का अधिक चमत्कारित्व) होने पर उत्तम काव्य होता है। 2. **मध्यमकाव्य** - वाच्यार्थ की तुलना में व्यङ्ग्यार्थ के बराबर या कम चमत्कार होने पर मध्यमकाव्य होता है। 3. **अवरकाव्य** - व्यङ्ग्यार्थ के निष्प्राण, अस्पष्ट और सहृदयहृदय में शीघ्र प्रकट न होने पर अवरकाव्य होता है।[1] यहाँ ध्वनिपद का प्रयोग व्यङ्ग्यार्थ के अर्थ में है। मम्मट ने उत्तमकाव्य को ध्वनि कहा है किन्तु कविकर्णपूर ने व्यङ्ग्यार्थ को ध्वनि कहा है। इसके बाद उन्होंने मम्मट से थोड़ा हटकर पण्डितराजजगन्नाथ की भाँति उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अवर ये चार काव्यभेद भी दिखलाये हैं। जहाँ एक ध्वनि से अनेक ध्वनियाँ निकलती हों और इसके साथ ही शब्दचमत्कार और अर्थचमत्कार होता है वह काव्य उत्तमोत्तम होता है। इसमें ध्वनिचमत्कार, ध्वन्यन्तर-चमत्कार और शब्द एवं अर्थ के चमत्कार होते हैं। इसमें अनुरणनात्मक ध्वनि अर्थात् एक ध्वनि से दूसरी ध्वनि और दूसरी ध्वनि से तीसरी आदि ध्वनियाँ हुआ करती हैं। उत्तमकाव्य में एक ध्वनि का चमत्कार तथा शब्दार्थ का चमत्कार होता है। उन्होंने ध्वनि के दो व्यापारों के कारण उत्तमोत्तम और उत्तम काव्यभेद माने हैं।[2] मध्यमकाव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ में कम अथवा तुल्य चमत्कार होता है और अवरकाव्य में शब्द तथा अर्थ का चमत्कार होता है किन्तु वहाँ ध्वनि निर्जीव और निष्प्राण होती है। जिस मध्यम और अवरकाव्य में ध्वनिजन्यचमत्कार की न्यूनता होती है वहाँ यदि शब्दार्थ का चमत्कार हो तो मध्यमकाव्य उत्तम हो जाता है और अवरकाव्य मध्यम हो जाता है।[3] इस प्रकार कविकर्णपूर ने सभी काव्यों के लिए चमत्कारजनक शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों को भी अनिवार्य तत्त्व के रूप में

1. उत्तमं ध्वनिवैशिष्ट्ये मध्यमे तत्र मध्यमम्।
अवरं तत्र निष्पन्द इति त्रिविधमादितः।। अलङ्कारकौस्तुभ 1, 6

2. ध्वने र्व्यापारयुगलं ध्वननमनुध्वननञ्च। यत्र केवलं ध्वननं तदुत्तमं काव्यम्।
अलङ्कारकौस्तुभ 1, 58 वृत्ति

3. ध्वने र्ध्वन्यन्तरोद्गारे तदेव ह्युत्तमोत्तमम्।
शब्दार्थयोश्च वैचित्र्ये द्वे यातः पूर्वपूर्वताम्।।
यदि ध्वनिवैशिष्ट्ये ध्वन्यन्तरवैशिष्ट्यं स्यात् यदि वा शब्दार्थयो र्वैचित्र्यं भवति तदा काव्यमुत्तमोत्तमम्। एवं शब्दार्थवैचित्र्ये सति मध्यमावरे पूर्वपूर्वतां यातः। मध्यममुत्तमं भवति, अवरं मध्यमं भवतीत्यर्थः। अलङ्कारकौस्तुभ 1, 7 तथा वृत्ति

स्वीकार किया है। उन्होंने इन काव्यभेदों के उदाहरण भी दिये हैं। उन्होंने रसध्वन्यलङ्कारजन्य चमत्कार को काव्य का अवच्छेदक धर्म स्वीकार किया है और चमत्कार को रस का सार कहा है।[1] उन्होंने यह भी कहा है कि काव्य के प्रयोजन केवल यश:प्राप्ति आदि नहीं हैं किन्तु इसका मुख्य फल तो काव्यनिर्माण के समय श्रीकृष्ण के गुणों के वर्णन करने में चित्त को लगा देने से उत्पन्न सान्द्रानन्द (चमत्कार) में डूब जाना ही है।[2] उन्होंने परपुरुष के साथ विवाहित रमणी की रति से उत्पन्न रस को रसाभास मानते हुए उसे ध्वनिवैशिष्ट्य अर्थात् ध्वनिजन्यचमत्कार के कारण उत्तमकाव्य माना है।[3] यद्यपि यह रति अनौचित्यप्रवर्तित है और यह रसाभास की जनिका है तथापि इसमें ध्वनि का चमत्कार है। अत: रसाभास भी चमत्कारदशा में ध्वनिकाव्य अर्थात् उत्तमकाव्य कहलाता है। जहाँ परोढरमणीरति होने पर शृङ्गाररस न होकर शृङ्गाररसाभास होता है वहाँ अनौचित्य दूषण न रहकर भूषण हो जाता है। परोढरमणीरति भी सर्वोत्तम रति होने से रस ही होती है रसाभास नहीं क्योंकि उसमें श्रीकृष्ण जैसे उत्तम नायकों के कारण रस जैसा ही आनन्द प्राप्त होता है। इस प्रकार का आनन्द अलौकिक होता है। ये अलौकिक भाव तर्कातीत हैं। यद्यपि अधिकांश आलङ्कारिक परोढरमणीरति में रसाभास मानते हैं किन्तु सरस्वतीकण्ठाभरणकर्ता भोजराज आदि तथा वैष्णवसम्प्रदाय के भक्तिमार्गी रूपगोस्वामी इस रति में रसाभास न मानकर रस ही मानते हैं।[4] इन्होंने चमत्कारसम्प्रदाय का समर्थन किया है।

---

1. यत्र तु ध्वननानुध्वनने तदुत्तमोत्तमम्। प्राचीनैस्तु सर्वेषामुत्तमत्वं लिख्यते।
   रसे सारश्चमत्कारो यं विना न रसो रस:। अलङ्कारकौस्तुभ 5,72 वृत्ति
2. यश: प्रभृत्येव फलं नास्य केवलमिष्यते।
   निर्माणकाले श्रीकृष्णगुणलावण्यकेलिषु।।
   चित्तस्याभिनिवेशेन सान्द्रानन्दलयस्तु य:।
   स एव परमो लाभ: स्वादकानां तथैव स:।। अलङ्कारकौस्तुभ 1, 8
3. यद्यप्यं रसाभास: परोढरमणीरति:।
   तथापि ध्वनिवैशिष्ट्यादुत्तमं काव्यमेव तत्।।
   आभासोऽपि चमत्कारदशायां ध्वनिभाग् भवेत् इति ध्वनिमर्यादयैवोत्तमकाव्यत्वं नत्वनौचित्यरीत्या इति प्राकृते तु परोढरमणीरतिरेव सर्वोत्तमतया भूयसी श्रूयते न तस्या अनौचित्यप्रवर्तित्वम् अलौकिकत्वसिद्धे भूषणमेव न तु दूषणमिति न्यायात् तर्कागोचरत्वाच्च। तथा च-
   अलौकिकाश्च ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्। अलङ्कारकौस्तुभ 5, 72 वृत्ति
4. परोढरमणीरतौ रसो न अपितु रसाभास एवेति सम्प्रदायविदामालङ्कारिकाणां राद्धान्त:- एवमप्यर्वाचीना: सर्वे कण्ठाभरणकृद्भोजाद्या रसशास्त्रविशारदा बहवो रुद्रभट्टभानुदत्तादयश्च परोढरमणीरतौ रस एव न रसाभास इति वैष्णवालङ्कारिका भक्तिमार्गचारिण: श्रीमद्रूप-गोस्वामिप्रभृतय:। अलङ्कारकौस्तुभ 5, 72 शिवप्रसादभट्टाचार्यकृतटिप्पणी

श्रीवत्सलाञ्छनभट्टाचार्य—उन्होंने मम्मटकृत काव्यप्रकाश के कतिपय स्थलों को स्पष्ट करने के लिए लिखी गई अपनी व्याख्यात्मक काव्यपरीक्षा, काव्यामृत एवं काव्यप्रकाश की सारबोधिनी टीका में चमत्कारसम्बन्धी सामग्री समाविष्ट की है।[1] उनके द्वारा काव्यपरीक्षा में प्रस्तुत वक्रोक्ति और दोष के लक्षणों और विश्वनाथदेवकृत साहित्यसुधासिन्धु में उपलब्ध इन दोनों के लक्षणों में पूर्ण साम्य दिखाई देता है।[2] इसी प्रकार काव्यामृत और साहित्यसुधासिन्धु में दिये गये काव्यलक्षण में भी पूरी समानता है।[3] ये चमत्कार समर्थक हैं।

विश्वनाथदेव—उन्होंने सन् 1592 में साहित्यसुधासिन्धु नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी। उनके समकालीन पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगङ्गाधर को बनाया था। उनके पूर्ववर्ती कविकर्णपूर ने अलङ्कारकौस्तुभ नामक ग्रन्थ लिखा तथा उत्तरवर्ती हरिप्रसाद ने काव्यालोक का निर्माण किया। इन चारों कृतियों में युक्तिप्रत्युक्तिपूर्वक चमत्कारसम्प्रदाय की प्रतिष्ठापना की गई है। जब कोई आचार्य

1. श्लेषस्य चमत्कारता (काव्यपरीक्षा 4, 84) समतायास्तु चमत्कारानुगुण्येन गुणत्वम् (वही 4, 76)
2. (क) सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो ह्यनया विना।।
   वक्रोक्तिश्च चमत्कारकारिण्युक्तिरित्यर्थः। काव्यपरीक्षा 1,1 वृत्ति
   सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
   यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारो ह्यनया विना।।
   वक्रोक्तिश्चमत्कारकारिण्युक्तिः। साहित्यसुधासिन्धु 1, 2 वृत्ति
   (ख) येषां ज्ञानाच्चमत्कारो न सम्यगुपजायते।
   सालङ्कारगुणेऽप्यत्र ते दोषाः परिकीर्तिताः।। काव्यपरीक्षा 3, 37
   येषां ज्ञानाच्चमत्कारो न सम्यगुपजायते।
   सालङ्कारगुणेऽप्यत्र ते दोषाः परिकीर्तिताः।। साहित्यसुधासिन्धु 5, 81
3. (क) अत्रेदं बोध्यम् - काव्यपदप्रवृत्तिनिमित्तं चमत्कारजीवातुतावच्छेदकम्।
   अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
   रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति।। इति प्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं च काव्यत्वमखण्डोपाधिरवश्यं वाच्यम्। तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन।
   काव्यामृत 1, 4 वृत्ति
   वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा च तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम्। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति
   (ख) तथाप्यनुप्रासाहितचमत्कारेण-उत्प्रेक्षाहितचमत्कारेण का०प्र० 1, 5, सारबोधिनी टीका, गुणालङ्काराहितचमत्कारेण। साहित्यसुधासिन्धु 1, 7 वृत्ति

या तो किसी मौलिक सिद्धान्त का आविष्कार करता है अथवा किसी परम्परागत प्रचलित सिद्धान्त में परिष्कार करके उसे नया सा रूप प्रदान करता है तो चिन्तनजगत् में एक नई क्रान्ति आ जाती है। इन दोनों प्रकार के विचारों से एक नया युग प्रारम्भ हो जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में भरत मुनि आदि प्राचीन आचार्यों ने रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य और चमत्कार इन सात मौलिक सिद्धान्तों का आविष्करण एवं प्रवर्तन किया है इस कारण उनकी गणना प्रथम वर्ग के आचार्यों में की जाती है। मम्मट और विश्वनाथदेव जैसे समन्वयवादी आचार्य द्वितीय वर्ग में आते हैं क्योंकि उन्होंने पूर्व प्रचलित चमत्कार, रस और ध्वनि सिद्धान्तों का समन्वय करते हुए उन्हें नृसिंहरूपवत् नया बनाकर प्रस्तुत किया है। भरतमुनि और आनन्दवर्धन के द्वारा प्रवर्तित रस और ध्वनि सिद्धान्तों को समन्वित करके मम्मट ने इन दोनों को रसध्वनि के समवेत रूप में रखा है। उन्होंने अपने दिये हुए काव्यलक्षण एवं अलङ्कारलक्षण में गुणालङ्कारविशिष्ट रस की प्रधान स्थिति मानी है।[1] आत्मस्थानीय रस की वाच्यता का निषेध करते हुए उसकी व्यङ्ग्यता का प्रतिपादन किया है।[2] रसध्वनि के बिना अलङ्कार की व्यर्थता होती है ऐसा मम्मटसमर्थकों का दृष्टिकोण है।[3]

समन्वयवादी विश्वनाथदेव ने भी अपने पहले काव्यलक्षण में चमत्कारापरपर्याय ब्रह्मानन्दसहोदर परमानन्द तथा दूसरे वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यम् 0 इत्यादि काव्यलक्षण में चमत्कारापरपर्याय स्वर्गपद को रखा है। अदोषं गुणवत् 0 इत्यादि कहकर उन्होंने निर्दुष्टत्वगुणत्वरसत्वादिविशिष्टध्वनिजन्यचमत्कार को (काव्य में) सर्वोपरि स्थान दिया है। केवल चमत्कार को अवच्छेदक न मानकर निर्दुष्टत्वादि-विशेषणविशिष्ट चमत्कार को ही काव्य का अवच्छेदक माना है।[4] मम्मट ने ध्वनि,

---

1. (क) तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि। काव्यप्रकाश 1, 4
   (ख) ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
   उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।
   उपकुर्वन्ति तं सन्तमङ्गद्वारेण जातुचित्।
   हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। काव्यप्रकाश 8, 66-67
2. रसादिलक्षणस्त्वर्थः स्वप्नेऽपि न वाच्यः। न चाभिधीयते। विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते तेनासौ व्यङ्ग्य एव। काव्यप्रकाश 5, 47 वृत्ति
3. रसध्वनिर्न यत्रास्ति तत्र वन्ध्यं विभूषणम्।
   मृतायामेणशावाक्ष्यां किं फलं हारसम्पदा।। काव्यप्रकाश 10, 87 बालचित्तानुरञ्जनी टीका
4. (क) जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
   यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।। साहित्यसुधासिन्धु 1,4

गुणीभूतव्यङ्ग्य और अवर काव्यभेदों में ध्वनिमूलक चमत्कार को स्थापित किया है और तीनों स्थानों पर चमत्कारापरपर्याय अतिशयि, चमत्कारित्व और चित्र पदों का प्रयोग किया है।[1] उनके उत्तरवर्ती विश्वनाथदेव ने इन त्रिविध भेदों के प्रसङ्ग में व्यङ्ग्यचमत्कार, शब्दालङ्कारचमत्कारि एवं अर्थालङ्कारचमत्कारि पदों का प्रयोग करके ध्वनिमूलक (ध्वनिजन्य) चमत्कार का प्रतिपादन किया है।[2] उन दोनों आचार्यों ने पूर्वप्रचलित रस, ध्वनि और चमत्कार सिद्धान्तों को नया रूप दिया है। एक ओर मम्मट ने रस और ध्वनि के समन्वित रूप रसध्वनि को नया सिद्धान्त बनाया है तो दूसरी ओर विश्वनाथदेव ने रसादिजन्यचमत्कार को। मम्मट का रसध्वनिसिद्धान्त और विश्वनाथदेव का रसादिजन्यचमत्कार सिद्धान्त ये दोनों ही युगप्रवर्तकसिद्धान्त हैं। संस्कृत और हिन्दी के आधुनिक आचार्य और समालोचक मम्मटप्रतिपादित इस समन्वित रसध्वनिसिद्धान्त को तो स्वीकार करते हुए देखे जाते हैं किन्तु ये विश्वनाथदेव के द्वारा प्रतिपादित रसादिजन्यचमत्कारसिद्धान्त को मान्यता नहीं दे रहे हैं। इतना ही नहीं ये इस सिद्धान्त से अप्रभावित एवं कुछ अपरिचित से भी लगते हैं। वस्तुस्थिति यह है कि आज की इक्कीसवीं शती में मम्मटप्रतिपादित गुणालङ्काररसादिविशिष्टध्वनि-सिद्धान्त को विश्वनाथदेवप्रतिपादित निदुर्ष्टत्वगुणत्वरसत्वादिविशिष्टध्वनि-जन्यचमत्कारसिद्धान्त ने बहुत पीछे छोड़ दिया है। यह चमत्कारसिद्धान्त एक सिन्धु है। इसमें ध्वनिरसादिबिन्दुओं का अन्तर्भाव एवं इससे इनका आविर्भाव भी हो जाता है। हमारे द्वारा रचित त्रिविधा काव्यसमीक्षा में चमत्काराश्रित एक ऐसी नई समीक्षापद्धति का आविष्कार करने का प्रयास किया गया है जिसे वर्तमान समीक्षापद्धति में अपनाने की आवश्यकता है। पदरसादिगतौचित्यध्वनिविस्मयजन्यचमत्कार की दृष्टि से किसी भी नाटकादि दृश्यकाव्य तथा महाकाव्यादि श्रव्यकाव्य की आलोचना की जा सकती है। वस्तुतः विश्वनाथदेव के सम्मुख भरतादिप्रवर्तित रसादि छः सम्प्रदाय विद्यमान थे इस कारण उनके समय में भी इन सभी रसादितत्त्वों का विवेचन करना काव्यशास्त्र के आचार्यों का कर्तव्य रहता रहा था। इन सभी काव्यसिद्धान्त रूपी वृक्षों की जड़ें इतनी मजबूत हैं कि इनको उखाड़ने का साहस नहीं किया सकता था। इस कारण विश्वनाथदेव ने भी अपने इस ग्रन्थ में इन सभी काव्यतत्त्वों का समावेश करते हुए

(ख) वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत् काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यमखण्डं कल्पनीयं तथा च तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम्। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति

1. काव्यप्रकाश 1, 4-6 तथा वृत्ति
2. साहित्यसुधासिन्धु 1, 5-7 तथा वृत्ति

उनका विवेचन किया है और उन्होंने इन सिद्धान्तवृक्षों को चमत्कार नामक इस महान् वटवृक्ष की छाया तले ला दिया है। चमत्कार और रसादि में जन्यजनकभाव सम्बन्ध स्थापित किया है। परिणामस्वरूप साहित्यसुधासिन्धु में रसादिसम्प्रदाय भी सुरक्षित हैं और चमत्कारसम्प्रदाय की भी प्राधान्येन संस्थिति है।

उन्होंने सामान्यालङ्कार के रूप में जिस वक्रोक्ति अलङ्कार का उल्लेख किया है वह चमत्कारकारिणी अर्थात् चमत्कार को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली उक्ति से युक्त है।[1] अनुप्रास और उत्प्रेक्षा आदि विशेष शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार भी चमत्कार के कारण होते हैं।[2] उन्होंने कहा है कि उन शब्द प्रतिपाद्य वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों का जनक होना व्यञ्जना है (शब्दनिरूपितार्थबोधकत्वं व्यञ्जकत्वम्)। काव्य में एकमात्र व्यञ्जना वृत्ति होती है अभिधा और लक्षणा नहीं होती और वही त्रिविधार्थबोधिका है। इस प्रकार का नवीनों का मत दिखाते हुए उसका चमत्कारापरपर्याय रसध्वनि के साथ सम्बन्ध स्थापित किया है।[3] इससे यह सिद्ध होता है कि वे अभिधादि तीनों वृत्तियों को मानते हुए भी प्रमुखता व्यञ्जनावृत्ति को ही देते हैं। क्योंकि यही एक ऐसी वृत्ति है जो सामाजिकों के चित्त को चमत्कार से भर देती है।[4] नाट्यगत विभावनादिव्यापारों का यह फल है कि चमत्कारानुभूति के समय सामाजिकों की ऐसी स्थिति होती है जिसमें उनके विषयान्तरों की समाप्ति हो जाती है और अन्य विषयों का ज्ञान उस समय उन्हें स्पर्श तक नहीं करता। उन्हें अपने चित्त में साक्षात् स्फुरणारूप चमत्कार की प्रतीति होती है।[5] अभिनवगुप्त, मम्मट और विश्वनाथदेव इन तीनों आचार्यों ने रस को अलौकिक चमत्कारकारी माना है।[6]

1. वक्रोक्तिश्च चमत्कारकारिण्युक्तिः। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति
2. अत्र चोत्प्रेक्षा चमत्कारकारिणी अनुप्रासोत्प्रेक्षे चमत्कारहेतू। साहित्यसुधासिन्धु 1, 4 वृत्ति
3. (क) नव्यास्तु तद्बीजनकत्वमेव व्यञ्जना। सैव सर्वत्र वृत्ति र्नाभिधा न लक्षणा। यदा सैव व्यञ्जना अनुशासनेनानुशिष्यते तदाऽभिधेति व्यवह्रियते यदा च मुख्यार्थबाधानन्तर-मन्यार्थप्रतिपत्तिस्तदा लक्षणेति व्यवहारः। यदा च बाधितार्थबोधिका तदा व्यञ्जनेत्याश्रयणात्। साहित्यसुधासिन्धु 2, 19 वृत्ति
4. प्रत्युज्जीवयति स्वकीयविभवैः शक्त्या परं कुण्ठितं
   नानार्थैः सरसीकरोति सहसा सामाजिकानां मनः।
   बाधाद् भीतिरहो फलग्रहिलया त्यक्ता परं दूरतः
   सेयं वारविलासिनीव विदुषामास्ते हृदि व्यञ्जना।।
   साहित्यसुधासिन्धु 2, 20 (रङ्गविलासिनीव संशोधित)
5. फलं विगलितवेद्यान्तरत्वेनावस्थितिः पुरः स्फुरणादिचमत्कारित्वं च।
   साहित्यसुधासिन्धु 3, 27 वृत्ति
6. (क) ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।
   काव्यप्रकाश 4, 20 वृत्ति (अभिनवगुप्तमत)

अलङ्कार और गुणों से युक्त होने पर भी काव्य में दोषों के आ जाने पर चमत्कारचर्वणा में बाधा आ जाती है। ये दोष गुणादियुक्त काव्य में चमत्कार को अभिव्यक्त नहीं होने देते हैं।[1]

मालादीपकालङ्कार के लक्षण में पहले पहले दीपक से युक्त वाक्यार्थ से दूसरे दीपक से युक्त उत्तरोत्तर वाक्यार्थ को चमत्कृत किया जाता है यह बताया गया है।[2] इस प्रकार यहाँ पहला दीपक दूसरे दीपक के चमत्कार का कारण है और इस दीपकलक्षण के साथ चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारत्वम् इस अलङ्कारलक्षण का भावसाम्य है। परस्परसापेक्ष अलङ्कारों के चमत्कार में अनुग्राह्यानुग्राहकभाव होना ही सङ्करालङ्कार है।[3] यहाँ चमत्कार की स्थिति मानी गई है। अनन्वय, उपमेयोपमा, उत्प्रेक्षा, सन्देह, रूपक, अपह्नुति, श्लेष, समासोक्ति, निदर्शना, अप्रस्तुतप्रशंसा एवं प्रथमातिशयोक्ति इन सभी सादृश्यमूलक अलङ्कारों में व्यङ्ग्योपमा के कारण चमत्कारिता है। इसके आगे भी प्रतिवस्तूपमा और समाधि आदि अलङ्कारों में भी इस व्यङ्ग्योपमा को माना है।[4] अन्त में सारे अलङ्कारों में अतिशयोक्ति नामक सामान्य अलङ्कार को चमत्कार का कारण माना है और सारे अलङ्कारों में उसकी स्थिति मानी है।[5] क्योंकि विश्वनाथदेव

(ख) सद्यः परनिर्वृतये। काव्यप्रकाश 1, 2
(ग) ब्रह्मानन्दसहोदरोऽलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।
साहित्यसुधासिन्धु 4, 27 वृत्ति

1. येषां ज्ञानाच्चमत्कारो न सम्यगुपजायते।
सालङ्कारगुणेऽप्यत्र ते दोषाः परिकीर्तिताः।।
दृष्टो हि लोके सगुणोऽपि सालङ्कारोऽपि सदोषत्वेन ज्ञातो न यथा चमत्करोति तथा काव्यमपि।
साहित्यसुधासिन्धु 5, 81-82 तथा वृत्ति

2. पूर्वपूर्वदीपकसंवलितवाक्यार्थेन दीपकसंवलितोत्तरोत्तरवाक्यार्थो यदि चमत्क्रियते तन्मालादीपकम्। साहित्यसुधासिन्धु 8, 232

3. अथ सङ्करः - चमत्कारेऽन्यसापेक्षाणामलङ्काराणां परस्परमनुग्राह्यानुग्राहकत्वम्।
साहित्यसुधासिन्धु 8, 283

4. उत्प्रेक्षायामपि व्यङ्ग्योपमैव काव्यसर्वस्वादलङ्कार उत्प्रेक्षा तु तदुपस्थापिकेति ध्येयम्। एवं सन्देहरूपकादिष्वपि बोध्यम्। एवमपह्नुतौ श्लेषे समासोक्तौ निदर्शनायामप्रस्तुतप्रशंसायाञ्च स्फुटं व्यङ्ग्योपमायाश्चमत्कारित्वम्। एवं प्रथमातिशयोक्तौ व्यङ्ग्योपमैवालङ्कारः। ...... एवं समाधिसमुच्चयावभिन्नौ। साहित्यसुधासिन्धु 8, 284 वृत्ति

5. किं बहुना, सर्वत्रैव विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्रमाणत्वेनावतिष्ठते।
अतएवोक्तम्-
सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना।। साहित्यसुधासिन्धु 8, 284 वृत्ति

ने काव्यलक्षणों, काव्य के उदाहरणों और अलङ्कारों में चमत्कार की अनिवार्य स्थिति मानी है अतः उन्हें चमत्कारप्रतिष्ठापक परमाचार्य कहा जा सकता है। इस प्रकार चमत्कारसम्प्रदाय की स्थापना में उनका विशिष्ट योगदान है।

पण्डितराज जगन्नाथ—उन्होंने काव्य के चार लक्षण प्रस्तुत किये हैं। इन सभी लक्षणों में चमत्कारतत्त्व को काव्य का अवच्छेदक धर्म स्वीकार किया गया है। पहला काव्य का सामान्यलक्षण तथा अगले तीन काव्य के परिष्कृत लक्षण हैं।

काव्य का सामान्यलक्षण—रमणीयार्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है। रमणीयार्थ में रहने वाली यह रमणीयता लोकोत्तराह्लाद (चमत्कार) के जनक ज्ञान का विषय बनती है। रमणीयता में रहने वाला यह लोकोत्तरत्व काव्यगत आह्लाद में रहने वाले चमत्कारत्व का पर्यायवाची शब्द है। यह सहृदय के अनुभव का साक्षी एवं जातिविशेष रूप है।[1] लोकोत्तरत्व और चमत्कारत्व ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जातिरूप एवं पदार्थरूप चमत्कार में रहने वाला चमत्कारत्व काव्य का प्राण है और सभी चमत्कारी काव्यों में समान रूप से रहता है।[2] काव्यान्तर्वर्ती चमत्कारत्व रूप जातिधर्म चमत्कार में रहता है और क्योंकि चमत्कार काव्य का अवच्छेदक धर्म है इसलिए यह काव्य है और यह भी काव्य है इस प्रकार की प्रतीति सभी काव्यों में होती है। पुत्रस्ते जातः जैसे वाक्यों में लोकोत्तरत्व न होने से काव्यत्व नहीं है। यहाँ प्रतिपादक शब्द का अभिप्राय वाचक, लक्षक और व्यञ्जक शब्द है। ऐसे शब्द से वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप त्रिविध अर्थ का ग्रहण होता है।

काव्य का प्रथम परिष्कृत लक्षण—इस प्रकार लोकोत्तर आह्लाद की जनिका भावना के विषयीभूत अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य होता है।[3] पुनः पुनः अनुसन्धानात्मा अर्थात् धारावाहिक ज्ञानरूपिणी भावनाविशेष लोकोत्तरत्व रूप चमत्कारत्वाच्छिन्न-चमत्कारयुक्त काव्य की कारण है।[4] काव्यानन्द के समय धारावाहिक रूप से प्रतीत

1. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दःकाव्यम्।
रमणीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्वं चाह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जातिविशेषः। रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण
2. काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव। रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण
3. इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादकशब्दत्वम् (काव्यत्वम्)।
चमत्कारजनिका या भावना तादृशभावनाया विषयीभूतो योऽर्थस्तत्प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् तत्त्वं च काव्यत्वम्।
रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण तथा भट्टमथुरानाथकृतसरला टीका
4. कारणं च तदवच्छिन्ने भावनाविशेषः पुनः पुनरनुसन्धानात्मा।
रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण

होने वाले ज्ञान का नाम ही भावना है। चमत्कारजनिका यही भावना जिस रमणीयार्थ की अभिव्यक्ति कराती है उसका प्रतिपादक शब्द होता है। पण्डितराज के पूर्ववर्ती मङ्खक भी मानते हैं कि भावना के द्वारा भावित काव्य का आस्वादन करते हुए रसिक परम सुख को प्राप्त करता है। इस काव्यवर्तिनी भावना से सात्त्विक, राजसिक और तामसिक इन सब प्रकार के सामाजिकों को परमानन्द की प्राप्ति होती है। सत्त्वादि गुणों के आधार पर उत्तम, मध्यम और अधम तीन प्रकार के सामाजिक हैं।[1] इस काव्यलक्षण में अर्थ शब्द का प्रयोग रमणीयार्थ में किया गया है। इस अर्थ को ज्ञान का विषय न कहकर भावना का विषय बताया है और इस भावना को भी आह्लादजनक न कहकर चमत्कारजनक कहा है। काव्य के सामान्यलक्षण में प्रयुक्त आह्लाद के स्थान पर चमत्कार पद का प्रयोग यह प्रदर्शित करता है कि आह्लाद और चमत्कार पद पर्यायवाची हैं। ज्ञान शब्द के स्थान पर भावना को रखा है।

काव्य का द्वितीय परिष्कृतलक्षण–जिस (शब्द) के द्वारा बोधित अर्थविषयक भावना चमत्कारजनकता (चमत्कारकारणता) रूप अवच्छेदक धर्म हो जाती है वह शब्द काव्य है।[2] सारांश यह है कि शब्द से उपस्थित किये गये अर्थ का बार बार चिन्तन करने से चित्त से उत्पन्न हुई काव्यार्थभावना से चमत्कार की अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार की भावना चमत्कार का कारण होती है। इस प्रकार चमत्कारजनकतावच्छेदकविशिष्टभावनावच्छब्दत्वं काव्यत्वम् यह काव्यलक्षण भी निष्पन्न हो जाता है। इस काव्यलक्षण में यह दोष आता है कि चमत्कारत्वविशिष्ट चमत्कार तो रमणीयार्थ में होता है वह इस रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द में कैसे रह सकता है। इस आपत्ति को अगले लक्षण में दूर कर दिया गया है।

काव्य का तृतीयपरिष्कृत लक्षण–(शब्द के भीतर भी) चमत्कारत्वविशिष्ट चमत्कार की जनकता के अवच्छेदक अर्थप्रतिपादकता रूप सम्बन्ध होने से चमत्कारत्ववत्त्व ही काव्यत्व है यह फलित अर्थ (सारभूत अर्थ) है।[3] क्योंकि चमत्कारत्वविशिष्ट चमत्कार अर्थ में रहने वाला धर्म है इसलिए शब्द में उसकी स्थिति नहीं हो सकती इसका समाधान इस रूप में किया जा सकता है।

---

1. ईदृशं भावयन् काव्यं रसिकः परमं सुखम्।
   प्राप्नोति कालवैषम्याद् गुणतस्त्रिविधोऽपि सन्।। मङ्खककृतसाहित्यमीमांसा 8, 482
2. यत्प्रतिपादितार्थविषयकभावनात्वं चमत्कारजनकतावच्छेदकं तत्त्वम्।
   रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण
3. स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थप्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्त्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्। रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण

चमत्कारविशिष्टचमत्कार साक्षात् रूप से शब्द में न रहकर रमणीयार्थ में ही रहता है। उसमें रहने के कारण चमत्कार का सीधा सम्बन्ध तो अर्थ के साथ ही है। किन्तु अर्थाभिव्यक्ति तो शब्द के द्वारा ही होती है। इसलिए शब्द के साथ ही उसका परम्परासम्बन्ध है। चमत्कार+अर्थ+शब्द। शब्द अर्थ से जुड़ा है और अर्थ चमत्कार से सम्बन्धित है। काव्य के इस तृतीय परिष्कृत काव्यलक्षण में उन्होंने चमत्कार-त्ववत्त्वमेव काव्यत्वम् कहकर काव्य में पाये जानेवाले शब्द तक का भी उल्लेख नहीं किया है। ऐसा करके उन्होंने शब्द की गौणता तथा चमत्कार की प्रधानता अभिव्यक्त की है। जैसे आनन्दवर्धन ने प्रतीयमान अर्थ का प्राधान्य और उसके व्यञ्जक शब्द अर्थ का गौणीभाव बतलाया है वैसे ही पण्डितराज ने चमत्कार की प्रमुखता और तद्व्यञ्जक शब्द की अप्रधानता होती है इस तथ्य को उजागर किया है। उन्होंने अपने रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् इस काव्य के सामान्यलक्षण में विद्यमान रमणीयार्थ में (रहने वाली) रमणीयता के भीतर रहने वाली लोकोत्तरता और चमत्कारत्व दोनों की काव्य के लिए अनिवार्यता बताई है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि उन्होंने अपने तीनों परिष्कृत काव्यलक्षणों में भी चमत्कारपद को समाविष्ट किया है। उत्तमोत्तमकाव्यलक्षण में प्रयुक्त कमप्यर्थम् पद का अर्थ चमत्कृतिभूमि अर्थात् चमत्कार का आधारभूत अर्थ बताकर यह कहा है कि इस उत्तमोत्तम काव्य में चमत्कारजनक अर्थ होना आवश्यक है।[1] काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम इन भेदों में भी चमत्कार एवं चमत्कृति पदों का प्रयोग देखने में आता है।[2] इसके अतिरिक्त इनके उदाहरणों को स्पष्ट करने के प्रसङ्गों में स्थान स्थान पर चमत्कारितया, चमत्कार, चमत्कृति, चमत्कारित्वात् और चमत्कृतिहेतु पदों के प्रयोग से भी इनकी चमत्कारनिष्ठा व्यञ्जित होती है। उपमा के लक्षण में प्रयुक्त सुन्दर पद की व्याख्या करते हुए सुन्दर पद में रहने वाले सौन्दर्य को चमत्कृत्याधायक तत्त्व कहा है, चमत्कृति को आनन्दविशेष बताया है और इस आनन्दापरपर्याय चमत्कार की अनुभूति सामाजिकनिष्ठ है इसका भी प्रतिपादन किया है।[3] उन्होंने उदितं मण्डलं विधोः इस गुणालङ्कारहीन स्थल में काव्य के प्राण केवल चमत्कार के होने से काव्यत्व माना है।[4]

1. शब्दार्थौ यत्र गुणीभावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यङ्क्तस्तदाद्यम्। कमपीति चमत्कृतिभूमिम्।
रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण
2. रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण
3. सादृश्यं सुन्दरं वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृतिः।
सौन्दर्यं चमत्कृत्याधायकत्वम्। चमत्कृतिरानन्दविशेषः सहृदयहृदयप्रमापकः।
रसगङ्गाधर द्वितीयानन उपमाप्रकरण
4. उदितं मण्डलं विधोः काव्यजीवितं चमत्कारित्वं चाविशिष्टमेव। रसगङ्गाधर प्रथमानन काव्यलक्षणप्रकरण

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने चमत्कारतत्त्व के स्वरूप और चमत्कारसम्प्रदाय के महत्त्व को पूरी तरह पहचान लिया था। रसालङ्कारादिजन्यचमत्कार तथा इस चमत्कारप्रधान चमत्कारसम्प्रदाय को काव्य में सर्वोपरि स्थान देने के कारण इन्हें चमत्कारप्रतिष्ठापक परमाचार्य होने का गौरव प्राप्त है।

हरिप्रसाद–उन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालोक की रचना सन् 1727 ई० में की थी। वे पण्डितराज जगन्नाथ के उत्तरवर्ती आचार्य हैं। उन्होंने अपनी कृति में जिन काव्य-प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यलक्षण तथा काव्यभेदों का प्रतिपादन किया है उनमें चमत्कार-तत्त्व का समावेश किया है। पूर्ववर्ती कविकर्णपूर, विश्वनाथदेव और पण्डितराज जगन्नाथ के चमत्कारसम्बन्धी विचारों का उन पर पूरा प्रभाव परिलक्षित होता है।

काव्यप्रयोजन–उन्होंने परमाह्लाद, कीर्ति, धन आदि की प्राप्ति को काव्य के प्रयोजनों में सम्मिलित किया है किन्तु परमाह्लाद को ही पूर्ववर्ती आचार्य मम्मट की भाँति सकलप्रयोजनमौलिभूत कहकर सर्वोपरि प्रयोजन माना है।[1] काव्यगत इसी आह्लाद का नाम रस है और यही रस काव्यगत अलौकिक चमत्कारातिशय रूप आस्वाद है। सहृदयों के नेत्रों के द्वारा व्यञ्जित होने वाली काव्यचमत्कारातिशयसूचन-व्यापारविशेष रूप ध्वनि ही इस काव्यास्वाद का रूप धारण करती है।[2]

काव्यहेतु–काव्य का हेतु बताते हुए उन्होंने कहा है - चमत्कार रूपी परम (श्रेष्ठ) आत्मा से युक्त उस काव्य के (शब्द रूप) शरीर का सबीज अर्थात् प्राक्तनसंस्कारविशेषसमन्वित कवि की प्रतिभा का सरस अङ्कुर (का प्रस्फुटन) ही काव्य का प्रथम कारण है। इस प्रतिभाङ्कुर के साथ ही व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों कारणों के द्वारा काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति हो जाती है। यहाँ प्रतिभाङ्कुर का विशेषण रस से युक्त होना बताया है। इस प्रकार यहाँ सरस अर्थात् नवोन्मेषशालिनी चमत्कारमयी प्रतिभा को चमत्कार रूपी आत्मा वाले (चमत्कारात्मक) काव्य का कारण बताया है। कवि का प्राक्तनसंस्कारविशेष (बीज) प्रतिभा का कारण बनता है और सरस प्रतिभा काव्य का कारण होती है।[3]

---

1. काव्यस्य परमाह्लादकीर्त्यादिफलयोगिनः।
   हरिप्रसादविदुषा मीमांसा कापि तन्यते।।
2. परमाह्लाद इति सकलप्रयोजनमौलिभूतम्। काव्यालोक 1, 1 तथा वृत्ति
   काव्यालोक 1, 2 वृत्ति
3. सबीजस्य कवेस्तत्र सरसप्रतिभाङ्कुरः।
   कारणं वपुषस्तस्य चमत्कारपरात्मनः।।
   प्राक्तनसंस्कारविशेषो बीजम्। तदेव कारणं नवनवोन्मेषशालिन्याः प्रज्ञायाः।
   काव्यालोक 1, 4 तथा वृत्ति

काव्यलक्षण–उन्होंने प्रथम काव्यलक्षण इस रूप में प्रस्तुत किया है – अलौकिक आह्लाद को अभिव्यक्त करने वाले अर्थ से युक्त शब्द काव्य कहलाता है।[1] यहाँ लोकोत्तर आह्लाद पद चमत्कार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उनका दूसरा काव्यलक्षण इस तथ्य को उजागर करता है कि काव्यगत व्यञ्जनावृत्ति ही रस अर्थात् काव्यवर्ती चमत्कारातिशय रूप आस्वाद में परिणत हो जाती है। श्रवणजन्यसंस्कारों के कारण जिसके द्वारा (स्फारित फैले हुए) नेत्रों से व्यञ्जित होने पर व्यञ्जनावृत्ति सुनते ही तुरन्त रस (चमत्कार) के स्वरूप को प्राप्त हो जाती है वह काव्य कहलाता है। यहाँ व्यञ्जना को काव्यचमत्कारातिशयसूचनव्यापारविशेष बताया गया है और रस को काव्यचमत्कारातिशय रूप आस्वादविशेष कहा गया है। यह व्यञ्जनावृत्ति वक्ता और श्रोता दोनों को चमत्कारदशा को प्राप्त करा देती है।[2] शब्द काव्य का शरीर है, इसकी सङ्घटना अवयवसंस्थिति है (काव्यगत) अलङ्कार लौकिक हारादि के समान हैं और रस आत्मा है ऐसा तो दूसरे आचार्य ही मानते हैं। किन्तु यह हमारा मत नहीं है हमारे मत में तो चमत्कार ही काव्य की आत्मा है।[3] यहाँ उन्होंने कविकर्णपूर के शब्दार्थौ शरीरं ध्वनिरसवः इत्यादि मत को उद्धृत करते हुए उससे अपनी असहमति बताई है।[4] उन्होंने यह भी कहा है कि विचार्यमाण काव्य में चमत्कार सुखातिशय का कारण है। चमत्कार का वस्तु और अलङ्कार रूप भी काव्य की आत्मा माना जाता है

---

1. (क) लोकोत्तराह्लादकार्थः शब्दः काव्यम्। काव्यालोक 1, 7
   (ख) लोकोत्तराह्लादकार्थविशिष्टशब्दः काव्यमिति। लोकोत्तरत्वं च सुखातिशयकारणं चमत्कारविशेषः। वही 1, 7 वृत्ति
2. कापि दृग् व्यञ्जनावृत्ति र्येन याति रसात्मताम्।
   सद्यः श्रवणसंस्कारैस्तदिदं काव्यमुच्यते।।
   दृशो व्यञ्जनावृत्तिः काव्यचमत्कारातिशयसूचनव्यापारविशेषः रसात्मतां स्वस्यान्यस्य च प्राप्नोति। अत्र रसः काव्यचमत्कारातिशयरूप आस्वादः। काव्यालोक 1, 2 तथा वृत्ति
3. शब्दः शरीरं काव्यस्य घटनावयवसंस्थितिः।
   हारादिवदलङ्कारा रस आत्मा परे जगुः।।
   रस आत्मा इति परे आचार्या ऊचुः। स्वमते तु चमत्कार एवात्मा काव्यस्य।
   काव्यालोक 1, 5 तथा वृत्ति
4. शरीरं शब्दार्थौ ध्वनिरसव आत्मा किल रसो
   गुणा माधुर्याद्या उपमितिमुखोऽ लङ्कृतिगणः।
   सुसंस्थानं रीतिः स किल परमः काव्यपुरुषो
   यदस्मिन् दोषः स्याच्छ्रवणकटुतादिः स न परः।। अलङ्कारकौस्तुभ 1, 1

यह भी मेरा मत है। चमत्कार काव्य का प्राण भी है। निश्चय ही न तो रस ही काव्य की आत्मा है और न ही ध्वनि काव्य का प्राण है किन्तु काव्य के सुखातिशय का कारण चमत्कार ही काव्य का प्राण है हमारा यह मत सिद्ध हो जाता है।[1] यह चमत्कार ही काव्य की परम आत्मा है।[2] उन्होंने विशिष्टशब्दनिष्ठकाव्यता का प्रतिपादन करते हुए शब्द में ही ध्वन्यर्थविशिष्टता की प्रतीति मानी है।[3] अपने ग्रन्थ के अन्त में उन्होंने कहा है कि इस अकेले शब्द रूप शरीर वाले काव्य (पुरुष) की एकमात्र व्यञ्जनावृत्ति ही कटाक्षदृष्टि है और (काव्य के) आस्वाद को रस कहा गया है। गुणों का अनुसन्धान दृढता है और स्फुटतया प्रतीत होने वाला अलङ्कार सौन्दर्य है। विशिष्टशब्दरूप काव्य की आत्मा चमत्कृति है और प्रतिभा उसकी उत्पत्तिभूमि है। यहाँ (काव्यालोक में) यही अल्पमात्रा में प्रतिपादित किया गया है।[4] उन्होंने यहाँ चमत्कार तत्त्व को सर्वोपरि स्थान दिया है।

काव्यभेद–उन्होंने जिन उत्तम, मध्यम और अधम काव्यों का लक्षण किया है उनका आधार चमत्कार ही है। ध्वनि का वैशिष्ट्य होने पर उत्तम, ध्वनि की मध्यम स्थिति होने पर मध्यम एवं अर्थ की विचित्रता से नहीं अपितु शब्दमात्र से प्रकट होने वाला अधम काव्य होता है।[5] ध्वनि का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है – शब्दस्थान के विलास से उत्पन्न, परमाह्लाद का कारण, अर्थ रूप परामर्शवेद्य कोई अनिर्वचनीय

---

1. भाव्यमाने चमत्कारः सुखातिशयकारणम्।
वस्त्वलङ्काररूपोऽपि काव्यस्यात्मा मतं मम।।
न खलु रस एव काव्यस्यात्मा ध्वनिरेवासवः ---।
तत्सुखातिशयकारणं चमत्कार एव काव्यप्राणा इति सिद्धम्।
काव्यालोक 1, 6 तथा वृत्ति
2. चमत्कार एव पर आत्मा यस्येत्यर्थः। काव्यालोक 1, 4 वृत्ति
3. सर्वथा विशिष्टशब्दनिष्ठमेव काव्यत्वमित्यर्थः शब्द एव ध्वन्यर्थविशिष्टताप्रतिपत्तेः।
काव्यालोक 1, 7 वृत्ति
4. तदेवं शब्दैकशरीरस्य काव्यस्य–
कटाक्षितं व्यञ्जनैका तत्रास्वादो रसः स्मृतः।
दार्ढ्यं गुणानुसन्धानं चारुतालङ्कृतिः स्फुटम्।।
विशिष्टशब्दरूपस्य काव्यस्यात्मा चमत्कृतिः।
उत्पत्तिभूमिः प्रतिभा मनागत्रोपपादितम्।। काव्यालोक 5, 200-201
5. उत्तमं ध्वनिवैशिष्ट्ये मध्यमे तच्च मध्यमम्।
अधमं नार्थवैचित्र्यात् किन्तु शब्दैकगोचरम्।। काव्यालोक 1, 25

ध्वनितत्त्व है – ऐसा विद्वान् कहते हैं। इसके साथ उन्होंने शब्दजन्यचमत्कारसंवलित अर्थ चमत्कार से उत्पन्न विलक्षणचमत्कारातिशयरूप ध्वनि का उल्लेख किया है।[1]

हरिप्रसाद ही चमत्कार को काव्य की आत्मा घोषित करने वाले प्रथम आचार्य हैं। इनसे पहले पण्डितराज जगन्नाथ ने चमत्कार को काव्यजीवित कहा है।

रस एवं चमत्कार में अभेद एवं कार्यकारणभाव सम्बन्ध–नव्यों के मत को दिखाते हुए उन्होंने बताया है–

अपने से (रस से) उत्तरकालीन आह्लादविशेष (चमत्कार) के साथ अभेद सम्बन्ध होने से रस को सुख रूप कहा जाता है।[2] दुष्यन्तोऽहं शकुन्तलाविषयकरतिमान् इस रसप्रतीति के पश्चात् ही अलौकिक आह्लाद उत्पन्न होता है क्योंकि रस और अलौकिक आह्लाद में भेद होने पर भी इनका भेद नहीं ज्ञात होता है अतएव उन दोनों को अभिन्न स्वीकार करके रस को सुखरूप कहा जाता है। रस से चमत्कार की निष्पत्ति होने से उन दोनों में कार्यकारणभावसम्बन्ध है। करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक यद्यपि सामाजिक को आह्लाद प्रदान करने वाली वृत्ति के प्रतिकूल हैं तथापि ये रस लोकोत्तराह्लादकार्थविशिष्ट काव्यव्यापार की महिमा से चारुत्व (चमत्कार) को उत्पन्न कर ही देते हैं।[3] इस प्रकार इन रसों का चमत्कार के साथ कार्यकारणभाव सम्बन्ध है।

दोषलक्षण–दोष का लक्षण बताते हुए उन्होंने कहा है – काव्य के प्रधान (चमत्कार) का अपकर्ष अथवा काव्याह्लाद की हानि ही दोष कहलाती है।[4] रस, आह्लाद और चमत्कार पर्यायवाची हैं।[5] इसलिए चमत्कारापकर्ष अर्थात् चमत्कार क्षति को दोष माना है।

---

1. शब्दस्थानविलासोत्थः परमाह्लादकारणम्।
अर्थरूपपरामर्शवेद्यः कश्चिद् ध्वनिर्बुधाः।।
कश्चित्तु तादृशशब्दचमत्कारसंवलितार्थचमत्कारगोचरीक्रियमाणो विलक्षणचमत्कारातिशयरूपः।
काव्यालोक 2, 29 तथा वृत्ति
2. स्वोत्तरकालीनाह्लादविशेषेणाभेदात् सुखवाच्यत्वम्। काव्यालोक 3, 49 वृत्ति
3. अत्र करुणरौद्रबीभत्सभयानकादीनामनुभावकवृत्त्याह्लादप्रतिकूलत्वेऽपि लोकोत्तराह्लादकार्थविशिष्टकाव्यव्यापारमहिम्ना चारुत्वमनुसन्धेयम्। काव्यालोक 3, 50 वृत्ति
4. अपकर्षः प्रधानस्य वाह्लादक्षतिरित्यसौ। काव्यालोक 4, 88
5. अत्र रसः काव्यचमत्काररूप आस्वादः। काव्यालोक 1, 2 वृत्ति

गुण की आह्लादधर्मता

इसलिए सत्पुरुष के भीतर विशेषता का आधान करने वाले शौर्यादिगुण की तरह काव्य में रहने वाले अविशिष्ट आह्लाद (चमत्कार) रूप धर्मी का धर्म गुण कहलाता है।[1] काव्य में रहने वाला आह्लाद धर्मी है और गुण उसका धर्म होता है।

अलङ्कार की आह्लादकारणता

अलङ्कार काव्य के आह्लाद (चमत्कार) का कारण है और संयोगसम्बन्ध से काव्य में रहता है जैसे तिलकादि स्त्रियों के सौन्दर्य की वृद्धि करते हैं उसी प्रकार शब्द और अर्थ में सौन्दर्यवृद्धि करना अलङ्कार की चेष्टा है।[2] अलङ्कार चमत्कार का जनक (कारण) होता है और चमत्कार जन्य (कार्य) हुआ करता है। इसीलिए चमत्कृतिजनकत्वमलङ्कारत्वम् यह अलङ्कार का सामान्यलक्षण प्रचलित है।

उपमालङ्कार में सादृश्य की अतिचमत्कारिता

काव्यालोक में उपमालङ्कार का लक्षण इस प्रकार है–

वाक्यार्थ का उपस्कारक (शोभाधायक) और अतिचमत्कारी सादृश्य उपमा है।[3] क्योंकि अनन्वय, व्यतिरेक एवं रूपकादि अलङ्कारों में सादृश्य की अतिचमत्कारिता नहीं होती इसलिए वहाँ उपमालङ्कार नहीं होता।

इस प्रकार काव्यालोक के रचयिता हरिप्रसाद ने चमत्कार को काव्य की आत्मा और प्राण बताकर चमत्कारसम्प्रदाय की पूर्णतया प्रतिष्ठापना की है। इसीलिए प्रमुखतम चमत्कारप्रतिष्ठापकपरमाचार्यों की सूची में इनका नाम भी सम्मिलित है। यहाँ तक हमने प्राचीन और नवीन आचार्यों के चमत्कार सम्बन्धी मतों को दिखा दिया है।

अतिनवीन आचार्य

आधुनिककाल के अतिनवीन आचार्यों ने भी चमत्कार के सम्बन्ध में अपने अपने मतों को अभिव्यक्त किया है।

---

1. विशेषाधायकस्तेन गुणः शौर्यादिवत् सतः।
आह्लादस्याविशिष्टस्य धर्मः सर्वत्र धर्मिणः।।
सर्वत्र काव्ये धर्मिण आह्लादस्य (विशेषाधायको धर्मो गुणो विद्यते)। काव्यालोक 5, 98
2. संयोगवृत्त्यालङ्कारः काव्यस्याह्लादकारणम्।
तिलकादिरिव स्त्रीणां शब्दार्थे चोन्मिषद्गतिः।। काव्यालोक 6, 107
3. वाक्यार्थोपस्कारकमतिचमत्कारि सादृश्यमुपमा।
अनन्वये व्यतिरेके रूपके स्थितस्यापि सादृश्यस्य
नातिचमत्कारितेति नोपमा। काव्यालोक 7, 121 तथा वृत्ति

श्रीमती वी० के० शर्मा ने चमत्कार के महत्त्व के सम्बन्ध में ए० बी० कीथ, एस० के० डे, सूर्यकान्त, एस० एन० दासगुप्ता तथा वी० राघवन् के मतों को उद्धृत किया है।[1] कान्तिचन्द्र भट्टाचार्य, छज्जूराम शास्त्री, रेवाप्रसाद द्विवेदी, वायुनन्दन पाण्डेय, शिव जी उपाध्याय तथा कृष्णचन्द्र चतुर्वेद ने अपने अपने काव्यलक्षणों में चमत्कारतत्त्व को समुचित स्थान प्रदान किया है। वागीश्वर विद्यालङ्कार ने चमत्कार को रसभावादि का विकल्प माना है और रसादिविहीन होने पर भी चमत्कारयुक्त चित्र (अलङ्कार) काव्य को रसापेक्षया अधिक चमत्कारी माना है।[2]

वायुनन्दनपाण्डेय ने भी अलङ्कार, रस, भाव और चमत्कार में से किसी एक की काव्य में अनिवार्य स्थिति मानी है।[3] पूर्वाचार्यों के ग्रन्थानुशीलन के आधार पर बनाये गये अपने काव्यलक्षणों में रामप्रताप ने चमत्कारात्मक वाक्य, चमत्कारादिमत् वाक्य

---

1. Aesthetic principles of Acharya Kshemendra Smt. Ved kumari Sharma pp 85-87, 148-149, 156.
2. (1) लोकोत्तरचमत्कारितया सहृदयहृदयाकर्षि वाक्यं काव्यमिति फलितम्। काव्यदीपिका 1, 2 वृत्ति
   (2) चमत्कारविशिष्टं शब्दार्थयुगलं काव्यमिति फलितम्। साहित्यबिन्दु पृ० 5
   (3) ज्ञानात्मकेन शब्दाख्येनार्थेनार्थान्तरात्मकः।
   यः कश्चन चमत्कारी बोधः काव्यं स उच्यते।। काव्यालङ्कारकारिका 190
   (4) वस्तुतः चमत्कारिशब्दार्थौ काव्यमिति निर्दुष्टं लक्षणं ज्ञेयम्। श्रीमम्मटपंडितराज-साहित्यसिद्धान्तमीमांसा पृ० 40
   (5) लोकोत्तरतया लोके प्रतितिष्ठदहर्निशम्।
   लोकालोकाद्भुतानन्दस्यन्दि साहित्यमुच्चितम्।।
   चमत्काराधायकमानन्दं .... स्यन्दते तादृशं साहित्यम्। साहित्यसन्दर्भ 4,6 तथा वृत्ति
   (6) चमत्कारिबोधजनकशब्दार्थयुगलं काव्यम्। अलंकारध्वनिविमर्श प्रथमप्रवाह पृ० 6
   (7) (क) रसभावचमत्कारान्यतमप्राणपेशलः।
   काव्यं शब्दार्थसन्दर्भोऽलौकिकानन्दसुन्दरः।।
   किं च स शब्दार्थसन्दर्भः काव्यमुच्यते यो रसभावचमत्कारान्यतमप्राणपेशलः स्यात्। चमत्कारः शब्दार्थालङ्कारादीनां कुशलप्रयोगजन्या चित्तचमत्कृतिः। चमत्कारकथनाद् रसादिरहिताया अपि सहृदयाह्लादकारिण्या रचनायाः काव्यत्वं प्रतिपादितम्।
   वैदिकसाहित्यसौदामिनी 2, 7 तथा वृत्ति
   (ख) कल्पनाप्रधानम् उक्तिवैचित्र्यात्मकम् विरोधगर्भम् विविधालंकारैरुपस्कृतं चित्रं काव्यं स्ववैलक्षण्येन चित्तं यथा चमत्करोति न तथा रसकाव्यम्। वही 2, 3 वृत्ति
3. काव्ये चालङ्कारभावरसचमत्कारेष्वन्यतमोऽवश्यमपेक्ष्यते। श्रीमम्मटपण्डितराजसिद्धान्तमीमांसा प्रथमाध्याय पृ० 23

तथा चमत्कारत्वत्त्व को काव्य माना है।[1] राधावल्लभ त्रिपाठी ने चमत्कारापरपर्याय अतिशय को कविता का प्राणप्रद धर्म कहा है।[2] अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने चमत्कारपूर्ण आख्यान (वर्णना) को काव्य माना है।[3]

इस प्रकार यहाँ भरत से लेकर आज तक के प्राचीन, नवीन तथा अतिनवीन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित चमत्कारसम्प्रदाय को प्रदर्शित किया गया है। चमत्कारसम्प्रदाय से सम्बद्ध इन विचारों का चिन्तन तथा अनुचिन्तन अनवरत रूप से होता आया है। अन्त में ये परिकर कारिकायें हैं–

प्रशंसन्ति चमत्कारं चमत्कृतधियो बुधाः।
प्राचीनास्ते नवीनास्ते ह्यतिनवीनकोविदाः।।1।।
सर्वेषां सम्प्रदायानामनेन सम्प्रदायता।
अयं तस्माच्चमत्कारसम्प्रदायो विशिष्यते।।2।।
रसे सारश्चमत्कारोऽलङ्कारसार एव सः।
ध्वनौ सारश्चमत्कारः काव्यतत्त्वं चमत्कृतिः।।3।।
काव्यस्यात्मा चमत्कारोऽलङ्कारसार एव सः।
विस्मयगर्भश्चमत्कारः स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।4।।

चमत्कारसम्बन्धी इस विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि काव्य का प्रमुख तत्त्व चमत्कार है और यही काव्य की आत्मा है। चमत्कार के विश्लेषक संस्कृत-काव्यशास्त्र के आचार्यों को दो श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है।

प्रथम श्रेणी में भरत, भामह, दण्डी, रुद्रट, वामनादि आचार्य हैं जिन्होंने चमत्कारतत्त्व का परोक्षतया निरूपण तो किया है किन्तु उसको स्फुट रूप से नहीं

---

1. (क) क्वाप्यनौचित्यसम्पृक्तं रसादिरहितं क्वचित्।
अद्भुताख्यानसम्पृक्तं लोकवृत्तानुकीर्तनम्।।
अखण्डोचितशब्दार्थं विस्मयप्राणसङ्कुलम्।
चमत्कारात्मकं वाक्यं काव्यं भवितुमर्हति।। काव्यचमत्कार 5, 47-48
(ख) यस्मिन् स्फुरच्चमत्कारा रसाद्याः सहवर्तिनः।
परित्यज्येतराङ्गत्वं प्रधानत्वेन संस्थिताः।।
तत्र ते व्यपदिश्यन्ते तैस्तैः स्वनामभिः।
चमत्कारादिमद् वाक्यं तत्काव्यमिति कथ्यते।। काव्यचमत्कार 5-45-46
2. अतिशय एकः सततं काव्ये प्राणप्रदो धर्मः।
उच्छ्वासः कवितायाः स्तम्भः साहित्यसौधस्य।। अभिनव काव्यालङ्कारसूत्र 2,6
3. काव्यं लोकोत्तराख्यानं रसगर्भं स्वभावजम्। अभिराजयशोभूषण 1, 34

दिया है। इस कारण उनका सम्बन्ध अपने अपने अभीप्सित रस, रीति आदि सम्प्रदायों से जुड़ गया है। अतः चमत्कार के समर्थक होते हुए भी उनको रसादिसम्प्रदायों के आचार्यों के रूप में ही मान्यता मिली है। दूसरी श्रेणी में भट्टतौत, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, क्षेमेन्द्र, विश्वेश्वर कविचन्द्र, विश्वनाथदेव, पण्डितराज जगन्नाथ और हरिप्रसाद आदि आचार्य आते हैं जिन्होंने चमत्कार को अपनी कृतियों में महत्त्व प्रदान किया है और उसका प्रत्यक्ष प्रतिपादन किया है। मम्मटोत्तरयुग के अधिकांश आचार्यों ने भी चमत्कारसम्प्रदाय को अपना अधिक से अधिक समर्थन दिया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार रवि भट्टाचार्य ने तो चमत्कार को भी काव्य का हेतु कहा है।[1] वर्तमान काल में काव्यसम्प्रदायों की आलोचना करते समय रस, अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति एवं औचित्य इन्हीं छः प्रसिद्ध सम्प्रदायों की ओर ही आचार्यों एवं समालोचकों का अधिक ध्यान रहता आया है किन्तु पिछले पचास वर्षों से डॉ० वी० राघवन् सरीखे विद्वानों एवं आलोचकों की दृष्टि चमत्कारसम्प्रदाय की ओर भी जाने लगी है। वस्तुतः रस, अलंकार आदि समस्त काव्यसामग्री काव्य में सौन्दर्य उत्पन्न करके चमत्कार का ही आस्वाद कराती है। इस कारण चमत्कारसम्प्रदाय काव्यशास्त्र में परिगणित एवं प्रसिद्ध अन्य सम्प्रदायों की भाँति सक्षम एवं व्यापक है। संस्कृतकाव्यशास्त्र में छः सम्प्रदायों के साथ साथ अब इस सातवें चमत्कारसम्प्रदाय को भी समुचित स्थान दिया जाने लगा है। इसके पक्ष में प्राप्त युक्तियों के आधार पर इस सम्प्रदाय की भी काव्यशास्त्र में गणना होती रही है। अन्य सम्प्रदायों का समन्वय करते हुए हमारे द्वारा आविष्कृत नवीन प्रस्तावित पदादिगतौचित्यध्वनिविस्मय-जन्यचमत्कार के आधार पर काव्यों और नाटकों की आलोचना हो सकती है।[2] यह सन्तोष की बात है कि कई आधुनिक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में चमत्कारपरक विचारों तथा काव्यलक्षणों को भी दिखाया है।[3]

1. शक्त्यादित्रयं काव्यकारणमिव चमत्कारोऽपि हेतुः। काव्यकाश 1, 3 मधुमतीटीका
2. विशेष द्रष्टव्य-रामप्रतापकृत चमत्कारविचारचर्चा, त्रिविधा काव्यसमीक्षा एवं काव्यचमत्कार।
3. (क) कृष्णकुमार-काव्यशास्त्रविमर्श, आनन्दकुमार श्रीवास्तव-आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र महेश भारतीय- काव्यस्वरूप, सौन्दर्य एवं चमत्कार। सूर्यनारायण द्विवेदी-चमत्कृति सिद्धान्त तथा भारतीय समीक्षा सिद्धान्त, शिवादत्त द्विवेदी कृत काव्यचमत्कारमीमांसा तथा अद्‌भुत रस का परिपाक एवं डा० रमारानी गुप्ता द्वारा सम्पादित काव्यालोक की भूमिका

   (ख) काव्ये रसादितत्त्वानामेकं नैकान्तो महत्।
   कस्याप्येकस्य विच्छित्त्या प्राधान्यं काव्यमुच्यते।।
   विच्छित्तिस्तु चमत्कारः सौन्दर्यलक्षणो मतः।
   सौन्दर्यं यच्च तत्सर्वं रसादौ पर्यवस्यति।। शङ्करदेव अवतरेकृत अलङ्कारप्रक्रिया 3, 44

आचार्य विश्वनाथदेवविरचितः

साहित्यसुधासिन्धुः*

प्रथमस्तरङ्गः*

मङ्गलाचरणम्

श्रीगणेशाय नमः। वाग्विलासिन्यै नमः। श्रीगुरुभ्यो नमः।[1]

श्रीगणेश को नमस्कार है। वाग्देवी सरस्वती को प्रणाम है और [पूजनीय] श्रीगुरुजनों को अभिवादन है।

टि०–संस्कृतसाहित्य के मूलग्रन्थों के रचयिता और उनके टीकाकार विद्वान् अपनी रचनाओं के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करने की परिपाटी का अनुसरण करते चले आये हैं। यह मङ्गलाचरण तीन प्रकार का होता हैं–1. आशीर्वादात्मक 2. नमस्कारात्मक और 3. वस्तुनिर्देशात्मक। इस सम्बन्ध में कालिदास के मेघदूत की टीका में आचार्य मल्लिनाथ ने कहा है–आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम् (मेघदूत 1,1 मल्लिनाथीया सञ्जीवनी टीका) (1) आशीर्वादात्मक–जब ग्रन्थ प्रणेता किसी अपने इष्टदेव, समुचितदेव (राजनीति आदि विषयानुरूपदेव) अथवा समुचितेष्टदेव (विषयानुरूप तथा इष्टदेव) की स्तुति करते हुए उसके द्वारा अपने सामाजिकों और पाठकों के कल्याण की प्रार्थना करता है, तो वह मङ्गल आशीर्वादात्मक होता है। (2) नमस्कारात्मक–जब ग्रन्थकार अपने इष्टदेवता (एको देवः केशवो वा शिवो वा' के नियमानुसार अपने उपास्यदेव) आदि को नमस्कार करता है तो वह मङ्गल नमस्कारात्मक होता है। (3) वस्तुनिर्देशात्मक–जहाँ कवि अथवा ग्रन्थरचयिता अपनी रचना के आरम्भ के प्रथम श्लोक में किसी मङ्गलवाची पद को रखता हुआ प्रतिपाद्य विषय का वर्णन उसी श्लोक से करने लग जाता है तो वह वर्णन वस्तुनिर्देशात्मक होता है।

---

*. ये तीनों शीर्षक अभी तक प्राप्त तीनों प्रतियों में से किसी में नहीं हैं, किन्तु प्रत्येक तरङ्ग की समाप्ति पर पुष्पिका में ग्रन्थकार, ग्रन्थ और तरङ्ग का नामोल्लेख मिलता है। इसी आधार पर प्रथम तरङ्ग के आरम्भ में यह शीर्षक रखा है और शेष सात तरङ्गों के प्रारम्भ में भी क्रमशः द्वितीयस्तरङ्गः, तृतीयस्तरङ्गः आदि शीर्षक दे दिये हैं। तीनों प्रतियों में श्रीगणेशाय नमः से ग्रन्थ आरम्भ होता है।

1. त; गुरवे नमः ज; गुरवे नमः अथवा श्रीगुरुभ्यो नमः अ में नहीं।

उत्तालतालस्फुरदङ्घ्रिपातप्रजातपातालभुजङ्गकम्पम् ।
अभ्रान्तविभ्रान्तकपर्दजालं विस्त्रस्ततालं कलये नटं तम् ।। 1 ।।

इस ग्रन्थ के आदि में त्रिमलदेवपुत्र आचार्य विश्वनाथदेव ने श्रीगणेश, वाणी की अधिष्ठात्री देवी सरस्वती तथा अपने पूजनीय गुरुजनों को नमस्कार किया है। इस कारण यहाँ नमस्कारात्मक मङ्गल है। पहले, दूसरे और तीसरे श्लोक में भगवान् शिव की स्तुति की गई है। इससे यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार काशीस्थ भगवान् विश्वनाथ (शिव) के उपासक थे।

ऊँचे तालवृक्ष के समान [लम्बे और] चञ्चल अथवा [अपने हाथों या समीपस्थ गणों के हाथों के द्वारा बजाई जाती हुई] ऊँचे शब्द वाली तालियों के साथ [थिरकने के कारण] चञ्चल पैरों के पातन से पाताल के सर्पों के कम्पन को उत्पन्न करने वाले, मेघों की सीमा तक [पहुँचकर] उड़ने वाले जटाजूट से युक्त [अत एव अपने हाथों के उड़ते हुए जटाजूट को सम्भालने में व्यस्त हो जाने के कारण] ताली बजाना बन्द करने वाले उन लोकप्रसिद्ध नटरूपधारी अथवा उन नाचते हुए भगवान् शिव का मैं ध्यान करता हूँ अर्थात् उन्हें मैं प्रणाम करता हूँ।। 1 ।।

टि०—अपने गणों के द्वारा अथवा अपने हाथों से जोर से बजाई गई तालियों के ऊपर थिरकने वाले भगवान् शिव के चरणों के द्रुतगति से पृथिवी पर पड़ने से बड़ी ऊँची आवाज़ हो रही है। इससे पाताल के निवासी सर्प काँप उठे हैं। ताण्डव नृत्य नाचने से उनके सिर के बँधे हुए बाल खुल जाते हैं और आकाशमण्डल में फैलकर उड़ने लगते हैं। तब शिव स्वयं तालियाँ बजाना छोड़कर अथवा दूसरों की तालियों पर नाचना बन्द कर अपने हाथों से सिर के बाल पकड़कर उन्हें सम्भालने में लग जाते हैं। इस कारण नाचते नाचते शिव का नृत्य अचानक बन्द हो जाता है। इस श्लोक के चौथे पाद में नटं तम् और नटन्तम् दोनों प्रकार की शब्दरचना सम्भव होने से यहाँ दो प्रकार के अर्थ दिखला दिये हैं।

यहाँ नटराज शिव की स्तुति होने से कविनिष्ठ शिवविषयक रतिभावध्वनि है। त्, ल् र्, प् वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास तथा भ्रान्त इस वर्णसमूह की एक बार आवृत्ति होने से छेकानुप्रास एवं उत्तालताल में ताल वर्णसमूह की एक बार आवृत्ति होने से यमकालङ्कार है। अतः यहाँ अनुप्रास और यमक की संसृष्टि है। उत्तालताल का वृक्षपरक अर्थ करने से यहाँ उपमालङ्कार है। इस प्रकार यहाँ उपमा

उत्तालाङ्घ्रिप्रपातस्फुटितवसुमतीरन्ध्रनीरन्ध्रनिर्यत्-
पातालाम्भःस्रवन्तीस्नपनसिमिसिमाकारिलालाटनेत्रम् ।
ऊर्ध्वव्याधूतभोगीश्वरवररचितायासनिःश्वासरिङ्गद्-
गङ्गाकल्लोलजालं कलयतु विभवं धूर्जटेर्नाट्यलीला ।। 2 ।।

और यमक का एकवचनानुप्रवेश सङ्कर है। शिव की स्वाभाविक क्रियाओं का वर्णन होने से यहाँ स्वभावोक्ति अलङ्कार है।

[ताण्डव नृत्य करते समय ऊँचा करके जोर जोर से फेंके जाने के कारण] कठोर एवं भयङ्कर चरणों के गिरने से फूटी हुई पृथिवी के छेदों को पूरा भरकर निकलने वाले, पाताल तक अर्थात् पृथिवी के भीतर तक जाकर बहने वाली जलधारा में स्नान कराकर महादेव के मस्तक पर विद्यमान [तृतीय] नेत्र में सिं सिं, सुं सुं ध्वनि को उत्पन्न करने वाले, ऊपर की ओर [मुख करके] हिलते हुए श्रेष्ठ सर्पराजों के [जलधारा के साथ टकराने के कारण] परिश्रम से उत्पन्न लम्बी लम्बी साँसों से हिलने वाले [साक्षात्] मुक्तिरूप अर्थात् मुक्तिप्रदायक गङ्गा के तरङ्गसमूह को महादेव की नाट्यलीला प्राप्त करे अर्थात् नाचते हुए शिव का गङ्गा की जलधारा के साथ सदा सम्बन्ध बना रहे।। 2।।

टि०—ताण्डवनृत्य करते समय शिव के पैरों से होने वाले आघातों से पृथिवी में बड़े बड़े गड्ढे हो जाते हैं। जब सच्छिद्र भूमि पर गङ्गा की धारा बहती है तो पानी भर जाने पर यह बड़े गड्ढे दिखाई नहीं पड़ते हैं। शिव जी के ललाट में स्थित क्रोधाग्नि से दहकते हुए तृतीय नेत्र पर जब गङ्गा का जल पड़ता है तो सिं सिं और सुं सुं की वैसी ही आवाज़ होती है जैसी गर्म दहकते हुए अङ्गार या लाल गर्म लोहे के ऊपर पानी की बूँदें पड़ने के समय होती है।

विभव शब्द का अर्थ मुक्ति है। गङ्गा और भगवान् शिव दोनों ही मोक्ष देने वाले हैं। कवि ने यहाँ गङ्गा की तरङ्गों का महादेव के साथ सम्बन्ध बना रहे ऐसी कामना की है। तरङ्गों से चञ्चल बनी गङ्गा को धारण करने वाले शिव हम सब भक्तों की रक्षा करें यह अर्थ यहाँ व्यञ्जना से प्राप्त हो रहा है। यहाँ कविनिष्ठगङ्गाधरशिवविषयक रतिभावध्वनि है और प् , न्, त्, ल् , ध् आदि वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से अनुप्रासालङ्कार है।

महादेव के प्यार भरे कटाक्ष [कृपादृष्टि] अथवा पार्वती के नेत्रप्रान्त

चन्द्रचूडप्रियापाङ्गसन्दोहानन्दनिर्भरः ।
विदधाति कविः कोऽपि सुधासिन्धुतरङ्गितम्।। 3।।

इह खलु सामाजिकपरीक्षितमेव काव्यं स्वर्गापवर्गादिजनकमिति तत्परीक्षार्थमयमारम्भः। अतएवोक्तं काव्यप्रकाशे–

[कृपाकटाक्ष] के समूह के आनन्द से भरा हुआ कोई [विश्वनाथ नामक लोकोत्तरप्रतिभाशाली या साधारण अकिञ्चन] कवि [अनेक तरङ्गों से युक्त अमृतसमुद्र की भाँति आठ] तरङ्गों से युक्त [साहित्य] सुधासिन्धु नामक [इस] ग्रन्थ का निर्माण करता है।। 3।।

टि०–चन्द्रचूडप्रियापाङ्ग० का दो तरह से विग्रह किया जा सकता है–1. 'चन्द्रचूडस्य शिवस्य ये प्रिये अपाङ्गे तयोः सन्दोहस्य यः आनन्दः तेन निर्भरः इस विग्रह में नेत्रों का सम्बन्ध शिव के साथ हो रहा है। 2. चन्द्रचूडस्य या प्रिया पार्वती तस्या ये अपाङ्गे तयोः सन्दोहस्य य आनन्दः तेन निर्भरः इस दूसरे विग्रह में नेत्रों का सम्बन्ध पार्वती से है। यहाँ कवि शिव अथवा पार्वती के कृपाकटाक्ष की प्राप्ति से अपने को आनन्दित अनुभव करता है। इस प्रकार व्यञ्जना से इन दोनों के प्रति भक्तिभाव का सूचन होता है। अतः यहाँ कविनिष्ठशिवविषयक या पार्वतीविषयक रतिभावध्वनि है। भक्ति को पृथक् रस मानने वाले आचार्यों के अनुसार यहाँ इन तीनों श्लोकों में भक्तिरस भी माना जा सकता है। अपने लिए कोऽपि शब्द के प्रयोग से कवि की विलक्षण प्रतिभाशालिता तो सूचित हो ही रही है, साथ ही अपने नाम का निर्देश न करने से उसकी निरभिमानिता का भी अभिव्यञ्जन होता है।

इस संसार में सामाजिकों के द्वारा भलीभाँति परीक्षा करके देखा गया अर्थात् उनके द्वारा अनुभव किया गया काव्य ही स्वर्ग और मोक्ष आदि का कारण बनता है यह निश्चित है। इस कारण काव्य [के घटक तत्त्वों] की समीक्षा [विचार विमर्श] के लिए यह [मेरा] प्रयास है [क्योंकि काव्य लौकिक अनिष्यादि का नाश करके आनन्द प्रदान करता है] इसीलिए काव्यप्रकाश में [काव्य का प्रयोजन बताते हुए अनिष्ट का निवारण होता है] ऐसा कहा गया है।

टि०-कोई भी मनुष्य किसी कार्य में तभी प्रवृत्त होता है जब उसे उसमें इष्टसाधनता और कृतिसाध्यता का ज्ञान हो। 'इदं मदिष्टसाधनम्' यह काम मेरे इष्ट का साधन है या यह मेरे लिए हितकर है, अतएव इसके करने से मेरे मनोरथ की सिद्धि होगी अथवा इस कार्य की कृतिसाध्यता भी है अर्थात् मैं इसे भलीभाँति कर भी सकता हूँ।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे[1]।। इति।[2]

इस प्रकार का उभयविध ज्ञान होने पर ही मनुष्य किसी कार्य में प्रवृत्त होता है। प्रयोजनं ह्यनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते-मूर्ख व्यक्ति भी बिना किसी प्रयोजन या उद्देश्य के किसी कार्य के लिए उद्यत नहीं हुआ करता है। जैसे लौकिक कार्यों को करते समय उनको करने वाले व्यक्तियों का कोई न कोई उद्देश्य होता है, ठीक वैसे ही काव्य, नाट्य, काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों के निर्माण करते समय भी उनके निर्माताओं के हृदय में प्रयोजन रहता है। इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट ने काव्यं यशसे इत्यादि कारिका लिखी है। काव्य यशोलाभ, अर्थप्राप्ति, व्यावहारिक ज्ञान, अनिष्टनिवारण, तुरन्त ही परमानन्दप्राप्ति एवं स्त्री के समान [सरस रूप से कर्त्तव्याकर्त्तव्य के] उपदेश देने के लिए होता है। इस रूप में [काव्यप्रकाश 1, 2 में कहा] है।

टि०–यहाँ आचार्य मम्मट ने काव्य के 6 प्रयोजन बताये हैं। इन्होंने इनको दो वर्गों में बाँटा है–1. कविसम्बन्धी और 2. पाठकसम्बन्धी। यश, अर्थ और शिवेतर-क्षति का सम्बन्ध कवि से है और व्यावहारिक ज्ञान, आनन्दोपलब्धि तथा उपदेशप्राप्ति का सम्बन्ध पाठक से है।

1. यशसे–काव्य यश के लिए होता है। जैसे कालिदास को अभिज्ञानशाकुन्तल, कुमारसम्भव, रघुवंश, मेघदूत और ऋतुसंहार नामक नाट्य एवं काव्य ग्रन्थों की रचना से यश की प्राप्ति हुई थी इसी प्रकार काव्य की रचना करने से कवियों को मान, सम्मान की प्राप्ति होती है।

2. अर्थकृते–काव्य धन के लिए होता है। रत्नावली आदि जो ग्रन्थ श्रीहर्षवर्धन के नाम से मिलते हैं वे उनके द्वारा नहीं लिखे गये अपितु वह धावक नामक किसी कवि की रचनायें हैं। धावक ने राजा हर्षवर्धन से प्रचुर धन लेकर लेखक के स्थान पर अपना नाम न रखकर राजा का नाम लिख दिया था। इस कार्य से उसे धन की प्राप्ति हुई ऐसी किंवदन्ती है। इस प्रकार काव्यनिर्माण से लेखक को धन की प्राप्ति होती है।

3. व्यवहारविदे–काव्य व्यावहारिक ज्ञान के लिए होता है। किसी व्यक्ति को राजा और उसके सेवक आदि से किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए और पत्नी

1. त; काव्यं यशसे (एतावन्मात्र) ज अ
2. ज अ; इत्यादि त

को पति और पति को पत्नी के लिए किन किन सम्बोधनों का प्रयोग करना चाहिए इत्यादि बातों की जानकारी काव्यों और नाटकों को पढ़ने से होती है।

4. शिवेतरक्षतये—अनिष्ट के निवारण के लिए भी काव्य की रचना की जाती है। जनश्रुति है कि मयूर कवि के सङ्कट का मोचन सूर्य की स्तुति में स्तोत्र लिखने से हुआ था। मयूर को कोढ़ हो गया था जिसको सूर्य भगवान् ने उनके द्वारा की गई स्तुति से प्रसन्न होकर दूर कर दिया था।

5. सद्यःपरनिर्वृतये—काव्य तुरन्त ही अलौकिक परमानन्द की प्राप्ति के लिए होता है। काव्य को पढ़ने, सुनने और देखने के साथ ही जो अलौकिक आनन्दानुभूति होती है वही काव्य का मौलिभूत (सर्वोपरि) प्रयोजन है।

इस आनन्दानुभूति के समय पाठक संसार की सब यातनाओं तथा दुःखों को भूल जाता है और तब केवल काव्य जगत् में रम जाता है। इस तन्मयता से अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।

6. कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे—काव्य प्रिया के समान कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश देनेवाला होता है। वेदशास्त्र, इतिहास, पुराण इत्यादि की रचना भी शुभ कार्य में प्रवृत्त कराने और अशुभ कार्य से निवृत्त कराने के लिए होती है, परन्तु काव्य की शैली उससे विलक्षण है। इस विलक्षणता का उपपादन करने के लिए मम्मट ने 1. शब्दप्रधान 2. अर्थप्रधान और 3. रसप्रधान इन तीन शैलियों की कल्पना की है, जिनको क्रमशः प्रभुसम्मित, मित्रसम्मित और कान्तासम्मित नामों से निर्दिष्ट किया है। वेदादिशास्त्रों की शैली शब्दप्रधान होती है। राजाज्ञाओं के समान उनके वचनों का अक्षरशः पालन करना अभीष्ट होता है इसलिए वह प्रभुसम्मित के अन्तर्गत आती है। अक्षैर्मा दीव्याः कृषिमित् कृषस्व जैसे ऋग्वेद के वाक्य अभिधा से जुआ मत खेलो, खेती करो जैसे अर्थों को बताते हैं। इस प्रकार के वचन आदेशात्मक हैं। इतिहास और पुराणों की शैली अर्थप्रधान होती है वहाँ शब्दार्थ न देखकर भावार्थ देखा जाता है इस शैली को मित्रसम्मित भी कहा जाता है। मित्र जब कोई बात कहता है उसका तात्पर्य अर्थ में होता है। विषं भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्थाः तुम जहर खा लेना पर इसके यहाँ न खाना—इस वाक्य में पहला मित्र अपने दूसरे मित्र को जहर खाने के लिए तो नहीं कह रहा है, अपितु उसका तात्पर्य है कि अस्य गृहे भोजनं विषभक्षणादपि दुष्टतरमत एव एतद्गृहे न भोक्तव्यम्—इसके घर में भोजन करना विष खाने से भी अधिक बुरा है, इसलिए इसके घर में तुम्हें नहीं खाना चाहिए। परन्तु काव्य की शैली उपर्युक्त दोनों प्रकार की शैलियों से विलक्षण प्रकार की है और वह रसप्रधान है तथा

अतएवान्यत्रापि[1]–

अदोषं गुणवत् काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति।।

इति।

तत्रादौ काव्य[2]लक्षणम्–

जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।।4।।

उसे कान्तासम्मित कहा गया है। प्रिया जब शुभ कार्य में प्रवृत्त कराने या अशुभ कार्य से निवृत्त कराने के लिए अपने पति को कहती है तो वह उसे सरस बनाते हुए व्यङ्ग्यार्थगर्भित शब्दावली के माध्यम से कहती है। इसी प्रकार काव्य से भी हमें रामादि के समान आचरण करना चाहिए रावणादि के समान नहीं इस प्रकार का उपदेश मिलता है। यह उपदेश अभिधा के द्वारा नहीं अपितु राम और सीता के आदर्श चरित्र को प्रदर्शित करते हुए व्यञ्जना द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इस उपदेश के साथ साथ रसानुभूति भी होती है। काव्य की यह कान्तासम्मित शैली रसप्रवण होती है। इसकी यह विशेषता ही काव्य को वेद, इतिहास, पुराण आदि नीरस ग्रन्थों से पृथक् करती है।

[क्योंकि काव्यनिर्माण कवि को यश आदि प्रदान करता है] इसीलिए दूसरे स्थान पर भी कहा है–

दोषरहित, गुणों से युक्त, अलङ्कारों से सुशोभित तथा रससंवलित [दृश्य और श्रव्य] काव्य को बनाता हुआ कवि यश और स्वर्ग को प्राप्त कर लेता है।

टि०–इस प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरण 1, 2 के इस वचन से काव्य के द्वारा यश और स्वर्ग की प्राप्ति होती है यह सिद्ध हो जाता है।

इस [ग्रन्थ] के प्रारम्भ में काव्य के लक्षण को [ग्रन्थकार] कहते हैं–

जिस [वाक्य] के सुनने भर से ब्रह्मानन्द [समाधिदशा में प्राप्त होने वाले] आनन्द के समान महान् आनन्द उत्पन्न होता है वह वाक्य काव्य कहलाता है।।4।।

1. त; अतएवान्यत्र ज अ
2. ज त; काव्यस्य ल०......अ

केचित्तु आस्वादव्यञ्जकत्वमेव काव्यत्वप्रयोजकम्, तत्तु शब्दे चार्थे चाविशिष्टमिति[1] शब्दवदर्थेऽपि काव्यत्वमिति प्राहुः। काव्यं करोतीत्यादिव्यवहारस्तु शब्दपरतया नेयः।

टि०–यहाँ श्रवणमात्रेण इस विशेषण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आचार्य विश्वनाथदेव का शब्दः काव्यम् इस मत की ओर अधिक झुकाव है। आगे द्वितीय तरङ्ग के प्रारम्भ में ही इन्होंने इस लक्षण को मानना स्वीकार किया है।

किन्हीं आचार्यों का यह मत है–आस्वाद का अभिव्यञ्जन करना ही काव्य का जनक-उत्पादक हेतु है [अर्थात् काव्य वही है जिसमें आनन्द की अभिव्यक्ति पाई जाती है]। यह आनन्द का अभिव्यञ्जन तो शब्द और अर्थ इन दोनों में ही समान रूप से रहता है। इस कारण शब्द की भाँति अर्थ में भी काव्यत्व होता है अर्थात् जैसे शब्द को काव्य कहा जा सकता है ठीक उसी प्रकार अर्थ को भी कहा जा सकता है।

टि०-यहाँ केचित्तु यह कहकर ग्रन्थकार ने शब्दः काव्यम् इस सिद्धान्त को मानने वाले विद्वानों के मत का उपर्युक्त रीति से खण्डन किया है। जब शब्द काव्य हो सकता है तो अर्थ भी काव्य हो सकता है यही इस मत का सारांश है। इसके आगे ग्रन्थकार शब्द को ही काव्य मानने वालों के पक्ष की युक्ति दे रहे हैं।

काव्यं करोति [कवि] काव्य को [शब्दों से] बनाता है यह व्यवहार (शब्दार्थों में होते हुए भी लक्षणा से केवल) शब्दपरक है इस रूप में समझना चाहिए।

टि०–काव्य के अन्तर्गत कवि चन्द्र, चन्दन, कोकिल, दुष्यन्त, शकुन्तला आदि नामपदों को ही रखकर उनकी सहायता से काव्यसृष्टि करता है किन्तु चन्द्र जैसी वस्तुओं–पदार्थों को काव्य में नहीं रखता है। इस कारण काव्यं करोति, काव्यं शृणोति तथा काव्यं पठितम् जैसे प्रयोगों से यही सिद्ध होता है कि शब्दसमूहरूप वाक्य को ही काव्य कहा जा सकता है। काव्य का निर्माण कविगण शब्दों से करते हैं और काव्यान्तर्गत शब्दों को ही सुना या पढ़ा जा सकता है। इस लोकव्यवहार को प्रमाण मानकर पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति आचार्य शब्द को ही काव्य मानते हैं। पण्डितराज ने रसगङ्गाधर में काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है–रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् (रसगङ्गाधर प्रथम आनन सूत्र 1) अर्थात् लोकोत्तर आह्लाद के जनक अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द काव्य कहलाता है।

---

1. अ त; शब्देनार्थेनाविशिष्टमिति ज

केचित्तु–

अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ सालङ्कारौ गुणान्वितौ।
काव्यमेतदिति प्राहुरलङ्कारविशारदाः।।

अदोषाविति–अत्र वदन्ति, काव्यत्वं दण्डत्वादिवत् प्रत्येकं परिसमाप्यवृत्ति उत द्वित्वपृथक्त्ववद् व्यासज्यवृत्ति वा।

यहाँ ग्रन्थकार ने शब्द को काव्य मानने वाले आचार्यों का मत संक्षेप से दिखा दिया है। इसके तुरन्त बाद केचित्तु–अदोषौ तद्धि इस कारिका में आचार्य मम्मट तथा उनका अनुसरण करके शब्दार्थ की समष्टि को ही काव्य मानने वाले आचार्यों के मत को दिखाकर अत्र वदन्ति से लेकर प्राचीनप्रणयानुरोधेनात्र प्रदर्शितम् तक इस मत का खण्डन करके इन्होंने वस्तुतस्तु.....पठतीत्यादि व्यवहारः तक शब्द को काव्य मानने वालों के मत की स्थापना की है।

और कुछ [मम्मटादि के अनुयायी विद्वान्] तो–

दोषरहित, अलङ्कारों से युक्त, गुणोपेत शब्दार्थसमुदाय ही वह [इतिहास, पुराणादि से विलक्षण एवं लोकोत्तर] काव्य होता है, इस प्रकार का यह काव्यलक्षण अलङ्कारशास्त्र के विद्वान् आचार्यों ने बतलाया है [ऐसा कहते हैं]।

'अदोषौ' इत्यादि उपर्युक्त इस काव्यलक्षण के विषय में कुछ आचार्य प्रश्न करते हुए कहते हैं–दण्डत्वादि की तरह क्या काव्यत्व प्रत्येक परिसमाप्यवृत्ति [शब्द और अर्थ इन दो वस्तुओं में से एक एक वस्तु में स्वतन्त्र (अलग अलग रहने वाला) धर्म] है? अथवा क्या द्वित्व और पृथक्त्व की तरह व्यासज्यवृत्ति [शब्द और अर्थ इन दोनों के समुदाय में व्याप्त होकर रहनेवाला उभयनिष्ठधर्म] है?

टि०–यहाँ शब्दार्थौ काव्यम् शब्द और अर्थ की समष्टि काव्य कही जाती है, इस मत के समर्थकों से दो प्रकार से प्रश्न पूछा जा रहा है–1. क्या काव्यत्व अकेले शब्द में अलग और अकेले अर्थ में अलग रहता है? अर्थात् काव्यत्व धर्म की क्या इन दोनों तत्त्वों में अलग अलग (स्वतन्त्र) सत्ता माननी चाहिये? अथवा 2. क्या यह काव्यत्व शब्द और अर्थ इन दोनों वस्तुओं में समान रूप से उभयनिष्ठ होकर रहता है? यह मानना चाहिये। पहले विकल्प का अभिप्राय यह है कि दण्डी पुरुषः इत्यादि वाक्यों में जैसे दण्डी शब्द में दण्डत्व जाति रूप धर्म और पुरुषः शब्द में पुरुषत्व

नाद्यः, केवले शब्दे केवलार्थे च तदव्यवहारात्। नापरः, देवदत्तप्रभवत्वादि न जातिः, साङ्कर्यापत्त्या तादृशजात्यनङ्गीकारात्।

जाति रूप धर्म पृथक् पृथक् हैं अतः ये धर्म इतरनिरपेक्ष होने से स्वतन्त्र हैं वैसे ही क्या शब्दार्थौ काव्यम् इस वाक्य में शब्द में शब्दत्व और अर्थ में अर्थत्व यह दो इतरनिरपेक्ष अलग अलग धर्म रहते हैं? इसी प्रकार क्या शब्दकाव्यत्व को अलग इकाई के रूप में तथा अर्थकाव्यत्व को पृथक् इकाई के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए? अथवा (जैसे द्वित्व धर्म जिन दो में रहता है उन्हीं दो को अलग कर देने पर फिर वह एक एक में रहना बन्द कर देता है। त्रित्व और बहुत्वादि धर्मों की भी यही स्थिति है। इस कारण) क्या काव्यत्व धर्म शब्द और अर्थ दोनों के समुदाय में रहता हुआ ही इन दोनों में सम्मिलित रूप से रहता है? यह मानना चाहिए।

यहाँ पर परिसमाप्यवृत्ति और व्यासज्यवृत्ति इन दो पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। 1. परिसमाप्यवृत्ति–किसी एक वस्तु का वह धर्म है जो केवल उसी वस्तु में स्वतन्त्र रूप से व्याप्त हो और दूसरी में न जाता हो जैसे दण्ड में रहने वाला दण्डत्व धर्म केवल दण्ड में रहता है और पुरुष में रहनेवाला पुरुषत्व धर्म केवल पुरुष में रहता है। इसका दूसरा नाम प्रत्येकपर्याप्त है। 2. व्यासज्यवृत्ति–दो या दो से अधिक वस्तुओं के समुदाय में ही रहने वाला वह धर्म है जो समुदाय के बने रहने पर ही रहता है जैसे द्वित्व, बहुत्वादि। द्वौ पुरुषौ इस वाक्य में प्रयुक्त दो की संख्या दो पुरुषों की सत्ता होने पर ही रहती है। दो में से एक के चले जाने पर बचे हुए व्यक्ति के लिए दो शब्द का प्रयोग नहीं हो सकेगा। काव्यत्वं दण्डत्वादिवत् प्रत्येकं पृथक्परिसमाप्यवृत्ति उत द्वित्वादिवद् व्यासज्यवृत्ति इस रूप में प्रयुक्त वाक्य अधिक स्पष्ट रहेगा।

[इन दो मतों में से] पहला मत ठीक नहीं है। केवल शब्द और केवल अर्थ में अलग अलग रूप में काव्यत्व का व्यवहार नहीं होता है।

टि०–एक ही पद्य के लिए यह शब्दकाव्य भी है और अर्थकाव्य भी है ऐसा व्यवहार नहीं होता है क्योंकि यदि ऐसा मानने लगेंगे तो एक ही जगह दो काव्य मानने पड़ जायेंगे। एक ही पद्य में दो काव्य मानना अनुभवविरुद्ध है इस कारण शब्द में पृथक् शब्दकाव्यत्व और अर्थ में पृथक् अर्थकाव्यत्व को नहीं माना जा सकता।

[और काव्यत्व शब्द और अर्थ इन दोनों के समुदाय में व्याप्त होकर रहनेवाला उभयनिष्ठ जातिधर्म है यह] दूसरा मत भी नहीं माना जा सकता।

क्योंकि जैसे देवदत्तः प्रभवः' इत्यादि वाक्य में उभयनिष्ठ देवदत्तप्रभवत्व धर्म सङ्कर दोष से दूषित होने के कारण अवच्छेदक [जातिधर्म] नहीं बन सकता उसी प्रकार शब्दार्थकाव्यत्व भी सङ्करदोष आ जाने से शब्दार्थ की समष्टि रूप काव्य का अवच्छेदक धर्म नहीं बन सकता।

टि०–काव्यत्व गोत्वादि की तरह जातिधर्म है। जैसे जिनके गले में सास्ना अर्थात् गलकम्बल जैसा चमड़ा लटकता है और जिनके खुर फटे होते हैं उन व्यक्तियों में यह गौ है गौ है ऐसी समानविषयिणी अनुगत (एक समान सभी व्यक्तियों में जाने वाली) प्रतीति गोत्व जाति में प्रमाण है वैसे ही शब्दार्थसमूह में सहृदयहृदयानुमत कोई धर्मविशेष काव्यत्व जाति है। क्योंकि सभी काव्यों में आह्लाद का अनुभव होता है अतः सहृदयों को यह काव्य है यह काव्य है ऐसी समानविषयिणी अनुगत प्रतीति होती है। यह प्रतीति ही काव्यत्व कही जाती है।

देवदत्तः प्रभवः (देवदत्त पिता है अथवा अमुक ग्रन्थ का रचयिता है) इस वाक्य के देवदत्त पदार्थ में देवदत्तत्व जाति और प्रभव पदार्थ में प्रभवत्व जाति है। इन दोनों जातिधर्मों का परस्पर अत्यन्ताभाव है अर्थात् देवदत्त में प्रभवत्व नहीं है और प्रभव में देवदत्तत्व नहीं है। परन्तु इस वाक्य से देवदत्ताभिन्नः प्रभवः इस अर्थ की प्रतीति होती है। इसलिए यहाँ देवदत्तप्रभवत्व यह जातिधर्म समानाधिकरण--एकाश्रय में होकर रहता है। इस प्रकार शब्दार्थ की समष्टि में काव्य मानने पर यहाँ शब्दत्व, अर्थत्व और काव्यत्व इन तीन जातियों का सङ्कर हो जाता है। सङ्कर दोष की प्राप्ति होने से यहाँ शुद्ध रूप में काव्यत्व यह अवच्छेदक धर्म नहीं रह पाता। क्योंकि नियम यह है कि एक पदार्थ में दो जातियाँ नहीं रहा करती हैं। यदि उसमें दो जातियाँ आ जाती हैं तो सङ्कर दोष आ जाता है।

न्यायमुक्तावली के प्रत्यक्ष खण्ड के जातिबाधक प्रकरण की टीकाओं में सङ्कर का लक्षण इस प्रकार किया जाता है–परस्परात्यन्ताभावसमानाधिकरणयो धर्मयोरेकत्र समावेशः सङ्करः–परस्पर अत्यन्त अभाव वाले और समानाधिकरण वाले दो धर्मों का एक स्थान पर मिल जाना सङ्कर कहलाता है।

इस प्रकार शब्द और अर्थ की समष्टि काव्य कही जाती है इस मत का उपर्युक्त युक्तियों के आधार पर यहाँ खण्डन किया गया है। आगे भी अदोषावित्यत्र से लेकर प्राचीनप्रणयानुरोधेनात्र प्रदर्शितम् तक इसी मत का खण्डन है। इसके बाद वस्तुतस्तु से लेकर काव्यं पठतीत्यादिव्यवहारः तक ग्रन्थकार ने शब्दवादी का मत प्रदर्शित किया है और तदनन्तर ग्रन्थरचयिता ने अदोषाविति से लेकर स्फुट इति तक मम्मट के

अदोषावित्यत्र दोषसामान्याभावो वा दोषविशेषाभावो वा। नाद्य:, काव्यत्वस्य निराश्रयतापत्ते:। रसार्थवाक्यपदवर्णरचनादोषाणामानन्त्येन तत्सामान्याभावासम्भवात्। उक्तं च ध्वनिकृता–निश्शेषदोषमोषणमपि गीर्वाणगुरोरप्यशक्यमिति काव्यं विरलविषयं निर्विषयं वा स्यादिति।[1] नान्त्य:, दोषविशेषाभावस्य सर्वत्र सौलभ्येनाव्यावर्तकतया व्यर्थविशेषणत्वापत्ते:।

काव्यलक्षण में रखे गये अदोषौ विशेषण की निरर्थकता सिद्ध की है। सगुणावित्यनेन से लेकर गुणान्वितावित्यत्र गुणव्यञ्जकावित्यर्थ: तक शब्दार्थ की समष्टि में काव्य मानने वाले आचार्यों का मत स्थापित किया गया है। इसके बाद ग्रन्थकार ने काव्य का एक ऐसा सुलझा लक्षण रखने का प्रयास किया है जिसमें केवल शब्द में काव्य मानने वाले और शब्दार्थ की समष्टि में काव्य मानने वाले आचार्यों के मतों में आने वाले दोष नहीं आते हैं। इसका प्रतिपादन वस्तुतस्तु से लेकर किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम् तक किया गया है। इनकी दृष्टि में स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डम् यही परिनिष्ठित काव्यलक्षण है।

अदोषौ इत्यादि कारिका में जो अदोषौ विशेषण है इसका क्या अभिप्राय है? क्या शब्दार्थ में दोषसामान्याभाव अर्थात् सारे दोषों का अभाव मानना चाहिए अथवा दोषविशेष [किसी एक दोष]का अभाव मानना चाहिए? इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि इस दशा में काव्यत्व को निराश्रयता की प्राप्ति होगी अर्थात् किसी स्थान पर काव्यत्व रहेगा ही नहीं। क्योंकि ऐसा कोई स्थान नहीं होता जहाँ कोई न कोई दोष न रहता हो। क्योंकि रस, अर्थ, वाक्य, पद, वर्ण और रचना इन सभी में पाये जाने वाले दोषों की अनन्त संख्या होने से कहीं पर भी सभी दोषों का अभाव असम्भव है। अर्थात् इतनी अधिक संख्या में विद्यमान दोषों का सब स्थानों में अभाव हो ही नहीं सकता। और ध्वनिकार ने भी कहा है कि सम्पूर्ण दोषों का त्याग करना देवताओं के गुरु बृहस्पति के लिए भी अशक्य अर्थात् उनके सामर्थ्य से बाहर है। इस कारण [काव्य में सारे दोषों का अभाव मानने पर] काव्य या तो कहीं कहीं किसी किसी ही उदाहरण में रहने वाला अथवा कहीं भी किसी उदाहरण में न रहने वाला तत्त्व हो जायेगा।

---

1. ज अ, स्यात् त

सगुणाविति विशेषणमप्यनर्थकम्, गुणस्य रसमात्रवृत्तित्वात्। तस्मादामूल-विशीर्णमिदं प्राचीनप्रणयानुरोधेनात्र प्रदर्शितम्। वस्तुतस्तु प्राङ्निपातेनाभ्यर्हितत्वं दर्शयता शब्दस्यैव काव्यत्वमिति ध्वनितम्। युज्यते च तत् समाख्याबलादपि। कविनिर्वाह्यं काव्यम्। न ह्यर्थः कविना निर्वाह्यते, कामिनीचन्द्रचन्द्रिकादीनां ब्रह्मणैव निर्वाहितत्वात्।

टि०–ध्वन्यालोक के प्राप्त संस्करणों में निश्शेष० इत्यादि पङ्क्ति नहीं मिलती। सम्भव है ग्रन्थकार के समय में उपलब्ध ध्वन्यालोक के किसी संस्करण या टीका ग्रन्थ में यह पाठ दिया हो और उसी को इन्होंने ले लिया हो।

दूसरा मत भी ठीक नहीं है क्योंकि दोषविशेष का अभाव सर्वत्र सरलता से उपलब्ध होने योग्य हुआ करता है [किसी दोषविशेष का अभाव तो प्रत्येक काव्य में रहा करता है सदोष काव्य में भी और निर्दोष काव्य में भी] इसलिए [क्योंकि अदोषौ यह विशेषण काव्य को काव्येतर इतिवृत्तादि वस्तुओं अथवा अकाव्य से पृथक् करने वाला–अवच्छेदक धर्म नहीं है इस कारण यहाँ] व्यर्थ विशेषण रखने का दोष आ जाता है [अर्थात् यहाँ इस विशेषण को रखना व्यर्थ सिद्ध होता है]।

[शब्दार्थौ का] 'सगुणौ' यह विशेषण रखना भी निरर्थक है। क्योंकि गुण तो केवल रस में रहते हैं [शब्द और अर्थ में नहीं क्योंकि रस काव्य की आत्मा है और शब्दार्थ काव्य का शरीर है। जैसे आत्मा के शौर्यादि गुण शरीर में नहीं रहते उसी प्रकार रस के माधुर्यादि गुण काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ में नहीं रहते हैं] इसलिए जड़ से लेकर [अर्थात् पूर्ण रूप से] जीर्ण शीर्ण यह काव्यलक्षण यहाँ प्राचीन आचार्यों के [इस लक्षण के प्रति] प्रेम को दृष्टि में रखकर दिखलाया है [परन्तु यह तर्कसंगत नहीं है]। वास्तव में [शब्दार्थौ इस पदसमूह में] तो शब्द के पूर्व प्रयोग से शब्दगत उत्कृष्टता को दिखलाते हुए लक्षणकार ने शब्द की ही काव्यता होती है यह बात व्यञ्जना से प्रकट की है और ['कवेः कर्म काव्यम् काव्यपद की इस प्रकार की] उसकी समाख्या–[व्युत्पत्ति से प्रतीत होने वाले अर्थ] की शक्ति से भी काव्य को शब्दगत मानना इसलिए सङ्गत है क्योंकि कवि के द्वारा निर्माण के योग्य–सम्पाद्य वस्तु ही काव्य कही जा सकती है, कवि के द्वारा अर्थ नहीं बनाये जाते। और क्योंकि रमणी, चन्द्रमा और चाँदनी आदि वस्तुओं [अर्थों] का निर्माण ब्रह्मा के द्वारा ही किया जाता है [कवि के द्वारा नहीं]। इसके अतिरिक्त कवि के द्वारा बनाने योग्य जो पदरचना होती

अपितु कविनिर्वाह्या[1] पदगुम्फना सैव काव्यम्। अतएव काव्यं शृणोति पठतीत्यादि व्यवहार:। अदोषाविति यथाशक्ति दोषहानम्[2] परं न तु लक्षणप्रविष्टम्, दुष्टेष्वपि रसोद्बोधात्।

अतएवोक्तम्–

कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता तत्र रसाद्यनुगम: स्फुट:।।

इति।

सगुणावित्यनेनास्वादव्यञ्जकत्वमुक्तम्। तेनास्वादजीवातु: पदसन्दर्भ: काव्यमिति

है वही काव्य कहलाती है। इसीलिए काव्य को पढ़ता है, काव्य को सुनता है इत्यादि प्रयोग होता है [श्रवण पठन शब्द में ही सम्भव है अर्थ में नहीं अतएव लोकव्यवहार से भी शब्द की काव्यता सिद्ध होती है]।

'अदोषौ' इस पद से यहाँ यथाशक्ति दोष का कविता में परित्याग करना चाहिए यह अर्थ हो सकता हैं। परन्तु इसको लक्षण में नहीं रखना चाहिए क्योंकि दोषदूषित काव्यों में भी रस की प्रतीति होती है।

इसलिए कहा है–

कीड़ों से खाए हुए भी रत्नादिकों में रत्नत्व की तरह सादृश्य के कारण दोषदूषित काव्यों में भी काव्यता बनी ही रहती है क्योंकि वहाँ रसादिकों की अनुभूति स्पष्ट रूप से होती है। इस प्रकार [यह साहित्यदर्पण 1, 2 वृत्तिभाग में] कहा गया है।

टि०–जैसे कीड़ों से खाई भी रत्नादि वस्तुयें रत्नादि ही कहलाती हैं वैसे ही श्रुतिदुष्यादि दोषों से युक्त होने पर भी कोई काव्य काव्य ही कहलाता है किन्तु उसमें रस का समावेश अवश्य होना चाहिए। जैसे कीड़ों से बिंधे हुए रत्न में कीटानुवेध सदृश किसी दोष के रहते हुए भी उसमें रत्नत्व रहता ही है इसी प्रकार श्रुतिकटुत्वादि दोषों के रहते हुए भी काव्य में काव्यत्व बना रहता है। परन्तु काव्य में किसी रसविघातक प्रबल दोष की उपस्थिति नहीं होनी चाहिए।

'सगुणौ' इस विशेषण से [स्वाश्रयरसाभिव्यञ्जकत्व रूप परम्परासम्बन्ध से] शब्दार्थ की रसव्यञ्जकता कही गई है। [स्व शब्द से यहाँ गुणों का

---

1. ज त; कविनिर्वाह्यपदगुम्फना अ
2. ज; दोषहीनं अ; दोषहानि: त

चण्डीदासप्रभृतयः। तन्न, आस्वादवदर्थोपस्थापकपदत्वं पदोपस्थाप्यास्वादवदर्थत्वं वा काव्यत्वमिति विनिगमनाविरहेणोभयस्य काव्यत्वात्। न च समाख्या विनिगमिका, कामिनीमुखचन्द्रतादात्म्यस्यालौकिकार्थस्य कविनिर्वाह्यत्वेन तस्या अविनिगमकत्वात्। न च तादृशजात्यङ्गीकारे साङ्कर्यशङ्केति वाच्यम्, अखण्डोपाधेरेव स्वीकारात्।[1] वस्तुतस्तु साङ्कर्यस्य दूषकताबीजाभावाददूषकत्वमेवेति ब्रूमः।

ग्रहण है, गुणों के आश्रय रस हैं इनके अभिव्यञ्जक शब्दार्थ होते हैं इस प्रकार गुणों का शब्दार्थ के साथ परम्परासम्बन्ध है] इस कारण रस रूप प्राण वाला अर्थात् रसोद्बोधक पदसमूह काव्य कहलाता है। इस प्रकार जो चण्डीदास आदि आचार्य मानते हैं उनका यह मत ठीक नहीं है। [उनसे प्रश्न किया जा सकता है] क्या आस्वादयुक्त अर्थ के बोधक पद काव्य कहलाते हैं? अथवा पदों से उपस्थापित आस्वादयुक्त अर्थ काव्य कहलाते हैं? यहाँ इन दोनों लक्षणों में किसी एक के अनुकूल एकतरपक्षपातिनी युक्ति अर्थात् एक पक्ष को पुष्ट करने वाला तर्क का बोध न होने से दोनों में ही काव्य का लक्षण घट जाता है अर्थात् उक्त लक्षण के मानने पर शब्द और अर्थ दोनों में ही काव्य मानना पड़ जायेगा। कवेः कर्म काव्यम् यह समाख्या [यौगिकः शब्दः समाख्या, योग अर्थात् व्युत्पत्ति से अपने अर्थ को बोधित कराने वाला शब्द] भी शब्द में काव्यत्व की विनिगमिका–एकपक्ष को पुष्ट करने वाली युक्ति नहीं है। क्योंकि कामिनीमुख का चन्द्र के साथ तादात्म्य रूप अलौकिक अर्थ (कार्य) भी कवि के द्वारा ही निष्पन्न होता है [इसलिए यह काव्यलक्षण अर्थ में भी चला जाता है क्योंकि कवेः कर्म काव्यम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार जैसे शब्द कवि का कर्म है उसी प्रकार अर्थ भी है] इस प्रकार अर्थ के भी कविनिर्वाह्य होने से उपर्युक्त यह [पदसन्दर्भः काव्यम्] समाख्या इस काव्यलक्षण के लिए विनिगमिका नहीं है।

[जैसा कि पहले बताया जा चुका है और यदि 'शब्दार्थौ काव्यम्' यह काव्यलक्षण माना जाय तो देवदत्तः प्रभवः में देवदत्तप्रभवत्वादि जाति की तरह शब्दार्थ में भी] उसी प्रकार के शब्दार्थकाव्यत्व रूप जातिधर्म को

---

1. ज अ; न च काव्यत्वजाते र्व्यासज्यवृत्तित्वेऽपसिद्धान्तो देवदत्तप्रभवत्वादिना जातिसाङ्कर्यापत्त्या काव्यस्योपाधित्वात् त

न चादोषाविति सामान्याभावादिविकल्पावकाशः, तस्यैव लक्षणे प्रवेशात्।

स्वीकार करने पर उसमें साङ्कर्य की शङ्का हो जायेगी [अतः यह लक्षण दूषित है] ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि [इस दशा में काव्य में काव्यत्व जाति न मानकर] अखण्डोपाधि ही स्वीकार की जाती है। वास्तव में तो सङ्कर दोष के रसविघात में कारण न बनने से उसमें निर्दोषता ही आती है ऐसा हम कहते हैं।

टि०—जाति का लक्षण-नित्यमनेकानुगतं सामान्यं जातिः—नित्य एवं अनेकों में अनुगत सामान्य-समानविषयिणी अर्थात् एक ही प्रकार की धारावाहिनी प्रतीति जाति कहलाती है। जैसे संसार की समस्त गोव्यक्तियों में एक ही प्रकार की अयं गौः अयं गौः प्रतीति होती है वैसे ही समस्त काव्यों में भी इदं काव्यमिदं काव्यम् इस रूप में होनेवाली अनुगत प्रतीति होती है। शब्दार्थौ काव्यम् इस काव्यलक्षण में काव्यत्व को जाति मानने पर जातिबाधक सङ्कर दोष की प्राप्ति होती है। परन्तु यदि इसे जाति न मानकर अखण्डोपाधि माना जाय तो यह दोष हट जाता है। इन दोनों में यह अन्तर है कि जाति नित्य होती है और अनेक व्यक्तियों में अनुगत—एकाकार रूप से समवाय सम्बन्ध से रहती है परन्तु उपाधि नित्य होने पर भी एक ही धर्मी में स्वरूपसम्बन्ध से रहती है (यो नित्यः सन्नेकस्मिन् धर्मिणि स्वरूपसम्बन्धेन तिष्ठति असौ अखण्डोपाधिः)। जैसे एक आकाश में अनेकों में रहनेवाला जातिरूप धर्म नहीं रहता और उसमें एक आकाशत्व रूप अखण्डोपाधि धर्म रहता है उसी प्रकार 'नामनामिनोरभेदः' इस न्याय से एक रूप में स्थित शब्दार्थ में एक ही काव्यत्व रूप अखण्डोपाधि रहती है।

साहित्यशास्त्र में रसास्वादप्रतिबन्धक को दोष कहा जाता है परन्तु सङ्कर रस प्रतीति का प्रतिबन्धक नहीं होता अतः उसके रहते हुए भी काव्य में साहित्य के नियमानुसार दोष नहीं मानना चाहिए। अतः काव्य में काव्यत्व को जाति मानने पर भी कोई हानि नहीं है।

और [शब्दार्थौ के] अदोषौ इस विशेषण से दोषसामान्याभाव या दोष-विशेषाभाव रूप विकल्पों का अवसर ही नहीं है क्योंकि हमारे मत में दोषसामान्याभाव का ही लक्षण में प्रवेश होता है [दोषविशेषाभाव का नहीं]।

[और दोष सामान्याभाव के लक्षण में प्रवेश होने से जो] प्रविरलविषयत्व

विरलविषयत्वमिष्टमेव पदमात्रस्यापि तथासम्भवान्न निर्विषयत्वमिति केचित्। अदोषपदेन स्फुटदोषराहित्यं विवक्षितम्। तेन निराकाङ्क्षत्वासाधुत्वादय: परिगृह्यन्ते।

अतएवास्ति कश्चित् प्रतिभावतां [स] विशेषोपाय:[1] य: सामाजिकांश्चित्रार्पितानिव कृत्वा दोषान्न ग्राहयतीति वदन्ति।

आता है वह हमें इष्ट ही है क्योंकि केवल कुछ पद भी यदि निर्दोष हों तो उतने को ही काव्य कहा जा सकता है इसलिए [कुछ पदों के सर्वथा दोष विनिर्मुक्त होने की स्थिति में] काव्य की निर्विषयता नहीं होगी [अत: पूर्वपक्षी का यह कहना कि सर्वथा दोषरहित कोई काव्य सम्भव ही नहीं है यह असङ्गत है] ऐसा कुछ विद्वानों का कहना है।

टि०—अदोषौ शब्दार्थौ काव्यम् इस काव्यलक्षण में दोषविशेष का सम्भव तो है परन्तु व्यभिचार नहीं है अत: अदोषौ को शब्दार्थौ का विशेषण नहीं माना जा सकता। क्योंकि नियम यह है कि किसी विशेष्य का वही विशेषण बन सकता है जिसमें सम्भव और व्यभिचार यह दोनों विशेषतायें रहती हों (सम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्) सम्भव का अर्थ है सत्ता और व्यभिचार का अर्थ है अभाव। कोई न कोई विशेष दोष तो काव्य में रहता ही है इसलिए सब दोषविशेषों का अभाव काव्य में नहीं रह सकता। इसलिए यहाँ दोषसामान्याभाव में ही तात्पर्य है दोषविशेषाभाव में नहीं।

कुछ विद्वानों का कहना है कि अदोषौ इस पद से यह विवक्षा है कि [शब्दार्थरूप काव्य में] स्फुट दोष नहीं होने चाहिए।

टि०—यहाँ स्फुट दोष होने का अभिप्राय रसानुकूलशाब्दबोधप्रतिबन्धकत्व है अर्थात् जो रस के अनुरूप शाब्दबोध में बाधा को उपस्थित करे वह स्फुट दोष कहलाता है।

इससे [निराकांक्ष और असाधु आदि दोषों में रहनेवाले] निराकाङ्क्षत्व और असाधुत्वादि विशेष धर्मों का ग्रहण होता है। [शाब्दबोध में प्रतिबन्धक होने से रसविघातक इन दोषों को काव्य में नहीं रहने देना चाहिये]।

इसलिए प्रतिभाशाली कवियों का वह कोई ऐसा विशेष उपाय [खास ढंग का अन्दाज़े बयां] है जो सामाजिकों को [विस्मय विमुग्ध करके]

---

1. ज; विशेषो य: अ त।

परे तु यदंशे दोषस्तदंशेऽकाव्यत्वं यदंशे दोषाभावस्तदंशे काव्यत्वमिति तथा चैकमेव पद्यं काव्यमकाव्यं च यथा एकमेव ज्ञानं प्रमाऽप्रमा चेति दोषसामान्याभाव एव लक्षणे प्रवेश्य इत्याहुः। गुणान्वितावित्यत्र[1] गुणव्यञ्जकावित्यर्थः।

चित्रलिखित [फोटो की भाँति स्थिर] सा करके उन्हें दोषों को पकड़ने ही नहीं देता। [अतः काव्य में स्फुटदोषराहित्य होना चाहिए भले ही छोटा मोटा दोष रह जाय, ऐसा वे कहते हैं]।

टि०–अभिप्राय यह है कि कविगण अपनी वर्णनशैली से अपनी रचना को इतना अधिक हृदयावर्जक बना देते हैं कि उसे पढ़कर सामाजिक आनन्दमग्न हो जाता है और उसका उस रचना के दोषों की ओर ध्यान ही नहीं जाता। उदाहरणार्थ निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम् इत्यादि श्लोक विलक्षण रूप से रसोद्बोधक है। इसको पढ़ते ही पाठक आनन्दमग्न हो जाते हैं और उनका सारा ध्यान इसके शब्दों से ध्वनित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की ही ओर चला जाता है। यद्यपि इस श्लोक में विधेयाविमर्श दोष है क्योंकि यहाँ पहले उद्देश्य 'स्तनतटं' को रखना चाहिए तदनन्तर विधेय 'निःशेषच्युतचन्दनम्' को प्रयुक्त करना चाहिए। पर यहाँ वैपरीत्य है तो भी रसविभोर पाठक की दृष्टि एक तो इस ओर जाती ही नहीं है और यदि क्षणभर के लिए जाती भी है तो तुरन्त हट भी जाती है।

और दूसरे विद्वान् ऐसा कहते हैं–जिस अंश में दोष होता है वह अकाव्य और जिस अंश में दोष का अभाव होता है वह काव्य होता है जैसे एक ही ज्ञान प्रमा (यथार्थ) और अप्रमा (अयथार्थ) दोनों रूपों में होता है वैसे ही एक ही पद्य काव्य और अकाव्य दोनों हो जायेगा। इसलिए यहाँ दोषसामान्याभाव को ही काव्यलक्षण में सम्मिलित करना चाहिए।

टि०–इनका कहना है–यदि अदोषौ का अर्थ दोषविशेषाभाव (च्युतसंस्कृत्यादि दोषों का अभाव) होगा तो एक ही श्लोक में किसी अंश में दोष रहेगा और किसी अंश में दोष नहीं रहेगा। उदाहरणार्थ–'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि श्लोक में विधेयाविमर्श वाले स्थलों पर तो अकाव्यत्व हो जायेगा और शेष अंशों में दोषाभाव होने के कारण काव्यत्व रहेगा। इस प्रकार एक ही पद्य काव्य और अकाव्य दोनों होने लगेगा। जैसे एक ही ज्ञान अप्रमा और प्रमा होता है– रज्जु में सर्प की बुद्धि

---

1. ज अ; सगुणावित्यत्र त

वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्यप्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यत्वमखण्डं कल्पनीयं तथा च तदेव लक्षणमस्तु किमनेनाननुगतेन लक्षणेन इति सर्वं सुस्थम्।[1]

होने पर वह ज्ञान अप्रमा–अयथार्थ ज्ञान–है और उत्तर काल में रज्जु में रज्जु की ही प्रतीति होने पर वही ज्ञान प्रमा–यथार्थज्ञान बन जाता है। इस स्थिति में किसी भी पद्य को अकाव्य अथवा काव्य दोनों में से कोई भी नाम नहीं दिया जा सकेगा। अतः अदोषौ का अभिप्राय दोषविशेषाभाव न होकर दोषसामान्याभाव ही है। इस अदोषौ पद में प्रयुक्त नञ् का अर्थ दोषसामान्याभाव से युक्त शब्दार्थ करना चाहिए।

[अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ सालङ्कारौ गुणान्वितौ में आये हुए] गुणान्वितौ इस विशेषण में गुणव्यञ्जक [शब्द और अर्थ काव्य होते हैं] यह अर्थ [निहित] है।

वास्तव में तो अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि वाक्य से बताये गये स्वर्गविशेष अर्थात् विशेष प्रकार के स्वर्गीय आनन्दोपम सुखविशेष (चमत्कार) के जनक काव्य के भीतर रहनेवाली काव्यता के अवच्छेदक अखण्ड धर्म काव्यत्व की कल्पना करनी चाहिए और वह ही काव्य का लक्षण हो जाय (अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ इत्यादि अथवा पदसन्दर्भः काव्यम्) इस असङ्गत और न घटने वाले लक्षण को काव्यलक्षण मानने की क्या आवश्यकता है? इस प्रकार काव्यलक्षण विषयक सारा सिद्धान्त इस तरङ्ग में (निश्चित) रूप में सुस्थिर हो गया है।

टि०–आचार्य विश्वनाथदेव ने इस तरङ्ग में सबसे पहले काव्य के प्रयोजन बताने के लिए आचार्य मम्मट की काव्यं यशसे इत्यादि कारिका को दिया है। इसी के साथ अदोषं गुणवत् काव्यम् इत्यादि सरस्वतीकण्ठाभरण की कारिका से यह बताया है कि कवि निर्दोष, सगुण, अलङ्कारों से अलङ्कृत एवं रसान्वित काव्य का निर्माण करके यश की प्राप्ति करता है और स्वर्गीय सुख को भी प्राप्त करता है। कवि की इस रचनाविशेष से सामाजिक भी इस अलौकिक सुख को पा लेता है। यहाँ सरस्वतीकण्ठाभरण की इस कारिका को प्रारम्भ में काव्य के प्रयोजन बताने के लिए रखा है और फिर काव्यलक्षण के प्रसङ्ग की समाप्ति पर इसी को स्वानुमोदित काव्यलक्षण के रूप में दुबारा कहा है कि वास्तव में तो–

---

1. त; सर्वं सुखम् ज, अ में लक्षणेन के बाद इति सर्वं सुस्थम् नहीं।

अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति।। इति
(सरस्वतीकण्ठाभरण (1, 2)

इस कारिका के द्वारा बताया जो काव्यलक्षण है उसे ही काव्य का लक्षण मान लेना चाहिए। काव्यप्रयोजन बतलाने के बाद आचार्य विश्वनाथदेव ने आचार्य मम्मट के तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि इस काव्यलक्षण के ही शब्दों को लेकर शब्दार्थ की समष्टि को काव्य मानने वाले आचार्यों में प्रचलित–

अदोषौ तद्धि शब्दार्थौ सालङ्कारौ गुणान्वितौ।
काव्यमेतदिति प्राहुरलङ्कारविशारदाः।।
सा०सु०सि० 1, 4 वृत्ति

इस काव्यलक्षण का खण्डन दूसरे विरोधी आचार्यों द्वारा किया हुआ बताया है। इसी प्रकार चण्डीदास प्रभृति पदसन्दर्भः काव्यम् इस केवल पदसमूह को काव्य मानने वाले आचार्यों का मत भी दूसरे विद्वानों के द्वारा खण्डित किया हुआ बताया है।

'अदोषं गुणवत्काव्यम्' इत्यादि कारिका के अन्तिम चरण में सरस्वतीकण्ठाभरण के अनुसार 'कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति' ऐसा पाठ है किन्तु साहित्यसुधासिन्धुकार ने 'कीर्तिं स्वर्गं च विन्दति' यह पाठ कर दिया है। मूलपाठ के प्रीति के स्थान पर रखा गया स्वर्ग शब्द लक्षणा से स्वर्गीय आनन्द (चमत्कार) का द्योतक माना जा सकता है। ग्रन्थकार का कहना है कि 'अदोषं गुणवत् काव्यम्' इत्यादि रूप में भोजराज द्वारा बताये हुए लक्षण को ही सर्वमान्य काव्यलक्षण के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए क्योंकि इस लक्षण में काव्य के सभी आवश्यक तत्त्व निर्भ्रान्त रूप में समाहित कर दिये गये हैं। इसके भीतर जहाँ दोषराहित्य, सगुणत्व, सालङ्कारत्व और सरसत्व इन धर्मों का समावेश है वहाँ आह्लाद (प्रीतिं अथवा स्वर्गम्) रूप धर्म को भी ग्रहण कर लिया है क्योंकि यह आह्लादकारिता (सद्यः परनिर्वृतिप्रदायकता) ही तो काव्य का सर्वोपरि धर्म है। इस लक्षण के रहते हुए दूसरे लक्षणों में अभिरुचि रखना निरर्थक है क्योंकि काव्य का इतना व्यापक और सर्वाङ्गीण लक्षण दूसरा नहीं दिखाई पड़ता। आचार्य मम्मट और उनके अनुयायियों के द्वारा माने गये लक्षण में काव्य के प्रधानभूत तत्त्व रस का स्पष्ट रीति से नाम का निर्देश नहीं किया है लक्षण में तो अभिधा के ही द्वारा काव्य के सम्पूर्ण तत्त्वों का निर्देश करना अपेक्षित होता है। इस लक्षण का अनुमोदन करने के उपरान्त इन्होंने वस्तुतस्तु अदोषं गुणवत्काव्यमित्यादिवाक्य-प्रतिपादितस्वर्गविशेषजनकतावच्छेदकं काव्यमखण्डं कल्पनीयम्' कहकर

अपनी ओर से काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया है। यहाँ स्वर्ग पद का दुःखसंस्पर्श से रहित सुखविशेष यह लाक्षणिक अर्थ है। जैसे स्वर्ग में प्राप्त होने वाले आनन्द में किसी प्रकार के दुःख की अल्प मात्रा भी नहीं मिली हुई होती वैसे ही काव्यजनित आनन्द उस स्वर्गीय आनन्द के समान शुद्ध आनन्द रूप होता है। जैसे अन्य आचार्यों ने इसको ब्रह्मास्वादसहोदर यह नाम दिया है वैसे ही आचार्य विश्वनाथदेव ने इसे दो नाम दिये हैं–1. ब्रह्मानन्दसहोदर परमानन्द (सा० सु० सि०1, 4) तथा 2. स्वर्गविशेष अर्थात् स्वर्गीयानन्दोपम आनन्दविशेष। (वहीं वृत्ति) दृश्यकाव्यों और श्रव्यकाव्यों के पठन, श्रवण और दर्शन से स्वर्गोपम आनन्द इसी शरीर से प्राप्त हो जाता है यह सकल सहृदयों के हृदयों से अनुमोदित सिद्धान्त है।

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनि इत्यादिकविनिर्मितावनेनैव देहेन स्वर्गप्राप्तिः स्यादिति भावः नियतिकृतनियमरहिताम् (काव्य प्रकाश 1,1) इत्यादि पर वामनी टीका। अपनी ओर से दिया हुआ इनका पर्यवसित (परिनिष्ठित) काव्यलक्षण– 'स्वर्गविशेषजनकतावच्छेदककाव्यत्वमखण्डम्' इस रूप में निष्पन्न होता है। जायते परमानन्दः इत्यादि काव्यलक्षण तो सुगम शब्दों में रख दिया है और यह दूसरा लक्षण नव्यन्याय की शैली में बताया है। इस दूसरे लक्षण में काव्य को स्वर्गविशेष का जनक बताया है। काव्य में तन्निष्ठजनकता होती है और उसका अवच्छेदक काव्यत्व है। यह काव्यत्व धर्म अखण्ड अर्थात् अभेदात्मक है। इस लक्षण के अनुसार–स्वर्गीय आनन्दोपम लोकोत्तर सुखविशेष को उत्पन्न करने वाला अखण्डार्थबोधक अखण्ड वाक्य ही काव्य होता है–यह काव्य का स्वरूप है। इस प्रकार यहाँ काव्य को अखण्डोपाधि के रूप में स्वीकार किया गया है। जो धर्म नित्य होकर एक वस्तु में स्वरूपसम्बन्ध से रहता है वह अखण्डोपाधि कहलाता है। काव्य में रहने वाला काव्यत्व धर्म अखण्डोपाधि है जाति नहीं जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि शब्दार्थौ काव्यम्– इस काव्यलक्षण में शब्द और अर्थ के समूह में काव्यत्व जाति मानने पर सङ्कर दोष आता है। इसी प्रकार शब्दः काव्यम् यह काव्यलक्षण मानने पर भी सङ्कर होता है क्योंकि जहाँ काव्य धर्म नहीं है ऐसे केवल गकारादि अक्षरघटित चित्रकाव्य में काव्यत्व है और जहाँ काव्यत्व नहीं है ऐसे ककार रूप एकाक्षर में कत्व जाति है इन दोनों काव्यत्व और कत्व जातियों की एकमात्र ककार निर्मित चित्रकाव्य में स्थिति है अतः साङ्कर्य है। यह साङ्कर्य जाति का बाधक होता है इस कारण केवल शब्द में भी काव्यत्व जाति नहीं मानी जा सकती। परन्तु यदि शब्दार्थाभेदवादी वैयाकरणों का मत मान लिया जाय और शब्दार्थ का अभेद मानकर उनको अखण्ड

अत्र च विशेषालङ्कारविरहेऽपि सामान्यालङ्कारसत्त्वान्न काव्यत्वहानिरित्यवधेयम्। यथा–

आपृच्छस्व सखी र्नमस्कुरु गुरून् वन्दस्व बन्धुस्त्रियः
काावेरीतटसन्निविष्टनयने मुग्धे किमुत्ताम्यसि।

(निरवयव) समझा जाय तो यह सङ्कर दोष नहीं आता है। इसलिए ग्रन्थकार ने स्वर्गोपम आनन्द के जनक अभिन्न शब्दार्थ को काव्य के रूप में स्वीकार किया है। वैयाकरणों का यह मत अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्यः वाक्यमेव च वाचकम् इस रूप में काव्यप्रकाश (5, 47 वृत्तिभाग) में भी मिलता है। इनके मत में शब्द से अर्थ पृथक् नहीं है और अर्थ से शब्द का भेद नहीं है इन दोनों का ऐक्य ही वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार यहाँ तक आचार्य विश्वनाथदेव ने भोजराज के बनाये काव्यलक्षण का अनुमोदन करते हुए यहाँ अपनी ओर से भी काव्य का पर्यवसित लक्षण दे दिया है।

और यहाँ (काव्य में) किसी (उपमादि) विशेष अलङ्कार के न रहने पर भी (वक्रोक्ति) जैसे सामान्य-सब में रहने वाले अलङ्कार के होने पर (काव्य में) काव्यत्व को (मानने पर) किसी प्रकार की क्षति नहीं होती ऐसा समझना चाहिए।

टि०–सरस्वतीकण्ठाभरण की अदोषौ गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् इस पङ्क्ति में आये हुए अलङ्कारैरलङ्कृतम् इस विशेषण का ग्रन्थकार ने यह आशय बतलाया है कि काव्य में यदि उपमादि विशेष अलङ्कार होते हैं तो इससे कविता का उत्कर्ष बढ़ जाता है। किन्तु कहीं कहीं काव्य में विशेष अलङ्कारों में से यदि कोई न हो और वक्रोक्ति (अतिशयोक्ति) जैसा सामान्य (सर्वगत) अलङ्कार हो तो इस दशा में भी काव्य में काव्यत्व मानने में कोई त्रुटि नहीं आती है। यही बात निम्नलिखित दो श्लोकों से स्पष्ट हो जाती है।

(उदाहरण के रूप में) जैसे–सखियों से विदा ले लो, गुरुओं को नमस्कार करो (प्रिय) सम्बन्धियों तथा (मान्या) स्त्रियों की वन्दना करो। यहाँ कावेरी नदी के तट पर आँखें लगाने वाली हे भोली बच्ची! तुम क्यों दुःखी हो रही हो? अरी बेटी, (इस पिता के) घर के समीप ही वहाँ भी इलायची

आस्ते पुत्रि समीप एव सदनादेलालतालिङ्गित-
न्यञ्चत्तीरतमालदन्तुरदरी तत्रापि गोदावरी।। 1।।

यथा वा-

अच्छिन्नं नयनाम्बु बन्धुषु कृतं ताप: सखीष्वाहितो
न्यस्तं दैन्यमशेषत: परिजने चिन्ता गुरुभ्योऽर्पिता।
अद्य श्व: खलु निर्वृतिं व्रजति सा श्वासै: परं खिद्यते
विश्रब्धो भव विप्रयोगजनितं दु:खं विभक्तं तया।। 2।।

की लताओं से स्पर्श किये गये हिलते डुलते एवं तीर पर स्थित तमाल वृक्षों से सुन्दर गुफाओं वाली गोदावरी नदी है।।1।।

टि०–अपनी पुत्री को ससुराल भेजते समय उसे सान्त्वना देने के लिए उसके पिता अथवा माता की ओर से उसे कहा जा रहा है कि तुम्हारा ससुराल का घर समीप ही है अत: तुम्हें हम जल्दी जल्दी वापिस बुलाते रहेंगे दूसरा वह घर भी उतना ही सुन्दर है जितना यह घर है। यहाँ यह चमत्कार पूर्ण उक्ति विदा के दृश्य को आँखों के सामने उपस्थित कर देती है और वात्सल्य रस को पुष्ट कर रही है। यहाँ विशेष अलङ्कार के बिना भी काव्य है।

अथवा जैसे–[दूती नायिका की विरहावस्था की दशा नायक को बता रही है]–[उसने अपने] सम्बन्धियों के लिए अविरल नेत्राश्रुधारा को उत्पन्न किया है (अर्थात् उसकी दीन दशा को देखकर सारे सम्बन्धी फूट फूट कर रो रहे हैं) सभी सखियों को उसने अपना सन्ताप सौंप दिया है। परिवार के लोगों को पूर्ण रूप से अपनी दीनता को दे दिया है और अपनी चिन्ता कुटुम्ब के बड़े लोगों को भेंट कर दी है। आजकल में वह निश्चय से सुख शान्ति को प्राप्त हो जायेगी क्योंकि वह लम्बे लम्बे साँसों से बहुत खिन्न हो रही है। [हे नायक, अब तुम] निश्चिन्त हो जाओ [क्योंकि तुम्हारी] उस नायिका ने [सभी सम्बन्धी जनों को अपने वियोगजन्य] दु:ख को बाँट दिया है।। 2।।

टि०–मरने से पहले जैसे कोई व्यक्ति अपनी सारी वस्तुओं को बाँटकर यदि हिसाब किताब चुकता कर देता है तो उसके सम्बन्धियों को उसकी मृत्यु के अनन्तर किसी प्रकार की बाहरी कठिनाई नहीं होती। वैसे ही अपनी मृत्यु के अनन्तर आप पर

अत्रोभयत्र वक्रोक्तिः काव्यजीवितं तस्या एव पुरः स्फूर्तिकत्वात्। प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति[1] न्यायात्। अतएवोक्तम्–

सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां[2] कविना कार्यः कोऽलङ्कारो ऽनया विना।।

वक्रोक्तिश्च चमत्कारकारिण्युक्तिः।

अथ काव्यविभागविशेषलक्षणमाह[3]–

जो कष्ट और जिम्मेदारियाँ आनी थीं उन सबको इस नायिका ने पहले ही और सगे सम्बन्धियों में बाँट दिया है। इस प्रकार जीते जी और मृत्यु के अनन्तर भी वह नायिका आपकी सदा हिताभिलाषिणी सिद्ध हो रही है। दूती के इस कथन से नायिका का नायक के प्रति अनुरागातिशय अभिव्यक्त हो रहा है और विप्रलम्भ शृङ्गार की परिपुष्टि हो रही है।

इन दोनों श्लोकों में काव्य की जीवनभूत (सारभूत) वक्रोक्ति [नामक सामान्य अलङ्कार] है क्योंकि यही यहाँ सामने आकर स्फुरित अर्थात् प्रकट हो रही है। [यद्यपि यहाँ वक्रोक्ति के साथ साथ वात्सल्य और विप्रलम्भ शृङ्गार इन दोनों रसों की भी स्थिति है परन्तु यहाँ प्रधानता वक्रोक्ति की है इसीलिए] प्रधानता के आधार पर ही नाम पड़ा करते हैं इस नियम से यहाँ वक्रोक्ति को ही मानना चाहिए। इसलिए कहा है–

सारे स्थानों में यह (प्रसिद्ध) वक्रोक्ति (चातुर्यपूर्ण उक्ति, अतिशयोक्ति) रहा करती है। इससे अर्थ में विभावन अर्थात् चमत्कार आ जाता है। कवि को इसमें (काव्य के भीतर इसको रखने में) प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि ऐसा कौन सा अलङ्कार है जो इसके बिना होता है?

और चमत्कार को उत्पन्न करने वाली उक्ति का नाम ही वक्रोक्ति है।

इसके बाद ग्रन्थकार ने यहाँ काव्य के (उत्तम, मध्यम और चित्र इन) भेदों के विशेष लक्षण बतलाये हैं।

1. [उत्तम काव्य का लक्षण]–जहाँ वाच्यार्थ (अभिधेयार्थ) की अपेक्षा

---

1. अ त; भवन्ति इति ज
2. ज त; स्याः अ
3. ज अ; काव्यविभागमाह त

यत्र व्यङ्ग्यचमत्कारो वाच्याधिकतरो[1] भवेत्।
ध्वनिकाव्यमिदं प्राहुः पारिभाषिकमुत्तमम्।। 5।।

यथा-

दूति! श्वासविशेष एष[2] किमहो? चण्डि! त्वरा धावनाद्
विभ्रष्टालकवल्लरी कथमहो? त्वन्नाथपादार्पणात्।
निर्मृष्टाधररागपल्लवरुचिस्त्वत्कार्यसञ्जल्पनाद्
वासस्तस्य किमङ्गसङ्गतमहो? विश्वासहेतोस्तव।। 3।।

व्यङ्ग्यार्थ का चमत्कार अधिक मात्रा में रहता है इस ध्वनिकाव्य (ध्वनिगर्भित काव्य) को विद्वान् आचार्य उत्तम काव्य इस पारिभाषिक नाम से कहते हैं।। 5।।

टि०–स्वस्वशास्त्रसिद्धः सङ्केतः पारिभाषिकः–शास्त्रविशेष में ही किसी विशेष अर्थ में प्रयुक्त शब्द पारिभाषिक कहलाता है। काव्यशास्त्र में ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य यह पारिभाषिक नाम दिया जाता है।

[उत्तम काव्य का उदाहरण] जैसे-[नायिका और दूती में प्रश्नोत्तर है] [प्रश्न] हे निर्दय दूती! यह [तुम्हारा] विशेष प्रकार का [फूला हुआ] साँस क्यों है? [उत्तर] तेज़ दौड़ने के कारण [मेरा साँस फूल गया है]। [प्रश्न] अरे यह तुम्हारी अलकलता (सुन्दर केश) कैसे खुल गई है–अस्त व्यस्त हो गई है? [उत्तर] तुम्हारे स्वामी के पैरों में [अपना सिर] रख देने से [प्रश्न] किसलय (कोंपल) की कान्ति के समान कान्ति वाली निचले ओठ की लाली कैसे पुँछ गई है? [उत्तर-नायक के साथ] तुम्हारे कार्य [सम्बन्धी] सम्भाषण के कारण [अर्थात् लगातार बहुत बार बोलते रहने से निचले ओठ की लाली ऊपर के ओठ ने पोंछ दी है]। [प्रश्न] अरी [यह उसका] कपड़ा तुम्हारे अङ्गों पर क्यों पड़ा हुआ है? [उत्तर] तुम्हारे [इस] विश्वास के लिए [कि मैं वहाँ से होकर और नायक से तुम्हारी बात कह कर लौटी हूँ यह कपड़ा निशानी के रूप में लेती आई हूँ फिर भी वह नहीं आया तो इसमें मेरा क्या दोष?।। 3।।

---

1. त; वाच्यादधिकतरो ज अ
2. ज अ; एव त

अत्र वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्येन[1]नायकस्य दूतीसम्भोगो व्यज्यते।

वाच्याधिकचमत्कारि नो व्यङ्ग्यं यत्र भासते।
तदेव मध्यमं काव्यं कविवृन्दैर्निगद्यते।।6।।

यथा–

रोलम्बो मधुपः पिकः परभृतो रन्ध्रानुसारी मरुत्
कीरो भाषितवाक्यमात्रपठन[2]प्रौढः पयोदो जडः[3]।

टि०–किसी नायिका ने अपनी दूती को अपने नायक को मनाने को भेजा था। परन्तु दूती ने अपने निर्धारित कर्त्तव्य को पूरा नहीं किया प्रत्युत वह उसके साथ सम्भोग करके लौट आई। उसके शरीर पर सम्भोगजन्य चिह्नों को देख कर उससे अपना अपराध स्वीकार कराने के लिए नायिका अनेक प्रश्न करती है। परन्तु ये सारे चिह्न तुम्हारे कार्य को सिद्ध करने के लिए किये गये प्रयत्न के कारण ही हैं सम्भोगजन्य नहीं है, यह बात चालाक दूती अपने उत्तरों से सूचित कर रही है। वैसे तो नायिका के इन प्रश्नों से दूती समझ चुकी है कि इसने मेरे चौर्यरत को जान लिया है। परन्तु फिर भी वह धूर्ततावश इस प्रकार के उत्तर देते हुए अपने अपराध को स्वीकार नहीं कर रही है। नायिका भी इस बात को अच्छी तरह समझ रही है फिर भी वह पूछती ही जाती है। अन्त में उसे दूती ने अपने उत्तरों से निरुत्तर कर दिया है।

यहाँ वक्त्री, बोद्ध्री और प्रकरणादि की विशिष्टता से नायक के द्वारा दूती के साथ [किये गये] सम्भोग की व्यञ्जना से प्रतीति हो रही है।

2. [मध्यम काव्य का लक्षण]–जहाँ पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कार युक्त नहीं प्रतीत होता है विद्वज्जनों ने उसी को मध्यम काव्य कहा है।।6।।

इसका उदाहरण जैसे–भौंरा मधुरस (मकरन्द) को पीने वाला है, कोयल दूसरों से अर्थात् कौओं से पाली जाती है और हवा छेदों में घुसने वाली वस्तु है। तोता केवल [पहले से] बोले हुए वाक्य को पढ़ने में ही निष्णात होता है, मेघ जलमय अर्थात् जलस्वरूप है और हंस सदैव पंखों को [फैलाकर] गिराने में तत्पर रहता है अर्थात् पंखों के द्वारा उड़ता बैठता है।

---

1. ज अ; वैशिष्ट्ये त
2. ज त,....पठनः अ
3. ज त; जनः अ

हंसः सन्ततपक्षपातनिरतस्तस्मादवस्थामिमा-
मुत्काहं प्रहिणोमि केन कठिनस्वान्ताय कान्ताय मे ।। 4 ।।

इस कारण [अपने प्रेमी से मिलने के लिए] उत्कण्ठित मैं अपनी इस [दयनीय एवं विषम] दशा को बता देने के लिए किस दूत के हाथ कठिन चित्त वाले अपने प्रेमी नायक के पास [अपना सन्देश] भेजूँ? [यहाँ उत्काहं प्रहिणोमि केन के स्थान पर 'कं वाहं प्रहिणोमि हन्त' यह पाठ सङ्गत प्रतीत होता है। तब यह अर्थ हो जायेगा कि इन में से किस को मैं इस दशा को बतलाने के लिए कठोर नायक के पास भेजूँ?] ।। 4 ।।

टि०–यहाँ रोलम्ब और मधुप, पिक और परभृत इन पर्यायवाची शब्दों को रखा हुआ है और मरुत्, कीर आदि पदों के साथ प्रयुक्त विशेषण भी उन उन प्राणियों और वस्तुओं के विशेष धर्मों को बता रहे हैं। इन पदों और विशेषणों से ज्ञात वाच्यार्थ तब तक सङ्गत नहीं होता जब तक इन्हीं पदों से सूचित होने वाला व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ को सिद्ध नहीं करता। भौंरे का मधुपायी होना, कोयल का दूसरों से पाला जाना, वायु का छेदों में घुसना, तोते का केवल पहले से रटी हुई बात को ही कहना, मेघ का जल रूप होना तथा हंस का पंखों की सहायता से उड़ना–अभिधा से प्रतीत होने वाले ये सारे अर्थ नायिका की उपयुक्त दूत न मिलने की विवशता को प्रकट करने वाले 'केन प्रहिणोमि उत्काहं' इस मुख्य वाच्यार्थ के साथ सङ्गत नहीं हो रहे हैं। परन्तु जब मधुप परभृत आदि पदों में निहित व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है तो वाच्यार्थ की सङ्गति हो जाती है। व्यञ्जना शक्ति से यहाँ मधुप शब्द से मधुपान करने वाला शराबी और परभृत शब्द से दूसरों के टुकड़ों पर पलने वाला इस अर्थ की प्रतीति हो रही है। नायिका का अभिप्राय है कि जैसे शराबी अनर्गल प्रलाप करता है और उसका विश्वास नहीं किया जा सकता उसी प्रकार इस शराबी भौंरे पर मुझे विश्वास नहीं है। दूसरों के घरों में पले हुए व्यक्ति का जैसे उत्तम तथा दृढ़ चरित्र नहीं होता उसी प्रकार दूसरों से पाली गई इस कोयल का भी मुझे भरोसा नहीं। रन्ध्रानुसारी शब्द का व्यञ्जना से दोषान्वेषी अर्थ प्रतीत हो रहा है वायु में भी इस परदोषदर्शन का दुर्गुण होने से दूत बनने की क्षमता नहीं है वह नायक के यहाँ पहुँचकर उसके ही किसी दुर्गुण के विषय में यदि बुरा भला कहने लगेगा तो वह अपने वास्तविक कार्य को भूल जायेगा। तोते के साथ 'भाषितवाक्यमात्रपठनः' पद का व्यङ्ग्यार्थ है कि इसमें केवल रटी हुई मेरी

अत्र मधुपादिपदोपस्थापितव्यङ्ग्योपस्थितिं विना वाक्यार्थाबोधाद् वाच्यसिद्ध्यङ्ग-गुणीभूतव्यङ्ग्यमेवैतत्।

अलङ्कारकृतानन्दसन्दोहो यत्र जायते।
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विधा तत्परिकीर्तितम्।।7।।

तत्र शब्दालङ्कारचमत्कारि यथा–

न्यक्कारा: कैरवाणामखिलकमलिनीकाननानन्दपूरा:
सायं धीराभिसारागतकमलमुखीप्रौढतापानुकारा:।

बातों को ज्यों का त्यों कह देने की क्षमता तो है परन्तु अपनी मौलिक सूझ बूझ या प्रतिभा नहीं है। इस कारण यह नायक को अपनी ओर से युक्तियाँ देकर मेरा पक्ष पुष्ट नहीं कर सकता। बादल के विशेषण 'जड' से सूचित हो रहा है कि मेघ बुद्धिविहीन है। मूर्ख व्यक्ति को कहीं भी भेजने का कोई लाभ नहीं होता। हंस के सन्ततपक्षपात विशेषण का सदैव पक्षपाती पहले से एक धारणा बनाकर उसके अनुसार ही सोचने वाला यह व्यङ्ग्यार्थ है। पक्षपात की भावना से दूषित व्यक्ति किसी एक के भले की बात तो सोच सकता है परन्तु दोनों का भला नहीं कर सकता। इस प्रकार यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की सहायता के बिना वाच्यार्थ सङ्गत नहीं हो रहा है।

यहाँ मधुप आदि शब्दों से उपस्थित किये गये व्यङ्ग्यार्थ की उपस्थिति के बिना वाक्यार्थ का ज्ञान न होने से यह वाच्यसिद्ध्यङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य ही है। [और इस प्रकार का गुणीभूतव्यङ्ग्य मध्यम काव्य हुआ करता है]।

3. [चित्रकाव्य का लक्षण]–जहाँ अलङ्कारों से होने वाला आनन्दसमूह उत्पन्न होता है वह चित्रकाव्य है। शब्द और अर्थ सम्बन्धी दो भेदों के कारण यह दो प्रकार का कहा गया है। [इस प्रकार इसके शब्दचित्र और अर्थचित्र नामक दो भेद हैं]।।7।।

1. शब्दालङ्कार के चमत्कार से युक्त चित्रकाव्य [का उदाहरण] जैसे–[प्रात:कालीन सूर्य के] पहले पहले आविर्भाव के समय कुमुदों का तिरस्कार करनेवाली, कमलिनियों के समस्त वन के लिए आनन्द का प्रवाह बनी हुई, सायङ्काल में उत्साहवती धीरा (दृढचित्ता) एवं अभिसरण के लिए आई कमल के समान सुन्दर मुखवाली [विरहिणी] नायिका के

ध्वान्ताराातिप्रहाराः प्रथमसमुदये सान्ध्यधाराधराभा-
स्तारा नाराचधारास्रवविभवकरास्ते कराः सन्तु सौराः।। 5।।

अत्र शब्दपरिवृत्तौ नालङ्कारः।

अर्थालङ्कारचमत्कारि[1] यथा-

दुर्वारारातिराजीवनदवदहनः कौङ्कुमो दिग्वधूनां
सर्वाङ्गीणोऽङ्गरागस्त्रिभुवनभवनध्वान्तविध्वंसदीपः।
त्वद्दोरुद्दामदर्वीकरमुखहुतभुग्भूतधात्रीपुरन्ध्र्या
वासो माञ्जिष्ठमुर्वीरमणकुलमणे जागरीति प्रतापः।। 6।।

अत्यन्त बढ़े हुए सन्ताप का अनुसरण करने वाली अर्थात् वियोगिनी नायिका के मदनानल के ताप के सदृश गरम गरम, अन्धकाररूपी शत्रु पर आक्रमण करने वाली, सन्ध्याकालीन बादल के समान [लाल रंग की] शोभा वाली, लम्बी लम्बी, सूर्य की किरणें आपके लिए बाण की धाराओं के प्रवाह के समान [प्रचुर मात्रा में] वैभव को करनेवाली होवें।। 5।।

टि०—यहाँ सूर्योदय का वर्णन किया है। इस श्लोक में न्, क्, र्, न्, स्, त् आदि वर्णों तथा कर इस वर्णसमूह की अनेक बार आवृत्ति हुई हुई है। इस कारण यहाँ वृत्त्यनुप्रास नामक शब्दालङ्कार है।

यहाँ शब्द परिवर्तन होने पर [इन कैरव, कमलिनी, कानन आदि पदों के स्थान पर इनके पर्यायवाची अन्य शब्दों को रख देने पर ककारादि वर्णों के अभाव में यह] अलङ्कार नहीं रहेगा।

1. अर्थालङ्कार के चमत्कार से युक्त काव्य [का उदाहरण] जैसे- पृथिवीपतियों के कुल में मूर्धन्य हे राजन्! दुर्धर्ष शत्रुसमूह रूपी वन के लिए दावानल रूप, दिशा रूपी नायिकाओं के समस्त अङ्गों को व्याप्त करनेवाले केसर से बना अङ्गराग (अङ्गों में मले जानेवाला लेप) रूप, त्रिलोकरूपी भवन के अन्धकार को नष्ट करने वाला दीपक रूप, भयङ्कर काले नाग के मुख में विद्यमान अग्नि ज्वाला स्वरूप और प्राणियों को धारण करनेवाली पृथिवी रूपी नायिका का मंजीठे के रस से रंगा हुआ लाल वस्त्र रूप आपकी भुजा का यह प्रताप मानो [सारे संसार में] जाग सा रहा है।। 6।।

---

1. ज त; अर्थालङ्कारचमत्कारि अ

अत्र चोत्प्रेक्षा चमत्कारकारिणी। अत्रोभयत्र सूर्यराजविषयकभावसत्त्वेऽप्य[1] नुप्रासोत्प्रेक्षे चमत्कारहेतू। वस्तुतस्तु अनुचितोऽयं ध्वनित्वादिना विभागः। तथाहि एतेषु त्रिषु रसादिकं न प्रतीयते प्रतीयते वा। नाद्यः तदा काव्यत्वविरहापत्तेः।[2] अथ प्रतीयते तदा कथं ध्वनित्वादिना विभागः।

और यहाँ [इस दूसरे श्लोक में प्रतीयमाना क्रियासम्बन्धी] उत्प्रेक्षा चमत्कार को उत्पन्न करने वाली है एवं यहाँ इन दोनों श्लोकों में [क्रमशः कविनिष्ठ] सूर्यविषयक तथा राजविषयक भाव (ध्वनि) होने पर भी अनुप्रास और उत्प्रेक्षा अलङ्कार ही चमत्कार के कारण हैं [अतः यहाँ इन दोनों अलकारों की ही प्रधानता स्वीकार करनी चाहिए]।

टि०—उत्प्रेक्षा अलङ्कार वहाँ होता है जहाँ उपमेय में उपमान की सम्भावना अर्थात् उत्कटैककोटिक संशय पाया जाय। उपर्युक्त श्लोक के प्रतापः जागरीति इस वाक्यांश में उत्प्रेक्षा अलङ्कार है क्योंकि यहाँ पर अचेतन प्रताप की व्यापन क्रिया के भीतर चेतन व्यक्ति की जागरण क्रिया की सम्भावना की गई है अतः यहाँ क्रियोत्प्रेक्षा है। उत्प्रेक्षा के वाचक इवादि पद नहीं होने के कारण यह प्रतीयमाना है। यहाँ प्रताप रूप एक उपमेय के ऊपर दवदहन आदि अनेक उपमानों का आरोप किया गया है और श्लेषाभाव है अतः यहाँ अश्लिष्टशब्दनिबन्धनमालारूपक है। साथ ही यहाँ अरातिराजी में वन का आरोप प्रताप में दवदहन के आरोप में निमित्त है। अतः यहाँ अश्लिष्टशब्दनिबन्धनमालापरम्परित रूपक है। यह रूपक उत्प्रेक्षा को पुष्ट कर रहा है इस कारण यहाँ रूपकानुप्राणित उत्प्रेक्षा है।

वास्तव में तो ध्वनित्वादि के रूप में [काव्य का] यह विभाग (वर्गीकरण) ठीक नहीं है अर्थात् काव्य के ध्वनि नामक उत्तमकाव्य तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य नाम के मध्यमकाव्य एवं चित्रकाव्य (अवरकाव्य) इस रूप में भेद नहीं करने चाहिए और [यह विभाग इसलिए मानना ठीक नहीं है, बताइए] इन तीनों में रस, रसाभास, भाव, भावाभासादि की प्रतीति नहीं होती है अथवा होती है? [इनमें से] पहला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि [यदि रस की प्रतीति न हो तो] काव्यत्वाभाव की प्राप्ति माननी पड़ेगी अर्थात् काव्य के ये तीनों ही भेद काव्य नहीं कहे जा सकेंगे क्योंकि रसध्वनि होने पर ही काव्य को काव्य कहा जा सकता है। और [यदि दूसरे विकल्प के

1. ज अ; सत्त्वेऽपि अनुप्रासो त
2. अ त; काव्यविरहापत्तेः अ

न च मध्यमे आन्तरालिकव्यङ्ग्यस्याप्राधान्याद् विभाग इति वाच्यम्, आन्तरालिकव्यङ्ग्यस्याप्राधान्येऽपि तस्याकिञ्चित्करत्वेन पार्यन्तिकचमत्कारापेक्षया सर्वेषां ध्वनित्वसम्भवात्[1]। अथ चित्रे गुणालङ्काराहितचमत्कारेण रसस्तिरोधीयत इति चेत्, न अनवबोधात्। तिरोधानं रसप्रतिबन्धो विलम्बेन प्रतिपत्ति र्वा। नाद्यः, तदा काव्यत्वविरहापत्तेः। नान्त्यः, गुणालङ्कारा हि रसोद्बोधकास्तथा च तज्ज्ञाने[2] तदाहितचमत्कारानन्तरं रसोद्बोधो युज्यत एवेति कथं नु ध्वनित्वम्?

अनुसार] रस की प्रतीति होती है [ऐसा माना जाय तो रस तीनों स्थलों में एक जैसा है उसका] ध्वनि (उत्तम) काव्य आदि के रूप में वर्गीकरण क्यों किया जाय? [रस तो पूर्ण घनानन्द स्वरूप है अतः उसके घटिया बढ़िया अथवा थोड़ा या अधिक इस रूप में भेद नहीं हो सकते]।

और मध्यम काव्य में उसके अन्दर स्थित व्यङ्ग्यार्थ की अप्रधानता के कारण यह विभाग है अर्थात् उसमें व्यङ्ग्यार्थ की गौणता होती है इसीलिए उसे ध्वनि (उत्तम) न कहकर मध्यम कहा जाता है ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि [मध्यम काव्य के] मध्य में आये व्यङ्ग्यार्थ की [वहाँ] अप्रधानता होने पर भी अन्तिम चमत्कार की दृष्टि से उस व्यङ्ग्यार्थ की वह अप्रधानता वहाँ बिलकुल मामूली रूप में (नगण्य) होती है अर्थात् गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य में भी अन्त में चमत्कार ही दृष्टिगत होता है उस समय इस बात की ओर ध्यान ही नहीं जाता कि यहाँ व्यङ्ग्यार्थ गौण है या प्रधान है। [इस प्रकार चाहे व्यङ्ग्यार्थ गौण हो या प्रधान हो] सबका ही ध्वनि नाम रख देना सम्भव है [अतः काव्य के ध्वनि और मध्यम ये नाम देने ठीक नहीं हैं]

और यदि [पूर्वपक्षी की ओर से] चित्रकाव्य में गुणों और अलङ्कारों के द्वारा स्थापित चमत्कार से रस का तिरोधान हो जाता है ऐसा कहा जाय तो वह भी ठीक नहीं है क्योंकि [गुण और अलङ्कार से उत्पन्न चमत्कार के होने पर रस का तिरोधान होता है] ऐसा ज्ञान नहीं होता है [प्रत्युत गुण और अलङ्कार तो रसोद्बोधक अथवा रसोत्कर्षक होते हैं] यहाँ [पूर्वपक्षी द्वारा कहे गये] तिरोधान का अभिप्राय रस को रोक लेना है अथवा विलम्ब से रस की प्रतीति होना है इनमें से पहला अर्थ ठीक नहीं

---

1. ज, अ; ध्वनित्वप्रसङ्गात् त
2. त; तज्ज्ञानतदा० ज अ

किञ्च गुणालङ्काराणां रसादिबोधप्रतिबन्धकत्वे–

अक्लिष्टबालतरुपल्लवलोभनीयं
पीतं मया सभयमेव रतोत्सवेषु।
बिम्बाधरं स्पृशसि चेद् भ्रमर प्रियाया-
स्त्वां कारयामि कमलोदरबन्धनस्थम्।। 7।।

है क्योंकि [इसे मानने पर रस की प्रतीति के रुक जाने पर] काव्यत्वाभाव की प्राप्ति होगी [इस प्रकार यदि गुण और अलङ्कार से उत्पन्न चमत्कार को रस का प्रतिबन्धक माना जाय तो जहाँ इन दोनों की स्थिति होगी वहाँ रस की प्रतीति नहीं होनी चाहिए परन्तु अनुभव यह बताता है कि ऐसे स्थलों में भी रस की प्रतीति होती है] दूसरा अर्थ भी ठीक नहीं है अर्थात् गुणालङ्कारों के चमत्कार के कारण रस की प्रतीति विलम्ब से होती है यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि गुणालङ्कार तो रस के ही उद्बोधक होते हैं और इन दोनों [गुणालङ्कारों] के ज्ञान होने पर एवं तज्जन्य चमत्कार के अनन्तर (तत्काल या एकदम बाद ही) रस की प्रतीति होती है ऐसा ठीक ही है इसलिए गुणालङ्कारों से समन्वित काव्य को ध्वनि काव्य क्यों न कहा जाय?

और यदि गुण और अलङ्कारों से उत्पन्न चमत्कार को रस का प्रतिबन्धक माना जाता तो ऐसा होने पर अक्लिष्ट० इत्यादि और अजनि इत्यादि इन दोनों रसध्वनि के उदाहरणों में गुण और अलङ्कारों को गूंथकर (सजाकर) रखने का प्रयास कालिदासादि महाकवियों की ओर से नहीं होता। [इससे यह सिद्ध होता है कि गुण और अलङ्कार का चमत्कार रसोत्कर्ष को बढ़ाता ही है तिरोहित नहीं करता।

हे भ्रमर! छोटे वृक्ष के [ताज़े और विकसित होने के कारण] न कुम्हलाये हुए नवीन पत्ते (कोंपल) के समान सुन्दर और लुभावने तथा सुरत के हर्षदायक अवसरों में भयपूर्वक ही अर्थात् बिना कष्ट पहुँचाये धीरे धीरे पिये गये एवं बिम्बफल के समान लाल मेरी प्रिया के अधर का यदि तुम स्पर्श करोगे तो मैं तुम्हें कमल के मध्य में स्थित बंधा कैदी बना दूँगा।।7।।

टि०–अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक (षष्ठ अङ्क, श्लोक सं० 20) में शकुन्तला के ऊपर मंडराने वाले भ्रमर के प्रति दुष्यन्त की यह उक्ति है। यहाँ शृङ्गाररसोचित प्रसाद और माधुर्य गुणोपेत वर्णरचना है और ल्, व्, त् आदि वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है, तरुपल्लवलोभनीयम् और बिम्बाधरम् में उपमालङ्कार है।

अजनि प्रतिदिनमेषा कर्दमशेषा मदङ्गसङ्गेन।
प्रतिनिशमपूरि यया मदक्षिसम्पातिभिः सलिलैः।।8।।

इत्यादिरसध्वनौ तद्ग्रथनप्रयासो न स्यान्महाकवीनाम्। ननु तर्हि स्वच्छन्देत्यादावुत्तमत्वापत्तिः[1]।

[विरहाग्नि से सन्तप्त] मेरे अङ्गों के सङ्ग से यह [वही] नदी प्रतिदिन [सूखकर] कीचड़ मात्र शेष रह जाती है जो प्रत्येक रात को मेरे नेत्रों से गिरने वाले अश्रुजलों से भर जाया करती है।।8।।

टि०–यहाँ किसी विरही नायक अथवा किसी विरहिणी नायिका के द्वारा किसी के सामने अपनी दुर्दशा को प्रकट किया गया है। इस उक्ति में विरहाग्नि से झुलसे अङ्गों का नदीजल को सुखाने की क्रिया के साथ और अश्रुजलों का नदीप्रवाह को भरने की क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं है परन्तु यहाँ पर असम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध बताया गया है इसलिए यहाँ असम्बन्धातिशयोक्ति है। विप्रलम्भ शृङ्गार के अनुरूप यहाँ कोमलकान्त पदावली होने से माधुर्य गुण एवं अर्थवैमल्य होने से प्रसादगुण है।

उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में गुणों और अलङ्कारों से उत्पन्न चमत्कार के कारण संयोग और विप्रलम्भ शृङ्गार की प्रतीति में किसी प्रकार की बाधा नहीं हो रही है प्रत्युत इन दोनों के रखने से उत्पन्न चमत्कार से शृङ्गार रस की परापुष्टि की गई है।

[यदि गुण और अलङ्कारों से उत्पन्न चमत्कार होने पर ही इन पद्यों को उत्तम काव्य के नाम की प्राप्ति होगी यदि ऐसा माना जाय] तो फिर 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ०' इत्यादि श्लोकों को भी उत्तम काव्य का उदाहरण मानना पड़ेगा।

टि०–स्वच्छन्द० इत्यादि श्लोक काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में इस प्रकार दिया हुआ है–

स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटा–
मूर्च्छन्मोहमहर्षिहर्षविहितस्नानाह्निकाह्नाय वः।

---

1. अ त; वुत्तमस्यापत्तिः ज

तत्रानुप्रासानामसमीचीनत्वेन तथाविधगङ्गाविषयकभावोत्कर्षाप्रतीतेरनुत्तमत्वम्। अतएव महिमभट्टानामस्मिन् पक्ष एव पक्षपातः।

इति श्रीसाहित्यसुधासिन्धौ प्रथमस्तरङ्गः।

भिद्यादुद्यदुदारदर्दुरदरीदीर्घादरिद्रद्रुम-
द्रोहोद्रेकमहोर्मिमेदुरमदा मन्दाकिनी मन्दताम्।।

काव्यप्रकाश 1, 4

उस श्लोक में च्छ्, द्, क् आदि वर्णों की अनेक बार आवृत्ति होने से वहाँ बहुत बार वृत्त्यनुप्रास है।

[उपर्युक्त शङ्का का निराकरण इस प्रकार है] वहाँ पर अनेक अनुप्रासों की अनौचिती के कारण अर्थात् अनुप्रासों की प्रबल रूप में प्रतीति होने से उस प्रकार के [प्रधान रूप से प्रतीति के योग्य] गङ्गाविषयककविनिष्ठरतिभाव के उत्कर्ष की प्रतीति न होने से अनुत्तमत्व (अवर काव्यत्व) प्राप्त होता है। इसीलिए आचार्य महिमभट्ट ने भी इसी पक्ष में अपने मत का प्रतिपादन किया है।

टि०—यहाँ कवि की प्रतिभा का उट्टङ्कन अनुप्रास तक ही सीमित हो रहा है और रतिभाव (भक्तिभाव) को कवि की प्रतिभा पुष्ट नहीं कर रही है इसलिए यहाँ उत्तम काव्य नहीं है। आचार्य महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक में लिखा है—

किञ्च सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेः न त्वलङ्कारनिष्पत्तये। न चालङ्कारनिष्पत्त्यै रसबन्धोद्यतः कविः।। व्यक्तिविवेक 2.75

उनके अनुसार काव्य के घटक तत्त्व में सौन्दर्य (चमत्कार) को बढ़ाने के लिए ही कवि का प्रयत्न होता है न कि अलङ्कारों का स्वरूप वर्णन करने के लिए और रसान्वित काव्यनिर्माण में तत्पर कवि अलङ्कारनिरूपण में प्रयत्न नहीं करता है। इसलिए जो अलङ्कार काव्यगत रसादि के सौन्दर्य के अनुकूल होते हैं वे ही वास्तव में अलङ्कार कहलाते हैं। क्योंकि अनुप्रास और यमक तो शृङ्गारादि मधुर रसों के सर्वथा विरुद्ध होते हैं इसलिए इनकी बहुलता में रस सर्वथा दब जाता है। इन कोमल रसों को अभिव्यक्त करने के लिए ये अनुप्रासादि अलङ्कार अक्षम होते हैं। अतः इनका इन रसों में परित्याग करना चाहिए।

इस प्रकार श्रीसाहित्यसुधासिन्धु में प्रथम तरङ्ग समाप्त हुई।

—•—

द्वितीयस्तरङ्गः

शब्दः काव्यमित्यभिहिते कोऽसौ शब्द इत्याकाङ्क्षायामाह–

आकाङ्क्षायोग्यतायुक्तस्तात्पर्यादिसमन्वितः ।
शाब्दानुभवकारी यः स शब्दः परिकीर्तितः।।8।।
वाचको लक्षणायुक्तो व्यञ्जकश्चेति स त्रिधा।
वाच्यो लक्ष्यस्तथा व्यङ्ग्यस्तदर्थः कथितो बुधैः।।9।।

शब्द काव्य होता है यह बतला दिये जाने पर वह शब्द क्या है? यह जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार कहते हैं–

टि०– जायते परमानन्दो ब्रह्मानन्दसहोदरः।
यस्य श्रवणमात्रेण तद् वाक्यं काव्यमुच्यते।। (साहित्यसुधासि० 1,5)

इस काव्यलक्षण को देने के अनन्तर यहाँ कही गई 'शब्दः काव्यम्' इस उक्ति से यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार शब्द का प्रयोग वाक्य के लिए कर रहे हैं।

आकाङ्क्षा और योग्यता से युक्त तात्पर्य एवं आसत्ति आदि से समन्वित शब्दजन्य ज्ञान की जो अनुभूति कराता है वह शब्द कहलाता है।।8।।

टि०–इस लक्षण के अनुसार शब्द के भीतर निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहिए–1. आकाङ्क्षा–वाक्यस्थित शब्द का दूसरे शब्दों के साथ मेल आकाङ्क्षा कहलाता है। 2. योग्यता–वाक्यस्थित पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में बाधा का न होना योग्यता कहा जाता है। 3. तात्पर्य–अभिधा से पदों के पृथक् पृथक् अर्थ का बोध होने पर तात्पर्य शक्ति से वाक्यस्थ सभी शब्दों में जो परस्पर सम्बन्ध (अन्वय) हो जाता है वही तात्पर्य कहलाता है। 5. आसत्ति–वाक्यस्थ पदों में देशकृत और कालकृत जो सन्निधि (सामीप्य) है वह आसत्ति होती है। यहाँ ग्रन्थकार ने जो ये विशेषतायें शब्द की बताई हैं मम्मट और विश्वनाथादि आचार्यों ने इन विशेषताओं को वाक्य से भी सम्बन्धित बताया है। इन्होंने पद और वाक्य दोनों अर्थों में शब्द का प्रयोग किया है।

वाचक, लक्षणा से युक्त अर्थात् लक्षक और व्यञ्जक इस रूप में शब्द तीन

त्रिधेति–अत्रोपाधीनामेव त्रित्वं न तु उपाधेयस्य अन्यथा एकस्यैव गङ्गाशब्दस्य त्रिरूपत्वानुपपत्तेः।

व्यापारश्चाभिधा तत्र लक्षणा व्यञ्जना क्रमात्।
तात्पर्यवृत्तिं तदर्थं स्वीकुर्वन्त्यत्र केचन।।10।।[1]

तत्रादौ वाचकमाह–

अभिधाव्यापृतिर्यत्र वाच्यार्थप्रतिपत्तिकृत्।
शब्दः स वाचकः प्रोक्तः सर्वशास्त्रविशारदैः।। 11।।

प्रकार का होता है और बुद्धिमानों ने [उस शब्द का] अर्थ वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य के रूप में बताया है।। 9।।

यह जो शब्द को तीन प्रकार का बताया है इस स्थल पर यहाँ उपाधियों की ही तीन संख्या बताई है उपाधेय(शब्द) की नहीं। यदि उपाधेय(शब्द) की तीन संख्या मानें तो एक ही गङ्गा शब्द तीन तो बन नहीं सकता।

टि०–जब गङ्गा शब्द में अभिधा व्यापार रूप उपाधि आती है तो वह प्रवाह रूप वाच्यार्थ को बता देता है तब वाचक कहलाता है, जब वह लक्षणा व्यापार से तट रूप लक्ष्यार्थ को बताता है तो उसका लक्षक नाम पड़ जाता है और जब उसमें व्यञ्जना-व्यापार रूप उपाधि आती है तो वह शैत्यपावनत्व रूप व्यङ्ग्यार्थ को बता देता है तब वह व्यञ्जक कहा जाता है। इस प्रकार तीनों अर्थों को बताने वाला शब्द वास्तव में एक ही है उसके उपाधिभेद (व्यापार भेद) के कारण तीन रूप दिखाई देने लगते हैं।

'गङ्गायां स्नाति' जैसे प्रयोगों में गङ्गा शब्द का जलप्रवाह रूप एक ही अर्थ है परन्तु 'गङ्गायां घोषः' जैसे वाक्यों में एक ही गङ्गा शब्द के तीन अर्थ हैं। यहाँ तीन शब्दों के तीन अर्थ न माने जाकर एक ही गङ्गा शब्द माना जाता है और उसीके अन्दर तीन व्यापारों के आ जाने से तीन अर्थ हो जाते हैं। जैसे एक नट तीन प्रकार के वस्त्र धारण करने से तीन रूपों वाला हो जाता है वही स्थिति शब्द की भी हो जाती है।

उस (शाब्दबोध) में क्रमशः अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक व्यापार होता है। (कुमारिल एवं उसके अभिहितान्वयवाद को मानने वाले) कुछ विद्वान् इसमें तात्पर्यवृत्ति और तात्पर्यार्थ को मानते हैं।। 10।।

[शब्द के] इन [भेदों] में से सबसे पहले वाचक [के स्वरूप] को कहते हैं–वाच्यार्थ का बोध कराने वाला अभिधा व्यापार जिसमें होता है सारे शास्त्रों में निष्णात विद्वानों ने ऐसे शब्द को वाचक बताया है।। 11।।

---

1. द्वितीय पङ्क्ति परिवर्धित, ज अ त में नहीं

आनन्त्यव्यभिचाराभ्यां जातावेवाभिधा मता।
ईश्वरेच्छातिरिक्ता वा सेत्यत्रापि न नो ग्रहः।। 12।।

आनन्त्य और व्यभिचार दोष आने के कारण जाति में ही अभिधा मानी गई है अर्थात् जाति में ही सङ्केतग्रह होता है। वह अभिधा ईश्वरेच्छा है अथवा [ईश्वरेच्छा से] अतिरिक्त है इस सम्बन्ध में भी हमारा कोई आग्रह नहीं है [ऐसा मानने में हमारी ओर से कोई आपत्ति नहीं है और हमें दोनों ही मत स्वीकार्य हैं]।। 12।।

टि०—यद्यपि 'गामानय' जैसे वाक्यों से दुग्धप्राप्ति, आनयनादि सकल क्रियायें व्यक्ति में ही निष्पन्न होती हैं इसलिए व्यक्ति में ही सङ्केत का मानना आपाततः उचित लगता है परन्तु ऐसा मानने पर आनन्त्य, असम्भव एवं व्यभिचार यह तीन दोष आते हैं इसलिए व्यक्ति में सङ्केत न मानकर जाति में सङ्केत माना जाता है। यहाँ यदि गोव्यक्ति में सङ्केतग्रह माना जाय तो दो विकल्प हो सकते हैं–

1. क्या गोपद का सम्पूर्ण गोव्यक्तियों में पृथक् पृथक् संकेत है अथवा एक ही व्यक्ति में यह संकेत होता है? पहले पक्ष में आनन्त्य एवं असम्भव दोष आता है दूसरे में व्यभिचार आता है।

1. आनन्त्य दोष–यदि एक पद का सम्पूर्ण व्यक्तियों में पृथक् पृथक् संकेतग्रह माना जाय तो व्यक्तियों के अनन्त होने पर शक्तियाँ भी अनन्त होंगी। जिस शब्द का जिस अर्थ में संकेत का ग्रहण होता है उस शब्द से उसी अर्थ की प्रतीति होती है उससे भिन्न की नहीं। उदाहरणार्थ–अयं गौः' यह पद एक समय में एक ही पुरोदृश्यमान 'सास्नालाङ्गूलविषाणादिमान्' इस पिण्डविशेष को बतलायेगा। इस में एक ही गोपद से प्रतीत होनेवाली अनन्त गोव्यक्तियों में पृथक् पृथक् अनन्त शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी इस प्रकार यहाँ आनन्त्य दोष आ जाता है।

2. असम्भव दोष–उपर्युक्त दोष के अतिरिक्त इस पक्ष में असम्भव दोष भी आता है। यदि सभी व्यक्तियों में एक ही सङ्केत स्वीकार किया जाय तो एक ही समय में अतीतानागतवर्तमान सभी व्यक्तियों का एकत्र उपस्थान होना असम्भव होने से असम्भव दोष आयेगा। इसलिए उपर्युक्त दोनों दोषों से बचने के लिए व्यक्ति में सङ्केत नहीं मानना चाहिए।

3. व्यभिचार दोष–इन आनन्त्य और असम्भव दोषों से बचने के लिए यदि कहा जाय कि किसी एक ही गोव्यक्ति में गोपद का सङ्केतग्रह हो जाता है अन्य सब व्यक्तियों में अलग अलग शक्तिग्रह की आवश्यकता नहीं होती है। एकबार के

उच्चारित गोपद से पुरोदृश्यमान गोपिण्ड का ज्ञान करा देने से पहला ज्ञान पक्का हो जाता है इस प्रकार पहले पहले तीन चार बार तो किसी वस्तु का अर्थ बताने के लिए सङ्केतग्रह की आवश्यकता होती है। परन्तु उसके बाद बिना सङ्केत के ही अर्थ की प्रतीति हो जाती है। बार बार देखने के बाद गौ शब्द का अर्थ गोपिण्ड है यह अभ्यासवश पता चल जाता है। परन्तु यदि बिना सङ्केत के ही पाँचवे गोशब्द का अर्थ गो व्यक्ति में गृहीत हो जाता है ऐसा मान लिया जाये तो गोशब्द का अर्थ अश्व भी हो जाना चाहिए इससे तो व्यभिचार अर्थात् अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी। व्यभिचार के दो अर्थ होते हैं–1.कारणमन्तरा कार्योत्पत्तिः व्यभिचारः–इस स्थल पर सङ्केतग्रह रूप कारण के बिना ही शाब्दबोध रूप कार्य की उत्पत्ति माननी पड़ जायेगी। और 2. व्यभिचार का दूसरा अर्थ है नियम का उल्लंघन। आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास की कारिका 7 वृत्ति में बताया हुआ है–

'इह सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति यस्य यत्राव्यवधानेन सङ्केतो गृह्यते स तस्य वाचकः। अब यदि यह मान लिया जाय कि गोशब्द से बहुत सी गोव्यक्तियों का बोध बिना सङ्केतग्रह के होता है तो उपर्युक्त नियम का उल्लंघन होता है इसलिए व्यभिचारदोष आ जाता है।

इसलिए इन तीनों दोषों से बचने के लिए व्यक्ति में सङ्केत न मानकर जाति में सङ्केत मानना चाहिए।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि जाति में ही सङ्केतग्रह माना जाय तो व्यक्ति का भान किस प्रकार होगा? इस विषय में आचार्य मम्मट ने कहा है कि 'व्यक्त्यविनाभावित्वात् जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते'–व्यक्ति और जाति में अविनाभावसम्बन्ध होने से जाति से व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है। नियम यह है–'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यते' जिसके बिना जो नहीं रह सकता उससे उसका आक्षेप हो जाता है। जाति व्यक्ति के बिना नहीं रह सकती इसलिए जाति से व्यक्ति का अपने आप अनुमान हो जाता है।

न्यायमुक्तावली के शब्दखण्ड की 81 वीं कारिका के वृत्तिभाग में सङ्केतग्रह के विषय में यह लिखा हुआ है।–'शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः। स चास्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरेच्छारूपः। आधुनिके नाम्नि शक्तिरस्त्येव एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यादितीश्वरेच्छायाः सत्त्वात्। आधुनिके तु सङ्केते न शक्तिरिति सम्प्रदायः। नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्तिः किन्त्विच्छैव तेनाधुनिकसङ्केतेऽपि

यत्र वाकाशादिपदेनानन्त्यव्यभिचारस्तत्र सा व्यक्तावपीति नानुपपत्तिः।

शक्तिरस्त्येवेत्याहुः।' इसका तात्पर्य इस प्रकार है- पद के साथ पदार्थ का सम्बन्ध शक्ति (अभिधा) कहलाता है और वह इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिए इस रूप में होता है। सभी पदार्थों के अर्थ परमात्मा की ओर से निर्धारित किये जाते हैं। जैसे घट का अर्थ कम्बुग्रीवादिमान् है और समुद्र का अर्थ जलपुञ्ज। वैदिक नामों में भी परमात्मा ने इन्द्र आदि शब्दों का देवताविशेषादि अर्थ बताया है। यहाँ एक शङ्का हो सकती है कि वैदिक नामों में तो ईश्वरेच्छा मानी जा सकती है क्योंकि वहाँ परमात्मा को वरुण आदि शब्दों से तत्तद्देवता अर्थ बताना अभीष्ट है। परन्तु आधुनिक समय में लोगों के द्वारा रखे गये देवदत्त आदि नामों में ईश्वर की इच्छा कैसे हो सकती है? इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है- बच्चे का नाम रखने के लिए भी ब्राह्मण ग्रन्थ ('मन्त्रब्राह्मणयो र्वेदनामधेयम्' इस नियम से ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेद माने जाते हैं) आदेश देते हैं 'एकादशेऽहनि पिता नाम कुर्यात्' जब इसी वचन के आधार पर कोई देवदत्त आदि नाम रख दिया जाता है तो इसी नाम के रखे जाने में परमात्मा की इच्छा होती है। इसलिए आधुनिक नामों में भी ईश्वरेच्छा पाई जाती है यह प्राचीन नैयायिकों का मत है। इस सन्दर्भ में यह कहा जा सकता है कि गौ आदि पदों से गोपिण्ड आदि में सङ्केतग्रह हो जाता है इसमें तो ईश्वरेच्छा मानी जा सकती है, परन्तु उसी गाय का फिर गङ्गा, यमुना आदि नाम रखना तो मनुष्येच्छा ही कही जा सकती है क्योंकि इन नामों में तो ईश्वरेच्छा नहीं प्रतीत होती। इस आधार पर नव्यनैयायिक मानते हैं कि ईश्वरेच्छा द्वारा ही शक्तिग्रह नहीं होता बल्कि इच्छामात्र से होता है। यह इच्छा चाहे परमेश्वर की हो चाहे मनुष्य की। इसी इच्छामात्र की आधुनिक नामों में भी कारणता सङ्गत हो जाती है।

इस प्रकार प्राचीन नैयायिकों की दृष्टि से ईश्वरेच्छा द्वारा सङ्केतग्रह होता है और नवीन नैयायिकों के मत में ईश्वरेच्छा और तदतिरिक्त मनुष्येच्छादि से सङ्केतग्रह होता है-यह दो मत हो जाते हैं। ग्रन्थकार को यह दोनों ही अभीष्ट हैं।

जहाँ आकाशादि पद से [उनकी आकाशत्वादि उपाधि में शक्ति मानने पर] आनन्त्य और व्यभिचार दोष आते हैं वहाँ पर व्यक्ति में भी शक्ति [सङ्केतग्रह] हो सकती है। ऐसा मानने में किसी प्रकार की असङ्गति नहीं है।

ननु नैयायिकमते सामान्यलक्षणया मीमांसकमते समानप्रकारकत्वस्य तन्त्रत्वात् नानन्त्यव्यभिचार इति चेत्, न।

टि०—प्राचीन आचार्यों का कहना है कि आकाश के एक व्यक्ति होने के कारण आकाश में आकाशत्व जाति का बाधक है इस कारण वे आकाश को जाति न मान कर उपाधि मानते हैं।

वस्तुत: आकाश पद के एक व्यक्तिवाचक होने के कारण आकाश में आकाशत्व जाति नहीं है किन्तु उपाधि है। उपाधियों के घटाकाश, मठाकाश इत्यादि रूप में अनन्त भेद होने के कारण उपाधि में शक्ति मानने पर आनन्त्य दोष आता है। इस दोष से बचने के लिए आकाश की एक उपाधि घटाकाश का ज्ञान तो एक बार आकाश पद से सङ्केतग्रह से हो जाता है पर उपाध्यन्तर का ज्ञान सङ्केतग्रह के बिना ही हो जाता है यदि ऐसा मानें तो व्यभिचार दोष की प्राप्ति होगी। इसलिए ऐसे स्थलों में व्यक्ति में भी शक्ति मानी जा सकती है।

नैयायिकों के मत में सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के द्वारा [क्योंकि वे आकाशत्वोपाधि से सकलोपाधिविशिष्ट आकाश का बोध मानते हैं। इसी प्रकार] और मीमांसकों के मत में जातिरूप विशेषण के सभी में एक रूप से रहने के कारण आनन्त्य और व्यभिचार दोष नहीं आते यदि ऐसा कहा जाता है [तो हमारी इससे असहमति है]।

टि०—नैयायिक लोग छ: प्रकार का लौकिक सन्निकर्ष मानते हैं—1. संयोग 2. संयुक्तसमवाय 3. संयुक्तसमवेतसमवाय 4. समवाय 5. समवेतसमवाय और 6. विशेष्यविशेषणभाव। तीन प्रकार का अलौकिक सन्निकर्ष होता है—1. सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति। 2. ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्ति और 3. यौगिकप्रत्यासत्ति। लौकिक ज्ञान तत्तत् इन्द्रियों का पदार्थों के साथ सन्निकर्ष होने से होता है और अलौकिक ज्ञान अतीन्द्रिय होता है। अलौकिक ज्ञान के एक भेद सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति से अभिप्राय है—सामान्यम् जाति: लक्षणं स्वरूपं यस्या: सा एवंविधा प्रत्यासत्ति: बोध: सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति: अर्थात् जाति के ज्ञान से समस्त व्यक्तियों का बोध कराने वाला ज्ञान होता है। जैसे धूमत्व जाति के ज्ञान से समस्त धूमों का ज्ञान होता है वैसे ही घटाकाश, मठाकाश आदि रूप सोपाधिक आकाशत्व जाति से सम्पूर्ण आकाशों का बोध हो जाता है। आनन्त्य और व्यभिचार दोष तो पृथक् पृथक् शक्ति मानने पर ही आते हैं। नैयायिकों के मत में आकाशत्व के रूप में सारे सोपाधिक आकाश एक ही हैं। आनन्त्य और व्यभिचार तो बहुत्व में होता है एकत्व में नहीं।

आलङ्कारिकैरुभयस्याप्यनङ्गीकारादिति भावः।

मीमांसकों के मत में नाना पदार्थों में रहने वाली जाति एकरूपिणी अर्थात् एक जैसे रूपवाली होती है इसी को समानप्रकारकतन्त्र कहा जाता है। तन्त्र का अर्थ है सिद्धान्त। मीमांसकों की ओर से नैयायिकों के उपर्युक्त सिद्धान्त पर आक्षेप करते हुए यह कहा जाता है कि घटाकाश के अन्दर घटाकाशत्वजाति रहती है और मठाकाश के अन्दर मठाकाशत्वजाति रहती है। इस प्रकार नैयायिकों के मत से सोपाधिक आकाश अनन्त बन जाते हैं। घटाकाशत्व और मठाकाशत्व रूप इन उपाधियों के भेद से भिन्न भिन्न जातियाँ हो जाती हैं और उनमें पृथक् पृथक् संकेत मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोषों की प्राप्ति होती है। यहाँ मीमांसकों का यह कहना है कि सोपाधिक आकाश की इन सब उपाधियों में एक जाति रूप 'प्रकार' मानने से आनन्त्य और व्यभिचार दोष हट जाते हैं।

कुछ मीमांसक संकेतग्रह केवल जाति में मानते हैं। इनके अनुसार विशेषण एक ही प्रकार का रहता है। 'गामानय' वाक्य कहने पर 'गोत्वप्रकारकां गोव्यक्तिमानय' इस प्रकार का शाब्दबोध होता है। यह 'गोत्वप्रकार' अतीत, अनागत और वर्तमान सभी काल और सभी देश के व्यक्तियों में एक सा होता है इसी 'प्रकार' से सब व्यक्तियों का बोध हो जाता है। इसलिए सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति जैसा ज्ञान अलग से मानने की आवश्यकता नहीं है। इसलिए समानप्रकारकतन्त्र को मानना चाहिए।

[यह उपर्युक्त] मत ठीक नहीं हैं, क्योंकि काव्यशास्त्र के विद्वानों ने इन दोनों ही सिद्धान्तों को नहीं माना है। यह हमारा अभिप्राय है।

टि०–आलङ्कारिक सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति और समानप्रकारकज्ञान नामक इन दोनों ही सिद्धान्तों को नहीं मानते हैं। इनका सिद्धान्त है कि जाति में शक्ति मानने पर व्यक्ति का स्वयं आक्षेप हो जाता है। इसलिए न तो सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति मानने की आवश्यकता है और न ही समानप्रकारकज्ञान से व्यक्ति का ज्ञान होता है इस प्रकार की कल्पना करनी चाहिए। वस्तुत: पहले अभिधा शक्ति से जाति का ज्ञान हो जाता है। जाति के साथ व्यक्ति का अविनाभावसम्बन्ध होने से व्यक्ति का स्वत: आक्षेप हो जाता है। (व्यक्त्यविनाभावित्वात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते)। इसके अतिरिक्त उक्त दोनों ज्ञानों को मानने से गौरव भी है केवल अभिधा से ही शाब्दबोध मानने में लाघव है।

व्यक्तिलाभस्तु–जातिशक्तं पदं व्यक्तिविशिष्टमेव बोधयतीति कार्यकारण-भावकल्पनया अनुमानेन लक्षणया व्यञ्जनयैव वेत्यवधेयम्। लाक्षणिकमाह–

मुख्यार्थानन्वयाद् यत्र लक्षणा समुपास्यते।
स स्याल्लाक्षणिकः शब्दः काव्यसर्वस्वतां गतः।। 13।।

व्यक्ति [के ज्ञान] का लाभ तो इस प्रकार होता है–जाति में शक्तिग्रह वाला [जिस पद का जाति में शक्तिग्रह होता है वह] पद व्यक्तिविशिष्ट जाति का ही अनुभव [बोध अथवा स्मरण] कराता है। अतः यह बोध कार्यकारणभाव की कल्पना, अनुमान, लक्षणा अथवा व्यञ्जना से ही हो जाता है ऐसा समझ लेना चाहिए।

टि०–कार्यकारणभावकल्पना–इसका स्वरूप यह है–'गामानय' जैसे वाक्यों में पहले संकेतग्रह जाति में होता है और जातिगत संकेतग्रह व्यक्ति के संकेतग्रह का कारण बनता है। इस प्रकार जाति का ज्ञान कारण है और व्यक्ति का ज्ञान कार्य है। इस कार्यकारणभावकल्पना (कारण के द्वारा कार्य के अनुमान) से व्यक्ति का बोध होता है।

अनुमान–'पर्वतोऽयं वह्निमान्' जैसे वाक्यों में जैसे धूम के ज्ञान से वह्नि का ज्ञान होता है वैसे ही जाति के ज्ञान से व्यक्ति का ज्ञान अनुमान से हो जाता है। क्योंकि जाति और व्यक्ति में व्याप्तिसम्बन्ध है।

लक्षणा–'गामानय' जैसे वाक्यों में आनयन क्रिया के साथ कर्मत्वेन गोत्व का अन्वय न होने के कारण (क्योंकि गोत्व जाति अदृश्य होती है) मुख्यार्थ का बाध हो जाता है और फिर समवायसम्बन्ध के कारण व्यक्ति की प्रतीति रूढिमूला लक्षणा से हो जाती है।

व्यञ्जना–संकेत का ग्रहण वस्तुतः जाति में ही होता है परन्तु वक्ता का तात्पर्य व्यक्ति में होने के कारण व्यक्ति की प्रतीति व्यञ्जना से हो जाती है।

इन सब कारणों से व्यक्ति के ज्ञान के लिए सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति या समानप्रकारकज्ञान मानने की आवश्यकता नहीं है इस प्रकार का काव्यशास्त्रियों (साहित्यिकों)का मत है।

[ग्रन्थकार] लाक्षणिक [लक्षक] शब्द की परिभाषा बताते हैं–

जहाँ मुख्यार्थ के साथ अन्वय अनुपपन्न होने से लक्षणा का आश्रय लिया जाता है काव्य की सारभूतता को प्राप्त हुआ वह शब्द लाक्षणिक कहलाता है।। 13।।

अथ केयं लक्षणा–

यत्र मुख्यार्थबाधः स्यात्तात्पर्यविषयेऽन्वये।
लक्षणा कथिताऽव्यङ्ग्या सव्यङ्ग्या चेति सा द्विधा।। 14।।

टि०–यहाँ लाक्षणिक पद को काव्य का 'सारभूत तत्त्व' इसलिए बताया हुआ है क्योंकि प्रयोजनमूला लक्षणा में उत्कृष्ट प्रकार की व्यञ्जना का समावेश होता है। जैसे 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' आदि उदाहरणों में अपकारी के प्रति कहे गये वाक्यों में 'तुम्हारे जैसे अपकारी अत्यन्त निन्दास्पद हैं' ऐसे व्यङ्ग्यार्थ विशेष चमत्कारपूर्ण हैं।

लक्षणग्रन्थों में लक्षक और लाक्षणिक ये दोनों ही प्रयोग पाये जाते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से इन दोनों पदों का एक ही अर्थ है। लक्षयति लक्षणया बोधयत्यर्थमिति लक्षकः अथवा लक्षणाया अयम् लक्षणासम्बन्धिशब्द इति लाक्षणिकः।

और यह लक्षणा क्या है? [इस विषय में ग्रन्थकार] कहते हैं–

जहाँ तात्पर्य के विषय और अन्वय में [अर्थात् तात्पर्यानुपपत्ति और अन्वयानुपपत्ति होने पर] मुख्यार्थ का बाध होता है वहाँ लक्षणा बताई जाती है और वह अव्यङ्ग्या और सव्यङ्ग्या इस रूप में दो प्रकार की होती है।।14।।

टि०–यहाँ पर लक्षणा के प्रयोजक दो तत्त्व माने जाते हैं–1. अन्वयानुपपत्ति और 2. तात्पर्यानुपपत्ति। अन्वयानुपपत्ति का अर्थ है अन्वय (आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के कारण कर्ता, कर्म और क्रियादि रूप सम्बन्ध) का असङ्गत हो जाना–सम्बन्ध का न बन सकना और तात्पर्यानुपपत्ति का अर्थ है वक्ता के अभिप्राय का पूरा न होना। 'गङ्गायां घोषः' जैसे वाक्यों में अन्वयानुपपत्ति पाई जाती है। गङ्गाप्रवाह और घोष (आभीरगृह) में आधाराधेयभाव सम्बन्ध की अनुपपत्ति है। इस सम्बन्ध के बनने में बाधा उपस्थित हो रही है इसी कारण मुख्यार्थ (वाच्यार्थ) का बाध होने पर लक्षणा से गङ्गा शब्द का अर्थ जब तट हो जाता है तब कहीं जाकर गङ्गा पद की घोषाधिकरणता बन पाती है।

'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' जैसे वाक्यों में तात्पर्यानुपपत्ति पाई जाती है। कौओं से दधिरक्षण का अन्वय तो हो रहा है परन्तु वक्ता का तात्पर्य दध्युपघातक प्राणियों में है। इस कारण यहाँ काकेभ्यः शब्द से केवल कौआ ही अर्थ लेना उचित नहीं होगा क्योंकि वक्ता का आशय कुत्ते आदि प्राणियों में भी है। इसलिए अन्वयानुपपत्ति एवं

अव्यङ्ग्या यथा–कलायं पचतीत्यत्र वर्तमानपाकानुकूलकृतिमति लक्षणा।

केचित्तु 'कर्मणि कुशल' इत्यत्र दर्भग्रहणरूपमुख्यार्थबाधाद् दक्षे लक्षणेति लक्षणोदाहरणं प्रयच्छन्ति तत्तु शक्तिसहोदरमित्यनादरणीयं गच्छतीति गौरित्यादिवद् योग: साधुत्वार्थ:।

तात्पर्यानुपपत्ति यह दोनों ही लक्षणा के बीज हैं ऐसा मीमांसा और न्याय के प्राचीन आचार्यों ने माना है।

नवीन आचार्यों का कहना है कि तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज मानना चाहिए। इसी के भीतर अन्वयानुपपत्ति का अन्तर्भाव हो जाता है। केवल अन्वयानुप-पत्ति को ही लक्षणा का बीज मानने पर 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' जैसे वाक्यों में लक्षणा नहीं बन सकेगी। वक्ता के तात्पर्य की असङ्गति 'गङ्गायां घोष:' और काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इन दोनों ही उदाहरणों में पाई जाती है अत: केवल तात्पर्यानुपपत्ति मानने से ही काम चल जाता है।

अव्यङ्ग्या लक्षणा [का उदाहरण] जैसे–'कलायं पचति'–[देवदत्त] 'कड़ा [हलुआ] पका रहा है–इस वाक्य में वर्तमानपाकानुकूलकृतिमान् [देवदत्त] में लक्षणा होती है।

टि०–उपर्युक्त वाक्य में 'वर्तमान' पद से वर्तमानकालिक विवाहादि के अवसर का बोध होता है। 'पचति' शब्द में 'पच्' धातु से पाक अर्थ की प्रतीति होती है तथा 'ति' से 'पाकानुकूलकृति' (कर्ता के प्रयत्न) की प्रतीति होती है। इस प्रकार पचति इस आख्यात के 'पाकानुकूलकृति' इस अर्थ का बोध अभिधा से हो जाता है और 'कृतिमान् देवदत्त:' का लक्षणा से बोध हो जाता है क्योंकि कोई भी क्रिया कर्त्ता के बिना उपपन्न नहीं हो सकती। यहाँ तात्पर्यानुपपत्ति होने से उपादान लक्षणा से देवदत्त कर्त्ता का बोध होता है। अत: यह उदाहरण अव्यङ्ग्या रूढिमूला उपादानलक्षणा का है। उपर्युक्त वाक्य 'कलायं पचति' में देवदत्त शब्द नहीं है उसका भी ज्ञान लक्षणा से होता है।

कुछ मम्मटादि आचार्य तो 'कर्मणि कुशल: [काम करने में चतुर है] इस स्थान पर दर्भग्रहण रूपी मुख्यार्थ के बाध होने के कारण दक्ष रूप अर्थ में लक्षणा होती है यह मानकर इसे लक्षणा के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं। [वस्तुत:] यह उदाहरण तो अभिधा शक्ति के उदाहरण ही जैसा है। इस कारण [लक्षणा के उदाहरण के रूप में] उपेक्षणीय [परित्याज्य] है। जैसे गच्छति इति गौ: [गम्+डो] गोपद की

यह यौगिक व्युत्पत्ति व्याकरण की सिद्धि के लिए बताई जाती है वैसे ही [कुशान् लाति इति कुशलः] इस पद में भी केवल व्याकरणानुसार पदसिद्धि के लिए ही यह यौगिक व्युत्पत्ति की जाती है [वस्तुतः सारे ही स्थलों पर इन दोनों पदों का व्युत्पत्तिलभ्य ही अर्थ नहीं होता प्रत्युत कहीं व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ होता है तो कहीं प्रवृत्तिनिमित्तक]।

टि०—कुशांल्लाति इति कुशलः (कुश+ लूञ् छेदने) कुशाओं का छेदन करनेवाला (अथवा लानेवाला) व्यक्ति कुशल कहा जाता है। यह इस शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। कर्मणि कुशलः अर्थात् कर्म करने में कुशच्छेदन करने वाला यह उपर्युक्त व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्रकृत पाकादि कर्मों में बाधित हो जाता है तदनन्तर विवेचकत्वादिसादृश्यसम्बन्ध से दक्ष रूप अर्थ की लक्षणा से प्रतीति होती है ऐसा काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट मानते हैं। ग्रन्थकार ने उनका खण्डन किया है। यहाँ इन्होंने संकेत से अपने पूर्ववर्त्ती सनामा विश्वनाथ कविराज का समर्थन किया है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (2, 5 वृत्तिभाग) में लिखा है—केचित्तु कर्मणि कुशल इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः—कुशांल्लातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसम्भवन् विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशग्राहिरूपार्थस्य.........शयनकालेऽप्रयोगात्। यहाँ साहित्यदर्पणकार ने पहले कर्मणि कुशलः में मम्मट के अनुसार अर्थप्रतीति का यह प्रकार बता दिया है कि कुशग्राही (कुशाओं का आदान करने) रूप अर्थ जब कर्म के अर्थ के साथ असङ्गत होता है तो विवेचकत्वादिसादृश्यसम्बन्ध से लक्षणा से दक्ष रूप अर्थ को बताने लगता है। दूसरे विद्वान् इस उदाहरण को लक्षणा का उदाहरण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि यद्यपि कुशल पद की व्युत्पत्ति से कुशग्राहक रूप अर्थ प्राप्त होता है तथापि उसका मुख्यार्थ चतुर रूप अर्थ ही है कुशग्राहक नहीं। क्योंकि शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त कुछ और होता है और प्रवृत्ति का कुछ और। यदि व्युत्पत्तिनिमित्त को ही शब्दों के अर्थ में कारण मान लिया जाय तो गम् धातु से डो प्रत्यय जोड़कर बनाये गये(√गम् + डो) गोपद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ चलने वाली व्यक्ति ही होना चाहिए। किन्तु 'गौः शेते' जैसे वाक्यों में गौः पद का यह व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ सङ्गत नहीं होता क्योंकि गौः पद का शेते क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं बन पाता है। क्योंकि जो चलने वाली (गौ) है वह सो कैसे सकती है? अतः यहाँ चलने वाली व्यक्तिरूप मुख्यार्थ का बाध होने पर लक्षणा से गाय रूप अर्थ की कल्पना करनी पड़ेगी। परन्तु ऐसी कल्पना की बिलकुल भी आवश्यकता इसलिए नहीं है कि जब प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ अर्थात् लोकव्यवहार से गौः पद का अर्थ गौ प्राणी स्वतः हो जाता है तो ऐसे स्थलों पर लक्षणा मानना निष्प्रयोजन है। इसलिए यह आवश्यक नहीं

सव्यङ्ग्या च षोढा–एका उपादानलक्षणा, अपरा[1] लक्षितलक्षणा, एषा शुद्धैव। इयमेवाजहत्स्वार्था जहत्स्वार्थेति कथ्यते। सारोपा शुद्धा गौणी च।

साध्यवसाना शुद्धा गौणी चेति। क्रमेण लक्षणोदाहरणानि–

है कि शब्दों का जो व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ हो वही प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ भी बन जाय। कहीं कहीं जैसा व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ होता है वैसा ही प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ देखने में आता है। जैसे जलज शब्द का 'जलाज्जायते यत्तज्जलजम्' यह व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ अपने प्रवृत्तिनिमित्तक कमल अर्थ से मिलता है। यहाँ इन दोनों अर्थों में व्युत्पत्तिनिमित्त और प्रवृत्तिनिमित्त एक ही है किन्तु 'गौ: शेते' जैसे उदाहरणों में व्युत्पत्तिनिमित्त और है प्रवृत्तिनिमित्त और। अत: सारे स्थलों पर व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ को ही प्रमाण नहीं मानना चाहिए बल्कि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्तक अर्थ को भी देखना चाहिए। इस नियम पर दृष्टि रखने पर 'कर्मणि कुशल:' जैसे स्थलों पर लक्षणा मानने की कोई आवश्यकता नहीं रहती वहाँ अभिधा से ही दक्षरूप अर्थ की प्रतीति मानी जा सकती है।

और सव्यङ्ग्या लक्षणा छ: प्रकार की है–[पहली] एक उपादानलक्षणा है और दूसरी लक्षितलक्षणा [लक्षणलक्षणा] है। यह दोनों शुद्धा [के रूप] ही हैं। [इन दोनों भेदों वाली] यही लक्षणा अजहत्स्वार्था [अपने अर्थ का परित्याग न करने वाली] और जहत्स्वार्था [अपने अर्थ का परित्याग करने वाली] इन नामों से कही जाती है। सारोपा [नामक भेद] शुद्धा और गौणी [इन दो भेदों में विभक्त] है।

[इसी प्रकार] साध्यवसाना भी शुद्धा और गौणी होती है। [इस प्रकार लक्षणा के 6 भेदों का निरूपण कर दिया गया है]।

टि०–अव्यङ्ग्या (रूढिमूला) लक्षणा का एक ही प्रकार है और सव्यङ्ग्या (प्रयोजनवती) लक्षणा के उपर्युक्त 6 भेद हैं जिन्हें इस प्रकार दिखाया जा सकता है–

सव्यङ्ग्या (प्रयोजनवती) लक्षणा

1. उपादानलक्षणा शुद्धा
2. लक्षितलक्षणा शुद्धा
3. सारोपा
    - 3. शुद्धा
    - 4 गौणी
4 साध्यवसाना
    - 5 शुद्धा
    - 6 गौणी

---

1. ज त; परा अ

यत्र स्वार्थान्वयाय स्यादपरार्थस्य कल्पनम्।
उपादानादियं प्रोक्ता लक्षणा सा विचक्षणैः।। 15।।

यथा–

अयमुदयति निद्राभञ्जनः पद्मिनीना–
मुदयगिरिवनालीबाल[1]मन्दारपुष्पम्।
रजनिविरहकोकद्वन्द्वबन्धुर्बिभिन्दन्
कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि।। 9।।

अत्र सूर्यस्य कल्पनं विशेषणान्वयाय।

इस प्रकार ग्रन्थकार ने पहले लक्षणा के चार भेद दिखाये हैं तदनन्तर सारोपा और साध्यवसाना के शुद्धा और गौणी नामक दो दो भेद कर दिये हैं। मम्मट की भाँति इन्होंने यहाँ 4 प्रकार की शुद्धा लक्षणा और 2 प्रकार की गौणी लक्षणा दिखाई है। इस प्रकार अव्यङ्ग्या के 1 भेद के साथ सव्यङ्ग्या के 6 भेद मिलाकर लक्षणा के कुल 7 भेद हो जाते हैं।

[इस षड्विधा लक्षणा के] क्रम से लक्षण और उदाहरण [दिये जा रहे] हैं–[उपादानलक्षणा का लक्षण]

जहाँ अपने अर्थ के अन्वय के लिए दूसरे अर्थ की [भी] कल्पना की जाती है वहाँ अपने अर्थ को भी ग्रहण करने के कारण बुद्धिमानों के द्वारा यह उपादानलक्षणा कही जाती है।। 15।।

[उपादानलक्षणा शुद्धा का उदाहरण] जैसे–

कमलिनियों की निद्रा को तोड़ने वाला, उदयाचल पर्वत की वनपङ्क्ति के मन्दार वृक्ष का ताज़ा पुष्प, रात्रि में वियुक्त रहने वाले चक्रवाक पक्षियों के जोड़ों का बन्धु, क्रुद्ध बन्दर के गाल के मध्य भाग के समान लाल और अन्धकारों का भेदन करता हुआ यह [सूर्य] उदित हो रहा है।। 9।।

यहाँ पर [पद्मिनीनां निद्राभञ्जनः इत्यादि] विशेषणों के साथ अन्वय के लिए विशेष्य सूर्य की कल्पना [उसका आक्षेप लक्षणा से किया गया] है।

टि०–इस श्लोक में [सूर्य के] विशेषणों से उनके अपने वाच्यार्थों की प्रतीति हो रही है साथ ही इन (विशेषणों)की सहायता से अयम् शब्द लक्षणा से सूर्य अर्थ की प्रतीति भी करा रहा है। विशेषणों के साथ विशेष्य का उपादान होने के कारण यहाँ

1. ज अ; वार त

अथवा–

चण्डांशुरश्मिसन्तप्ताश्छत्रिणो[1] यान्ति भूरिशः।
तेभ्यो दातुं सरोजाक्षि काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्।। 10।।

इति।

यत्र स्वार्थपरित्यागादपरार्थस्य कल्पना।
अङ्गीकृतास्ति विद्वद्भिरेषा लक्षितलक्षणा।। 16।।

यथा–

उपादानलक्षणा है और सन्ध्यावन्दनादि नित्यकर्म करने का यह समय है अतएव सब अपने अपने काम करें यह (प्रयोजन रूप) व्यङ्ग्यार्थ इस लक्षणा में है।

अथवा और [दूसरा उदाहरण]

सूर्य की किरणों से पीड़ित बहुत सारे छत्रधारी पुरुष जा रहे हैं। हे कमल के समान नेत्रों वाली सुन्दरी! उनको देने के लिये [यह दही है। इस] दही को कौओं से बचाना इस प्रकार [के उदाहरण उपादानलक्षणा के होते] हैं।।10।।

टि०–यहाँ 'छत्रिणो यान्ति' और 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' ये दोनों उदाहरण सव्यङ्ग्या उपादानलक्षणा के हैं। 'छत्रिणो यान्ति' में प्रयुक्त 'छत्रिणः' शब्द का वाच्यार्थ छत्रधारी है और लक्ष्यार्थ है 'अच्छत्रिणः' अर्थात् छत्र को न धारण करने वाले दूसरे पुरुष। छत्रधारी और अछत्रधारी दोनों ही प्रकार के लोगों का सहगमन अथवा बहुत संख्या में होना यह बताना प्रयोजन है। इसी प्रकार 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' इस वाक्य में कौओं और तदितर दध्युपघातक कुत्ते आदि प्राणियों–दोनों का ग्रहण होता है। दही की सब प्रकार से रक्षा करके उसे सुरक्षित रखना प्रयोजन है। ग्रन्थकार ने यहाँ सव्यङ्ग्या लक्षणा बताई है।

जहाँ अपने अर्थ के परित्याग से दूसरे अर्थ की कल्पना होती है वहाँ विद्वान् व्यक्तियों ने इस लक्षणा को लक्षितलक्षणा के रूप में स्वीकार किया है।। 16।।

[लक्षितलक्षणा का उदाहरण] जैसे–

तुमने कमलिनी के घर में भी दिन बिताया है और रात्रियों में रमणी

---

1. अ त; चण्डांशुरश्मिभिस्तप्ताश्छ० अ

अपि दिवसमनैषीः पद्मिनीसद्मनि[1] त्वं
रजनिषु निरतोऽभूः कैरविण्यां रमण्याम्।
कथय कथय भृङ्ग स्वच्छभावेन तावत्
सुखमधिकमवापस्तत्र वा तत्र चेति।। 11।।

अत्र भ्रमराद्यर्थपरित्यागान्नायकाद्यर्थे लक्षणा। इमे शुद्धे एव गौणीत्वविभाजकोपाधिशून्यत्वात्।

न तु सादृश्यसम्बन्धेन प्रवृत्त्यभाववत्त्वं हेतुः, आयुर्घृतमित्यादौ व्यभिचारात्। भेदान्तरमाह–

कुमुदिनी के समीप [भी] संलग्न रहे हो [उसके साथ रमण किया है]? हे भ्रमर! निर्मल भाव [चित्त] से तुम यह बात [सच सच] बताओ कि तुम्हें वहाँ [कमलिनी के पास] अधिक सुख मिला है अथवा वहाँ [कुमुदिनी के पास] मिला है।। 11।।

टि०–यहाँ पर क्योंकि भ्रमर, पद्मिनी और कैरविणी पद अपने अपने अर्थ को छोड़ देते हैं और उनकी नायक और नायिका रूप दूसरे अर्थ में परिणति हो जाती है इसलिये यहाँ लक्षणलक्षणा है।

इस श्लोक में [क्योंकि जड़ भ्रमर के साथ वाकोवाक्य अर्थात् प्रश्नोत्तर नहीं बन सकता इसलिये] इन भ्रमरादि शब्दों के [मुख्यार्थ के बाधित हो जाने पर] अर्थ छोड़ देने से नायकादि अर्थ में लक्षणा [से प्रतीति होती] है। गौणीत्व की विभाजक उपाधि अर्थात् गौणी लक्षणा के भेदक धर्म से रहित होने के कारण यह दोनों [उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा] शुद्धा [के ही भेद] हैं।

जहाँ सादृश्य सम्बन्ध से प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता है [अतः जहाँ सादृश्येतर सम्बन्ध से ही लक्षणा की गई हो वहीं शुद्धा लक्षणा होती है] ऐसा शुद्धा लक्षणा का हेतु होना चाहिये यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि तब 'आयुर्घृतम् इत्यादि उदाहरणों में इस नियम का व्यभिचार होगा।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय है कि जहाँ सादृश्यसम्बन्ध से प्रवृत्ति का अभाव पाया जाता है अर्थात् जहाँ सादृश्यसम्बन्ध से अतिरिक्त किसी और कार्यकारणादिरूप

---

1. ज त; पद्मनि अ.

आरोप्यारोपविषयौ यत्र वाक्ये स्थितौ समौ।
शुद्धा गौणी च साख्याता सारोपा युक्तिवेदिभिः[1] ।। 17 ।।

एतदर्थोऽपि विषयनिष्ठासाधारणधर्मग्रहे सति यत्रान्यस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिः सा सारोपा।

शुद्धा सारोपा यथा–

भास्वद्वंशकरीरतां दधदयं वीरः कथं कथ्यता–
मध्युष्टापि हि कोटिरस्य समरे रोमाणि सत्त्वाङ्कुराः।

हेतु से लक्षणा की जाती है वहाँ शुद्धा होती है परन्तु सिद्धान्ती का कहना है कि ऐसा मानना ठीक नहीं है; क्योंकि 'आयुर्घृतम्' इस शुद्धा के वाक्य में तैलादिकमिव घृतमपि आयुर्वर्धकं कारणम् इस रूप में घृत और तैल में विद्यमान सदृशगुणों के योग की भी प्रतीति होने से यह केवल शुद्धा का ही उदाहरण नहीं है अपितु यहां गौणी लक्षणा भी होने से व्यभिचार है।

इसके दूसरे भेद को [ग्रन्थकार] बताते हैं–

उपमान और उपमेय दोनों जिस वाक्य में समान रूप से स्थित हों अर्थात् दोनों ही शब्दप्रतिपादित हों वह लक्षणा युक्तियों को जानने वाले विद्वानों ने शुद्धा सारोपा और गौणी सारोपा के रूप में बताई है।। 17।।

इसका अभिप्राय भी [इस प्रकार] है–उपमेय में रहने वाले असाधारण धर्म के रहते हुए भी जहाँ दूसरे [उपमेय] की दूसरे [उपमान] के साथ अभेद प्रतीति होती है वह सारोपा लक्षणा कहलाती है।

टि०–'जैसे मुखं चन्द्रः' इस उदाहरण में मुख का असाधारण धर्म मुखत्व है और चन्द्र का असाधारण धर्म चन्द्रत्व है। मुखत्वधर्मविशिष्ट मुख की चन्द्रत्वधर्मविशिष्ट चन्द्र के साथ अभेदप्रतीति होने पर जो लक्षणा हुआ करती है यह सारोपा है। ग्रन्थकार ने यहाँ इसका परिनिष्ठित लक्षण दिया है।।

शुद्धा सारोपा [का उदाहरण] जैसे–

क्या कहा जाय? यह शूर व्यक्ति सूर्यवंश में करीर के वृक्ष जैसा बना हुआ

---

1. ज अ; कोविदैः त

नीतः संयति[1] वन्दिभिः[2] श्रुतिपथं यन्नामवर्णावली-
मन्त्रः स्तम्भयति प्रतिक्षितिभृतां दोःस्तम्भकुम्भीनसान्।। 12।।

अत्र नाम्नो मन्त्रसाम्यं तात्कर्म्यात्।

गौणी सारोपा यथा–

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विधत्ते न किं
वृद्धिं वा झषकेतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरभ्युद्यते
दर्पः स्यादमृतेन[3] चेत्तदपि ते नन्वस्ति बिम्बाधरे।। 13।।

है इसके धनुष का किनारा भी चढ़ी हुई डोरी वाला है और युद्ध के समय इसके रोम बल के अङ्कुर हो जाते हैं [यह महाबली हो जाता है]। जिसके नाम के अक्षरों की पङ्क्ति रूपी मन्त्र सङ्ग्राम में चारणों के द्वारा कर्णमार्ग में ले जाया जाकर [अर्थात् सुनाया जाकर] शत्रु राजाओं के भुजदण्ड रूपी अजगरों को स्तब्ध [निष्चेष्ट] कर देता है।। 12।।

यहाँ वीर पुरुष के नाम का मन्त्र के साथ तात्कर्म्य के कारण सम्बन्ध बन रहा है।

टि०–यहाँ मन्त्र का नाम के ऊपर आरोप किया गया है। जैसे अतक्षा तक्षा इत्यादि प्रयोगों में बढ़ई न होते हुए भी ब्राह्मण को बढ़ई के काम करने मात्र से बढ़ई कह दिया जाता है वैसे यहाँ पर नाम के ऊपर मन्त्र का आरोप है।

गौणी सारोपा [का उदाहरण] जैसे–

[तुम्हारा मुख] क्या कमल की कान्ति को नष्ट नहीं करता है? क्या नेत्रों के आनन्द को नहीं उत्पन्न करता है अथवा क्या देखने मात्र से कामदेव की वृद्धि को नहीं करता है, [अथवा क्या समुद्र में ज्वार नहीं लाता है? झषकेतन समुद्र को भी कहते हैं] तुम्हारे मुखरूपी चन्द्रमा के विद्यमान होने पर जो यह दूसरा चन्द्रमा उदित हो रहा है उसे यदि अमृत के कारण अभिमान हो तो वह भी निश्चित रूप से तुम्हारे बिम्बफल सदृश ओठ में है।। 13।।

---

1. अ त; संयत ज।
2. ज त; वन्दिनः अ।
3. ज अ; 'दर्पः स्यादमृतेन' त में नहीं।

अत्र वक्त्रे इन्दुत्वारोपः सादृश्यसम्बन्धेन। अतएव गौणी नातिरिक्ता वृत्तिरित्यपि ध्वनितम्। भेदान्तरमाह–

आरोप्येण निगीर्णः स्यादारोपविषयो यदि।
आत्यन्तिकगुणाध्यासाद् ब्रूमः साध्यावसानिकाम्।। 18।।

एतदर्थोऽपि विषयनिष्ठासाधारणधर्मग्रहं विना यत्राऽन्यस्यान्यतादात्म्यप्रतिपत्तिः[1] सा साध्यवसानेति। एषाऽपि गौणी शुद्धा च। क्रमेण यथा–

यहाँ मुख में चन्द्रमा का [सादृश्यसम्बन्ध से] आरोप है इसलिए गौणी वृत्ति [लक्षणा से] कोई अतिरिक्त [पृथक्] व्यापार नहीं है यह भी अभिव्यक्त हो रहा है [अर्थात् गौणी पृथक् वृत्ति न होकर लक्षणा का ही एक भेद है]।

[गौणी के सारोपा से भिन्न] दूसरे भेद [साध्यवसाना] को [ग्रन्थकार] कहते हैं–

अत्यधिक [सदृश] गुणों के कारण अभेदारोप से यदि आरोप का विषय
[उपमेय] आरोप्यमाण [उपमान] से आच्छादित [अन्तर्हित स्वरूप वाला]
हो जाय तो उस लक्षणा को हम साध्यवसाना कहते हैं।। 18।।

इसका [सारभूत] अर्थ भी इस प्रकार है–उपमेय में रहने वाले विशेष धर्म के ग्रहण के बिना ही जहाँ दूसरे [उपमेय] का दूसरे [उपमान] के साथ अभेदज्ञान होता है वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।

टि०–इस साध्यवसाना लक्षणा में उपमान के द्वारा ही उपमेय का प्रतिपादन होता है। इस कारण इसमें उपमेय के असाधारण धर्म के उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं होती। उसके बिना ही उपमेय और उपमान दोनों में अभेद की प्रतीति हो जाती है। निगीर्णस्वरूपस्य पदार्थस्य अन्यतादात्म्यप्रतीतिरध्यवसानं तेन सह वर्तते इति साध्यवसाना। तिरोहित स्वरूप वाले उपमेय की शब्दोपात्त उपमान के साथ तादात्म्य की प्रतीति को अध्यवसान कहा जाता है। उसके कारण होने वाली लक्षणा को साध्यवसाना नाम दिया जाता है।

यह [सारोपा] भी दो प्रकार की है 1. गौणी और 2. शुद्धा। क्रम से [दोनों के उदाहरण] जैसे–

---

1. ज अ; प्रतीतिः त।

जाता लता हि शैले न जातु लतायां जायते शैलः।
अधुना तद् विपरीतं कनकलतिकायां[1] गिरिद्वयं जातम्।। 14।।

अत्र तादृशगौरत्वादिगुणयोगाद् गौणीत्वम्। शुद्धा साध्यवसाना यथा–

विपुलं नितम्बदेशे मध्ये क्षामं समुन्नतं कुचयोः।
अत्यायतं नयनयो र्मम जीवितमेतदायाति।। 15।।

अत्र सादृश्यातिरिक्तस्यैव सम्बन्धस्य जीवितप्रयोगप्रयोजकत्वाच्छुद्धात्वम्।[2] तत्र च कनकलतिकात्वादिना नायिकाया बोध इत्यवधेयम्।

निश्चित रूप से पर्वत पर लता पैदा होती है परन्तु कभी भी लता पर पर्वत नहीं पैदा होता। इस समय उसके विपरीत यह बात है (सुन्दर अङ्गवल्ली रूपी) सुवर्णलता पर दो (कुचद्वय रूपी) पर्वत उत्पन्न हो रहे हैं।। 14।।

इस श्लोक में [नायिका और लता में स्थित] वैसे गौरत्वादि [धवलिमादि] सदृश गुणों के सम्बन्ध से गौणी लक्षणा है।

शुद्धा साध्यवसाना [का उदाहरण] जैसे–

जघनस्थल में विस्तृत है, मध्यभाग में कृश है, स्तनों में ऊँचा है और नेत्रों में बहुत फैला हुआ है [इस प्रकार के नानारूपों को धारण करके] मेरा यह जीवन आ रहा है।। 15।।

यहाँ पर सादृश्य से अतिरिक्त [अभेद] सम्बन्ध के ही जीवित [प्राण] और नायिका में अभेदाध्यवसान के प्रयोग में कारण होने से यह शुद्धा साध्यवसाना का उदाहरण है।

टि०–अपनी प्रेमिका को आते देखकर प्रेमी ने उसके सम्बन्ध में उक्त वचन कहा है। यहाँ पर उपमानभूत जीवित का एतत् शब्द से प्रतीयमान उपमेयभूत नायिका के साथ अभेद सम्बन्ध है, केवल उपमान जीवित का ही कथन होने और उपमेय नायिका का कथन न होने से यहाँ साध्यवसाना है और क्योंकि इसमें अभेद सम्बन्ध है इस कारण शुद्धा है।

और वहाँ पर [उपर्युक्त जाता लता हि इत्यादि उदाहरण में] कनकलतिका इत्यादि इस [उपमान पद] से नायिका [रूप उपमेय] का बोध हो रहा है। [इसी प्रकार पर्वतों से कुचों का ज्ञान हो रहा है] ऐसा समझना चाहिए।

---

1. ज अ; लतायाम् त।
2. ज अ; त् शुद्धात्वम् त।

न चायोग्यताज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वान्नैतादृशी बुद्धिरिति वाच्यम्, अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति इति न्यायात्। युक्तं चैतत्। कथमन्यथा बाधितार्थकवाक्यश्रवणाद् हास्यादिरसपोषः।[1]

आहार्यारोपाद्वा।

और अयोग्यताज्ञान के प्रतिबन्धक होने से [नायिका में कनकलतिका की] ऐसी बुद्धि नहीं हो सकती ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि अत्यन्त असम्भव अर्थ का भी शब्द ज्ञान करा देता है यह नियम है।

टि०–पूर्वपक्षी की युक्ति है कि अचेतन कनकलतिका में चेतन नायिका बनने की योग्यता नहीं है अतः अभेदाध्यवसाय नहीं हो सकता। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध होने में बाधा होने पर भी शब्दों से यत्किञ्चित् ज्ञान हो जाता है। इसलिए योग्यताविहीन पदार्थों में भी सम्बन्ध हो जाता है। क्योंकि 'वह्निना सिञ्चति' जैसे वाक्यों से वह्निकरणकसेचनक्रिया का ज्ञान होता ही है भले ही वह बाद में सङ्गत प्रतीत न हो।

और [इस नियम को मानना] ठीक भी है अन्यथा बाधित अर्थ वाले वाक्यों को सुनने के अनन्तर हास्यादि रसों का परिपाक कैसे सम्भव है?

टि०–काव्यप्रकाश (4, 103) में 'रे रे चञ्चललोचनाञ्चितरुचे' इत्यादि श्लोक में किं (त्वं) मन्ये (अहं) विहरिष्यसे इस अंश में त्वं के साथ मन्ये और विहरिष्यसे के साथ अहं की परस्पर योग्यता नहीं है तो भी हास्य रस की प्रतीति होती है यदि अयोग्यता के कारण ऐसे स्थलों में शाब्दबोध ही न हो तो हास्य रस की कैसे प्रतीति होगी? ग्रन्थकार की ओर से उपर्युक्त शङ्का का यहाँ उत्तर दिया गया है।

अथवा यहाँ पर [कनकलतिका में नायिका रूप अर्थ की योग्यता न होने पर भी] आहार्यारोप–आहार्य ज्ञान से भी सम्बन्ध बन सकता है। और इस प्रकार भी उपर्युक्त शङ्का का समाधान हो सकता है।

टि०–बाधकालिकेच्छाजन्यं ज्ञानमाहार्यम्। बाधकालिक इच्छा से उत्पन्न ज्ञान आहार्य कहलाता है। 'मुखं चन्द्रः' जैसे वाक्यों में 'मुखं न चन्द्रः' इस प्रकार का बाधक ज्ञान होने पर मुख में चन्द्र की बुद्धि मुझे हो इस प्रकार की जो इच्छा है उससे उत्पन्न मुखं चन्द्रः यह ज्ञान आहार्य कहलाता है। इस प्रकार के आहार्य ज्ञान से

1. ज; द्धास्यादिपरिपोषः अत।

अत्रोपादानलक्षणालक्षितलक्षणाभ्यामर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यौ, गौणीभ्यां रूपकप्रथमातिशयोक्ती, शुद्धाभ्यां सारोपासाध्यवसानाभ्यां हेत्वलङ्कारो निरूपयिष्यते इति षड्विधानिरूपणफलम्। अत्र केचित्–षड्विधात्वमनुपपन्नं गौण्यामप्युपादानादिसम्भवात्। तादृशगुणयोगेन गाव एते समानीयन्तां गावः

शाब्दबोध में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आती है। इस कारण कनकलतिका पद से नायिका की प्रतीति हो सकती है।

यहाँ पर उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा इन दो लक्षणाओं से [लक्षणामूल-ध्वनि के दो भेद] अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, सारोपा और साध्यवसाना गौणी लक्षणाओं से रूपक [जैसे मुखं चन्द्रः] और पहली अतिशयोक्ति अर्थात् अभेदातिशयोक्ति [जैसे चन्द्र एव यह दो] अलङ्कार तथा सारोपा शुद्धा और साध्यवसाना शुद्धा से हेत्वलङ्कार [जैसे आयुर्घृतम् और आयुरेवेदम् बन जाते] हैं यह आगे बताया जायेगा। इस प्रकार की 6 प्रकार की लक्षणा के प्रतिपादन का यही फल (प्रयोजन) है।

टि०–यहाँ तक ग्रन्थकार ने छः प्रकार की सव्यङ्ग्या लक्षणा को लक्षण और उदाहरण देकर स्पष्ट कर दिया है। लक्षणा के इन भेदों और उदाहरणों को निम्नलिखित रीति से रखा जा सकता है–

सव्यङ्ग्या (प्रयोजनवती) लक्षणा

1. शुद्धा उपादानलक्षणा (काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्)
2. शुद्धा लक्षितलक्षणा (अपि दिवसमनैषीः)
3. शुद्धा सारोपा (भास्वद्वंश०)
4. गौणी सारोपा (किं पद्मस्य)
5. शुद्धा साध्यवसाना (विपुलं नितम्बदेशे)
6. गौणी साध्यवसाना (जाता लता)

यहाँ पर कुछ विद्वानों का कथन है कि लक्षणा को छः विभागों में विभाजित करना अयुक्त है क्योंकि गौणी लक्षणा में भी उपादान और लक्षणलक्षणा आदि भेद हो सकते हैं। वैसे ही अर्थात् सदृश गुणों का योग होने से 'गाव एते समानीयन्ताम्' [इन मूर्ख पुरुषों को लाया जाय] और 'गावः समानीयन्ताम्' ये उदाहरण बन सकने के कारण लक्षणा के आठ भेद हो जाते हैं। इस प्रकार वे विद्वान् कहते हैं।

टि०–इन आचार्यों के अनुसार लक्षणा के 8 भेद इस प्रकार बनते हैं–

समानीयन्तामित्युदाहरणसम्भवादष्टविधात्वमिति वदन्ति। वस्तुतस्तु चतुर्भेदैव लक्षणा। तथाहि शुद्धभेदेष्वपि गौणीत्वस्यैवाङ्गीकारात्। आयुर्घृतमिति गङ्गायां घोष इत्यादि च तादृशशैत्यपावनत्वादिगुणयोगादेवापरार्थबोधकमिति नव्याः।

अथ व्यञ्जकमाह–

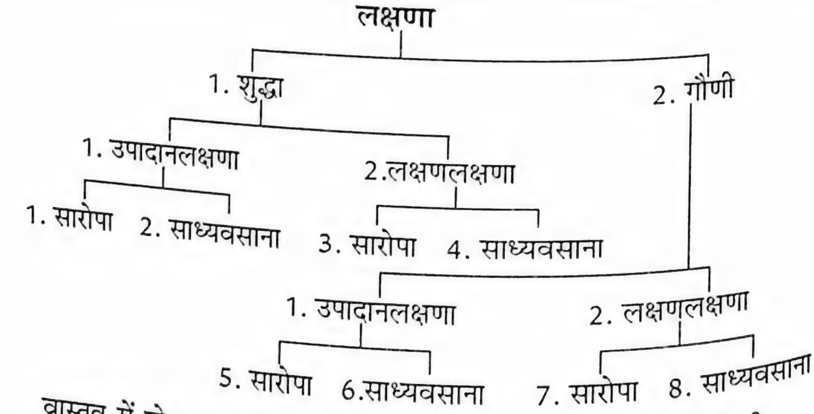

वास्तव में तो लक्षणा के चार भेद ही हैं जैसे कि शुद्धा के भेदों में भी गौणीत्व (सदृश गण योग) को स्वीकार किया जाता है अर्थात् गौणी के भीतर ही शुद्धा के भेद आ जाते हैं और 'आयुर्घृतम्' तथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादि वाक्य भी [गौणी लक्षणा की तरह] वैसे ही [आयुर्वर्धकत्व और] शैत्यपावनत्वादिगुणों के साथ सम्बन्ध होने के कारण ही [प्रशस्त आयु बढ़ाने वाला कारण तथा शैत्यादियुक्त गङ्गातट इन] दूसरे अर्थों को बताते हैं ऐसा नवीनों का मत है। [यादृशमायुर्वर्धक कारुणं घृतं तादृशं नान्य त किमपि कारणमायुर्वर्धकम्। यादृशशीतत्वपावनत्वादिगुणोपेतो गङ्गाप्रवाह स्तादृश एव घोषः]

टि०–इस प्रकार नवीनों के मत में शुद्धा लक्षणा का गौणी में ही अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे गौणी लक्षणा सदृश गुणों के आधार पर की जाती है वैसे ही अन्य लक्षणायें भी किसी न किसी गुण के आधार पर की जाती हैं। इसलिए केवल गौणी ही रह जाती है। इनके अनुसार लक्षणा चार प्रकार की होती है

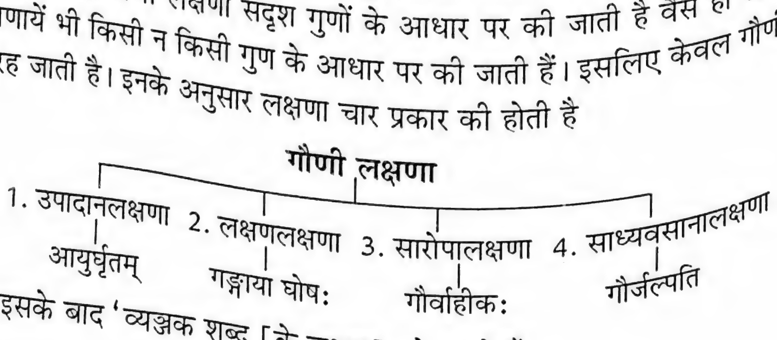

इसके बाद 'व्यञ्जक शब्द [के लक्षण] को कहते हैं–

वक्त्रादियोगमासाद्य बाधितार्थस्य बोधिका।
वृत्तिर्यत्र भवेत् काचित् स शब्दो व्यञ्जको मतः।।19।।

यथा–

एतस्याश्चतुरो न चास्ति रमणो वृद्धोऽपरस्याः पुन-
ग्रस्तश्चापि परं चिरन्तनरुजाऽन्यस्याः परस्याः शिशुः।
एतस्या बहिरेव तिष्ठति कृषिव्यापारवान् किं पुनः[1]
स्थानं पश्यसि नैव वेत्सि पथिक त्वं क्वापि गत्वा वस।। 16।।

अत्र वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्येन तत्रैवावस्थानं ध्वन्यते। आदिपदग्राह्यं काक्वादि, उदाहरणानि स्वयमूहनीयानि।

वक्ता, बोद्धव्य आदि के सम्बन्ध से बाधितार्थ [तथा और किसी वृत्ति से न प्रतीत होने वाले अर्थ को] बोधित कराने वाली कोई वृत्ति जहाँ हो वह शब्द व्यञ्जक माना गया है।। 19।।

[व्यञ्जक शब्द का उदाहरण] जैसे–

इसका पति चतुर नहीं है और दूसरी का भी पति वृद्ध है और फिर इस [तीसरी सुन्दरी का कान्त] पुराने रोग से अत्यन्त पीड़ित है और इस अगली का [अभी] छोटी उमर का बच्चा है और खेती के धन्धे में लगा हुआ इसका पति बाहर ही रहता है। इस प्रकार हे मुसाफिर! तुम स्थान को तो देख रहे हो [फिर भी] समझ ही नहीं रहे हो [इसलिए यहाँ से भागकर और कहीं जाकर रहो]।। 16।।

यहां वक्ता, बोद्धा आदि की विशेषता से तुम उसी स्थान में ही रहना यह अर्थ व्यञ्जना से आ रहा है।

टि०–यहां 'त्वं क्वापि गत्वा वस' इस वाक्य का मुख्यार्थबाध होने के अनन्तर विपरीतलक्षणा से 'यदि तुम उपभोग की क्षमता रखने वाले कामुक हो तो यहीं रहो।' यह अर्थ तथा तुम्हारे लिए यहां यथेष्ट भोगसामग्री है अतः इस अवसर का लाभ उठाओ' यह अर्थ भी व्यञ्जना से आ रहा है।

कारिका में प्रयुक्त 'आदि' पद से काकु आदि का ग्रहण होता है और इनके उदाहरणों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिए।

टि०–काकु का अर्थ गले को विशेष रूप से दबाकर निकाली हुई भिन्न प्रकार

---

1. ज अ; सखे त

सा च वृत्ति र्व्यञ्जनेत्यवधेयम्। अत्र व्यञ्जनाविरोधिनां वाचोयुक्तयस्तथाहि–केचित्तु यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इति न्यायाद् व्यङ्ग्येऽर्थे शक्तिरेव।

परे तु लक्षणयैव व्यञ्जनान्यथासिद्धिः। तार्किकास्त्वनुमानेनेति। तत्र नाद्यः। यत्परः

की ध्वनि है। काव्यप्रकाश (3, 15) में वेणीसंहार से उद्धृत क्रुद्ध भीमसेन की इस उक्ति को काकु का उदाहरण बनाकर दिखाया गया है–

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।

अत्र मयि न योग्यः खेदः कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते।

[इस प्रकार के व्यञ्जक पदों से बोध कराने वाली] वह वृत्ति व्यञ्जना है ऐमा समझ लेना चाहिये। यहाँ व्यञ्जनाविरोधियों की [उनके अपने पक्ष को पुष्ट करने वाली] युक्ति भरी बातें [उपस्थित की जाती हैं। सङ्केत रूप में] जैसे कि कुछ [भट्टलोल्लट आदि] विद्वान् मीमांसक 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियम से व्यङ्ग्यार्थ में अभिधा शक्ति ही काम करती है ऐसा मानते हैं। अर्थात् शब्द यत्परक [यदर्थविषयक] होता है वही उस शब्द का अर्थ होता है।

टि०–इन मीमांसकों का कहना है कि यत्तात्पर्यकतया शब्दः प्रयुज्यते स तस्य शब्दस्यार्थः-जिस तात्पर्य को लेकर शब्द का प्रयोग किया जाता है वही उस शब्द का अर्थ होता है। 'गतोऽस्तमर्कः' (सूरज छिप गया है) 'उदितं मण्डलं विधोः' (चन्द्रमण्डल का उदय हुआ है) जैसे स्थलों पर वक्ता का तात्पर्य– यह प्रियगृहाभिसरण अथवा प्रियागमन का समय है इत्यादि अर्थों में होता है। यह तात्पर्य क्योंकि अभिधा से ही प्रकट हो जाता है इसलिए अलग से किसी व्यञ्जना व्यापार [व्यञ्जना शक्ति] को मानने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरे [कुमारिलभट्ट और प्रभाकरमिश्र आदि मीमांसक] विद्वान् लक्षणा से ही [व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाने के कारण] व्यञ्जना की अन्यथासिद्धि [व्यर्थ का व्यापार] है [ऐसा मानते हैं]।

टि०–अन्यथासिद्ध वह कारण होता है जिसके बिना भी कार्य उत्पन्न हो जाता है। जैसे घट की उत्पत्ति में कुलालपिता गर्दभादि अन्यथासिद्ध कारण हैं। क्योंकि

शब्दः स शब्दार्थ इत्यस्यायमर्थः–यदंशे विधेयत्वं तत्रैव तात्पर्यं न तु शब्दश्रवणानन्तरं प्रतीतमात्रे।

यथा दध्ना जुहोतीत्यत्र हवनस्यान्यतः सिद्धेर्दधिमात्रं विधीयते अन्यथा लक्षणोच्छेदप्रसंगः[1]।

उनके बिना भी घट रूप कार्य हो जाता है। इसके विपरीत कुलाल और मृत्पिण्ड अनन्यथासिद्ध कारण हैं। अर्थात् उनके बिना घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति लक्षणा से ही हो जाती है। उसकी प्रतीति में व्यञ्जना व्यापार अन्यथासिद्ध कारण है और लक्षणा (अनिवार्य) कारण है। 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धः' जैसे स्थलों में व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले निषेध रूप अर्थ का बोध विपरीतलक्षणा से ही हो जाता है इस मत को अभिहितान्वयवादी और अन्विताभिधानवादी दोनों ही प्रकार के मीमांसक मानते हैं।

उन [उपर्युक्त मतों] में पहला मत ठीक नहीं है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस वाक्य का यह अर्थ है– [वाक्य के] जिस अंश में विधेयत्व होता है उसी में ही [वक्ता का] तात्पर्य होता है न कि शब्द के श्रवण के अनन्तर सभी प्रतीत हुए अर्थ में।

टि०–सिद्धान्ती का अभिप्राय है कि 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' और 'गतो ऽस्तमर्कः आदि वाक्यों में वाक्यस्थ सम्पूर्ण शब्दों के अर्थों में वक्ता का तात्पर्य नहीं होता किन्तु वह तात्पर्य सामान्यतः विधेयांश या क्रियांश में होता है। विशेष स्थिति में वक्ता जिस बात के ऊपर अपनी ओर से बल देना चाहता है उसी में उसका तात्पर्य होता है। उपर्युक्त दोनों वाक्यों में प्रयुक्त कर्तृपद को उद्देश्य और क्रियापद को विधेय कहा जाता है। यहाँ साधारण दशा में 'गच्छति' और 'अस्तं गतः' इन विधेयांशों की ही मुख्यता है परन्तु यदि कोई पूछे 'कः गच्छति'? 'को लीनः'? (कौन जाता है? कौन छिपा है?) तो उसके उत्तर में प्रयुक्त 'देवदत्तः और 'सूर्यः' इन पदों की विधेयता होगी। साथ ही जिन शब्दों को वाक्य में पढ़ा जाता है उन्हीं में वक्ता का तात्पर्य समझा जाता है। 'देवदत्तो ग्रामं गच्छति' से यह भी प्रतीत होता है कि देवदत्तेतर यज्ञदत्तादि गाँव को नहीं जा रहे हैं। परन्तु क्योंकि इस अर्थ के वाचक शब्द वाक्य में नहीं पड़े हैं, इसीलिए यह दूसरा अर्थ उपर्युक्त वाक्य का अर्थ नहीं माना जायेगा।

[उदाहरण के रूप में] जैसे 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य में हवन की सिद्धि

---

1. त; प्रसङ्गात् ज अ

पूर्वो धावतीत्यत्रापरार्थेऽपि शब्दप्रामाण्यं स्यात्। नापरः। गंगायां घोष इत्यत्र प्रवाहे बाधात् तीरे लक्षणा। न च घोषाधिकरणता तीरे बाधिता यदन्यथानुपपत्त्या शैत्यपावनत्वादौ

[यदि] दूसरे वाक्य से होती है तो दधिमात्र की ही विधि होगी। इसके विपरीत मानने पर अर्थात् विध्यंश में तात्पर्य न मान कर जिस तात्पर्य के लिये वक्ता शब्द का प्रयोग करता है वह उसका अर्थ है ऐसा स्वीकार करने पर [तो] लक्षणा नामक शक्ति का अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।

टि०—विशेष परिस्थिति में वाक्य के विधेयांश में वक्ता का तात्पर्य न होकर दूसरे किसी और अंश में भी हो सकता है। जैसे 'सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहोति' यह शतपथब्राह्मण में पहले पठित वाक्य है। इसके अनन्तर 'दध्ना जुहोति' इस वाक्य का प्रयोग है। पहले वाक्य में हवन का विधान कर देने से दूसरे वाक्य में केवल 'दध्ना' में ही तात्पर्य है। जैसे रक्तं पटं वय' लाल कपड़ा बुनो यहाँ आवश्यकतानुसार कभी केवल बुनने रूप एक का विधान अथवा कभी पट और वयन दो का अथवा कभी रक्त, पट, वयन इन तीनों का विधान हो सकता है इसलिए जहाँ जो विधेय होता है वहाँ उसमें ही तात्पर्य होता है यह 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' का अर्थ है न कि जिस तात्पर्य को वक्ता अपने मन में रखता है वही शब्दार्थ है और उसका ज्ञान अभिधा से हो जाता है यह नियम बन सकता है। यदि मीमांसकों के नियम को मान कर अभिधा से ही सब अर्थों का ज्ञान मानने लग जायें तो फिर लक्षणा नाम की पृथक् शक्ति ही क्यों मानी जाये? मीमांसकों को लक्षणा भी नहीं माननी चाहिए क्योंकि अभिधा से ही उनके मत में सभी प्रकार के ज्ञान हो जाते हैं। सिद्धान्ती के अनुसार यह तात्पर्य वाक्य में पठित शब्दों का ही हुआ करता है। शब्दों के उपात्त न होने पर किसी प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थमात्र में यह नहीं होता है।

[यदि वाचक शब्द के ग्रहण किये बिना किसी प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थमात्र में तात्पर्य माना जाये तो इस प्रकार] 'पूर्वो धावति' पहला आदमी दौड़ रहा है इस स्थल पर दूसरे के अर्थ में भी शब्द की प्रामाणिकता होगी। अर्थात् पूर्व शब्द का अपरार्थ भी शब्दजन्य ज्ञान होने लग जायेगा [पूर्वो धावति का अर्थ अपरो धावति भी हो जायेगा। यह अर्थ बिलकुल गलत हो जायेगा]।

टि०—इसलिये व्यञ्जनाविरोधी मीमांसकों को तात्पर्यवृत्ति से अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति को व्यङ्ग्यार्थबोध के लिये अवश्य स्वीकार करना चाहिए। यह ग्रन्थकार का अभिप्राय है।

और [लक्षणयैव व्यञ्जनान्यथासिद्धिः अर्थात् लक्षणा से ही व्यङ्ग्यार्थ की

लक्षणा स्यात्। किञ्च शैत्यपावनत्वादौ लक्ष्ये प्रयोजनमावश्यकमतस्तत्कल्पनीयम्। तदपि यदि लक्ष्यं स्यात् तत्रापि प्रयोजनान्तरमित्यनवस्था स्यात्। अथ क्वचिदनवस्थाभिया सा प्रयोजनमन्तरेण यदि कल्पते तदा प्रयोजनवती लक्षणेति व्याहतम्। ननु पावनत्वादिविशिष्टमेव तटं लक्ष्यते[1] गङ्गायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकार्थप्रतिपत्तिः प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणास्तु किं व्यञ्जनयेति चेत् न, विशिष्टेन सममेकस्य शक्यसम्बन्धस्याभावात्।

प्रतीति होती है अत एव व्यञ्जना को अलग शक्ति मानना व्यर्थ है यह] दूसरा मत भी ठीक नहीं है। क्योंकि 'गङ्गायां घोषः' इस वाक्य में जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ के बाध होने से लक्षणा (केवल) तीर अर्थ में होती है। (जैसा घोषाधिकरणता का बाध जलप्रवाह में होता है वैसा) घोषाधिकरणता का बाध तीर में नहीं होता। यदि तीर में घोषाधिकरणता की बाधता होती तभी शैत्यपावनत्वातिशय का ज्ञान लक्षणा से नहीं हो पाता क्योंकि लक्ष्यार्थ सदा मुख्यार्थबाध के अनन्तर ही आता है। अर्थात् तीर में यदि मुख्यार्थ का बाध (घोषाधिकरणता का बाध) होता तो व्यञ्जना के बिना लक्षणा से ही शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति मान ली जाती। इसके अतिरिक्त यदि शैत्यपावनत्वातिशयादि को लक्ष्यार्थ मानें तो उसके भीतर और प्रयोजन मानना आवश्यक होगा। उस प्रयोजन अर्थात् प्रयोजन के प्रयोजन की और कल्पना करनी पड़ेगी। उसे भी यदि लक्षणा से प्रतीत होने योग्य मानें तो उसके लिए अन्य प्रयोजन की कल्पना करने पर अनवस्था दोष आ जायेगा और यदि अनवस्था के भय से वह लक्षणा प्रयोजन के बिना ही बन सकती है यह मानें तों उस समय प्रयोजनवती लक्षणा यह कहना खण्डित अर्थात् असङ्गत हो जायेगा।

शैत्यपावनत्वातिशयादिधर्मविशिष्ट ही तट का ज्ञान लक्षणा से होता है और 'गङ्गायास्तटे घोषः' इस वाक्य से प्रतिपादित अर्थ से अधिक शैत्यपावनत्वादि रूप दूसरे विशेषार्थ की प्रतीति कराना यहाँ प्रयोजन है। इस कारण यहाँ शैत्यपावनत्वादिविशेषणविशिष्ट अर्थ में लक्षणा मानें तो फिर अलग व्यञ्जना मानने की क्या आवश्यकता है? यदि पूर्वपक्षी की ओर से ऐसा कहा जाये तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि विशिष्ट के साथ (युगपत्) एक शक्यसम्बन्ध नहीं हो सकता।

---

1. ज; लक्ष्यताम् अ त

लक्षणाद्वयाङ्गीकारे तु यया शैत्यपावनत्वाद्युपस्थितिः सैव व्यञ्जना। अपि च घोषान्वयोपपत्तिर्यावता भवति तावदेव कल्पनीयम्। तथा च तीरकल्पनयैव तदन्वयोपपत्तौ विशिष्टलक्षणायां प्रमाणाभावः। किं च बाधितबोधकत्वेन लक्षणातो वैलक्षण्यं स्पष्टमेव। अथानुमानेन व्यञ्जनान्यथासिद्धिरिति तृतीयः पन्थाः। तथाहि–

टि०–जैसे 'नीलो घटः' इत्यादि वाक्यों में नील में नीला यह अर्थ शक्य है (शक्तिलभ्योऽर्थः शक्यः) और नीलत्व शक्यतावच्छेदक है और घटः में घट का अर्थ शक्य और घटत्व शक्यतावच्छेदक है एवं यहाँ पर हर एक पद में अपनी अपनी अलग अलग अभिधा शक्ति है वैसे ही शैत्यपावनत्वातिशयादि अलग अर्थ हैं और ये अर्थ अलग शक्ति व्यञ्जना से आते हैं। इसलिए इस विशिष्टार्थ अर्थात् विशेषण (प्रयोजन-शैत्यपावनत्व) विशिष्ट अर्थ में शक्यसम्बन्ध- अभिधाशक्ति से प्रतिपाद्य प्रवाहार्थ का व्यङ्ग्य शैत्यपावनत्वातिशय और लक्ष्य गङ्गातीर के साथ युगपत् सम्बन्ध नहीं हो सकता। शैत्यपावनत्वातिशय के साथ गङ्गाप्रवाह का समवायसम्बन्ध है और गङ्गातीर के साथ स्वसामीप्यरूप संयोग सम्बन्ध है। दोनों में एक ही सम्बन्ध होने पर ही लक्षणा हो सकती है। अलग अलग प्रकार के सम्बन्ध होने पर एक ही लक्षणा से दोनों सम्बन्धों का ज्ञान कैसे हो सकता है?

[यदि पूर्वपक्षी की ओर से यहाँ यह कहा जाये कि दो लक्षणायें स्वीकार करनी चाहिए–पहली से तीर की प्रतीति और दूसरी से शैत्यपावनत्वातिशय का ज्ञान होता है। तब] दो लक्षणाओं को स्वीकार करने पर तो जिस दूसरी लक्षणा से (आप के मतानुसार) शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति होती है वही) हमारे मत में व्यञ्जना है (इस प्रकार नाममात्र में भेद है]।

और इसके अतिरिक्त जितने अर्थ के साथ घोष के अन्वय की उपपत्ति हो सकती है उतना ही लक्ष्यार्थ समझना चाहिए (केवल तीर के साथ ही घोष का अन्वय हो सकता है अतः तीर तक ही लक्ष्यार्थ मानना चाहिए) और तीर में ही लक्ष्यार्थ की कल्पना करने से घोष के साथ आधाराधेयभाव रूप अन्वय बन सकता है। इसलिए विशिष्ट में लक्षणा मानने में प्रमाण का अभाव है।

टि०–लक्षणाजन्यज्ञान का शैत्यपावनत्वादि ज्ञान फल अर्थात् कार्य है। कार्यकारण का एक कालावच्छेद में होना प्रमाणसिद्ध नहीं है। काव्यप्रकाश में कहा है–

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।।

भम धम्मिअ बीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारि ओ तेण।
गोलाणईकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण।।
भ्रम धार्मिक विस्रब्धः स श्वाद्य मारितस्तेन।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन।। (संस्कृतच्छाया)

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्।
विशिष्टे लक्षणा नैवं विशेषाः स्युस्तु लक्षिते।। 2, 17-18

इस प्रकार आचार्य मम्मट के अनुसार भी विशिष्ट में लक्षणा मानना ठीक नहीं है। उन्होंने वहाँ अनवस्थादोष का भी उल्लेख किया है।

और इसके अतिरिक्त (लक्षणा के) बाधितार्थ का बोधक होने के कारण लक्षणा से व्यञ्जना की विलक्षणता स्पष्ट ही है। अर्थात् लक्षणा मुख्यार्थबाध के कारण बाधितार्थ का ही बोध कराती है और व्यञ्जना तद्भिन्न अर्थ का भी ज्ञान कराती है (अभिधामूल ध्वनि में मुख्यार्थ का बाध नहीं होता, यहाँ तक मीमांसकमत खण्डन है) और अनुमान मान लेने से व्यञ्जना की अन्यथासिद्धि (व्यर्थता) सिद्ध हो जाती है (येन विनापि कार्यमुत्पद्यते तदन्यथासिद्धम्) यह तीसरा (सबसे अलग निराला) मत है (इस मत के अनुसार व्यञ्जना को माने बिना अनुमान प्रमाण से ही मुख्यार्थ का ज्ञान होने के बाद दूसरा अर्थ प्रतीत हो जाता है। जैसे कि-

हे भगत! आप विश्वासपूर्वक (स्वतन्त्रतापूर्वक मज़े में) घूमिए उस कुत्ते को (जो आपको देखकर भौंका करता था) गोदावरी नदी के कछार के झाड़ों में रहने वाले उस अभिमानी शेर ने मार डाला है।

टि०–यह श्लोक गाथासप्तशती (2, 75) से लिया गया है। गोदावरी नदी के किनारे किसी उद्यान में कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका के साथ घूमा करता था। उनके घूमने के समय पर ही कोई धर्मात्मा व्यक्ति पूजा के लिए फूल चुनने जाया करता था। उसकी उपस्थिति से उन दोनों को अपनी प्रणयलीला में बाधा अनुभव होती थी। चतुर नायिका ने उस भोले भगत को बगीचे में आने से रोकने के लिए एक उपाय निकाला। उसने झूठमूठ ही उपर्युक्त वचन कहा और सोचा कि मेरे इस प्रकार कहने से ये भगत डरपोक होने के कारण आना बन्द कर देंगे। क्योंकि जो व्यक्ति काटने वाले कुत्ते से डर जाता है वह उससे भी बड़े भय के कारण शेर से तो निश्चित रूप से डर ही जायेगा। यहाँ पर नायिका कह तो यह रही है कि यहाँ तुम मज़े से घूमो परन्तु उसका

अत्र कुडङ्गपदं निकुञ्जे देशी। अत्र सङ्केतकानने कुसुमावचयकारिणं धर्मिष्ठमवलोक्य वाग्विदग्धा प्राह। अत्र नगरे भयहेतुभूतश्वनिवृत्त्या भ्रमणविधानेन गोदावरीतीरस्य भीरुभ्रमणायोग्यत्वं सिंहवत्त्वेन व्यङ्ग्यं तत्तु गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहमेवेत्यनुमानेनैव सेत्स्यति किं व्यञ्जनयेति चेत्,

---

आशय यह है कि अब तुम्हें यहाँ भूल कर भी नहीं आना चाहिए, अन्यथा सिंह ने जैसे कुत्ते को मार दिया है वैसे ही वह तुम्हें भी मार डालेगा। व्यञ्जनावादियों के मत में यहाँ भ्रमणविधि वाच्य है और भ्रमणनिषेध व्यङ्ग्य है।

इस उपर्युक्त श्लोक में कुडंग पद निकुञ्ज (झाड़ अथवा लताओं से आच्छन्न स्थान) अर्थ में प्रयुक्त होने वाला देशी अर्थात् देहाती शब्द है। यहाँ पर सङ्केत के [स्थान के रूप में निश्चित किये हुए] उद्यान में फूलों का चयन करने वाले धर्मात्मा पुरुष को देखकर वाक्चतुरा नायिका कह रही है।

यहाँ नगर में भय के कारण बने हुए कुत्ते की निवृत्ति के कारण भ्रमण की विधि होने से गोदावरीतीर के सिंह वाला होने से भीरुभ्रमणत्व की अयोग्यता (भीरुभ्रमणाभाव) रूप (जो) व्यङ्ग्यार्थ है वह तो सिंह वाला होने से गोदावरीतीर भीरुभ्रमण के अयोग्य है (अर्थात् भीरुभ्रमणाभाव वाला है जो ऐसा सिंह वाला) नहीं है वह वैसा (भीरुभ्रमण के अयोग्य भी) नहीं है जैसे घर' इस प्रकार के अनुमानवाक्य से ही सिद्ध हो जायेगा तो व्यञ्जना मानने से क्या लाभ? यदि ऐसा कहा जाय।

टि०—ध्वनिविरोधी अनुमानवादी पूर्वपक्षी महिमभट्ट का यह मत है कि ध्वनि की अनुमान से अतिरिक्त सत्ता नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थ व्यक्तिविवेक में ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत सिद्ध करने का प्रयास किया है और जिन उदाहरणों में व्यङ्ग्यार्थ पाया जाता है उन्हें अनुमान का विषय बताया है। उनके विचारों को समझने से पहले न्यायदर्शनसम्मत अनुमान के स्वरूप को समझना आवश्यक है। अनुमान में दो प्रमुख तत्त्व पाये जाते हैं 1. व्याप्ति और 2. पक्षधर्मता। हेतु (धूम) और साध्य (वह्नि) के साहचर्यनियम को व्याप्ति कहते हैं। यह व्याप्ति दो प्रकार की होती है 1. अन्वयव्याप्ति और 2.व्यतिरेकव्याप्ति। यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः यह अन्वयव्याप्ति है इसमें भावपदार्थों का साहचर्यसम्बन्ध दिखाया जाता है और यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावः—यह व्यतिरेकव्याप्ति का उदाहरण है। इसमें पदार्थों का अभावात्मक सम्बन्ध दिखाया जाता है। अनुमान का दूसरा तत्त्व पक्षधर्मता है। 'पक्षे साध्यसिद्धिः' पर्वत

रूप पक्ष में वह्निरूप साध्य की सिद्धि (विद्यमानत्व) पक्षधर्मता कहलाती है। जिस अनुमान में किसी दूसरे को बात समझाई जाती है उसे परार्थानुमान कहते हैं और स्वयं अपने ज्ञान का हेतुभूत अनुमान स्वार्थानुमान कहलाता है। पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व रूप लिङ्ग (हेतु) से लिङ्गी (साध्य) के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। जैसे–पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमवत्त्वात् यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निर्यथा महानसम्–अन्वयव्याप्तिः, यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावो यथा जलादिः–व्यतिरेकव्याप्तिः, तथा चायम् (अन्वयव्याप्ति में) यो नैवं स नैवम्। (व्यतिरेकव्याप्ति में)। तस्मात् पर्वतोऽयं वह्निमान्–इस अनुमानवाक्य के पाँच अवयव इस प्रकार हैं–

1. पर्वतोऽयं वह्निमान्–प्रतिज्ञा (साध्य)
2. धूमवत्त्वात्–हेतु (साधन)
3. (i) यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः यथा महानसम्–अन्वयव्याप्तियुक्त दृष्टान्त
   (ii) यत्र यत्र वह्न्यभावस्तत्र तत्र धूमाभावः यथा महाह्रदः–व्यतिरेकव्याप्ति-युक्त दृष्टान्त
4. (i) तथा चायम्–अन्वयव्याप्ति में उपनय
   (ii) यो नैवं स नैवम्–व्यतिरेकव्याप्ति में उपनय
5. तस्मात् पर्वतोऽयं वह्निमान्–निगमन

उपर्युक्त पञ्चावयवयुक्त अनुमान वाक्य में जो धूमवत्त्व हेतु है उसमें तीन धर्मों की अनिवार्य रूप से सत्ता मानी गई है। कोई भी शुद्ध हेतु इन धर्मों के बिना अनुमान-जन्य ज्ञान का साधन नहीं बना करता। पहला धर्म पक्षसत्त्व अर्थात् पक्ष के अन्दर रहता है। सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः–जिसमें साध्य (जिसका अनुमान किया जाता है-अनुमेय) सन्दिग्ध दशा में रहता है वह पक्ष है। जैसे वह्निसम्बन्धी अनुमान में पर्वत पक्ष है। हेतु का दूसरा धर्म सपक्षसत्त्व अर्थात् सपक्ष में रहना है निश्चितसाध्यवान् सपक्षः जिसमें वह्निरूप साध्य की निश्चित रूप से स्थिति होती है वह सपक्ष होता है। जैसे महानस में अग्नि की स्थिति का निश्चय रहता है। निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः–जहां साध्यरूप वह्नि का निश्चित रूप से अभाव होता है जैसे तालाब–महाह्रद में साध्य वह्नि का अभाव देखा जाता है।

अनुमानवादी आचार्यों के अनुसार 'भम धम्मिअ' इत्यादि श्लोक में 'आनन्दपूर्वक घूमो' यह अर्थ तो अभिधा से आ जाता है परन्तु गोदावरी के तीर पर आप जैसे डरपोकों को नहीं घूमना चाहिए–यह दूसरा अर्थ अनुमान से आता है इसको पाँच अवयवों वाले अनुमानवाक्य के रूप में निम्न प्रकार से रखा जा सकता है–

न। भीरोरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण वा भ्रमणसम्भवात् व्यभिचारात्।

---

1. गोदावरीतीरं भवत्सदृशभीरुभ्रमणायोग्यम्–प्रतिज्ञा (साध्य)
2. सिंहवत्त्वात्–हेतु (साधन)
3. (i) यत्र यत्र भयकारणं सिंहादिमत्त्वं तत्र तत्र भीरुभ्रमणाभावो यथा वनम्–अन्वयव्याप्तियुक्त दृष्टान्त
   (ii) यत्र यत्र भयकारणाभावस्तत्र तत्र भीरुभ्रमणाभावाभावः–व्यतिरेकव्याप्तियुक्तदृष्टान्त
4. (i) तथा चेदम्–अन्वयव्याप्ति में उपनय
   (ii) यन्नैवं तन्नैवम्–व्यतिरेकव्याप्ति में उपनय
5. तस्माद् गोदावरीतीरं भवत्सदृशभीरुभ्रमणायोग्यम्

इस प्रकार के पञ्चावयववाक्य से अनुमान द्वारा महिमभट्ट भीरुभ्रमणनिषेध को सिद्ध करते हैं और व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार करना अनावश्यक समझते हैं।

(व्यञ्जनाविरोधी अनुमानवादी का उपर्युक्त) यह मत ठीक नहीं है क्योंकि भीरु का भी गुरु अथवा राजा या स्वामी की आज्ञा से अथवा प्रेमिका के प्रति अनुरक्ति होने से (गोदावरी के तीर पर) भ्रमण होना सम्भव है इस रूप में व्यभिचार दोष आता है।

सिद्धान्ती का कहना है कि गोदावरी का तीर सिंह वाला होने से डरपोक लोगों के घूमने योग्य नहीं है यह अर्थ अनुमान से प्रतीत नहीं हो सकता क्योंकि अनुमानवाक्य में जिस हेतु का प्रयोग किया जाता हो वह निर्दुष्ट होना चाहिए। परन्तु 'गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात्' उपर्युक्त इस वाक्य में 'सिंहवत्त्व' शुद्ध हेतु न होकर अनैकान्तिक हेत्वाभास है– सव्यभिचारोऽनैकान्तिकः–जिस हेत्वाभास में व्यभिचार पाया जाय वह अनैकान्तिक हेत्वाभास होता है। शुद्ध हेतु में पक्षसत्त्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्तत्व रूप तीन धर्म होते हैं परन्तु इस अनैकान्तिक हेत्वाभास में विपक्षव्यावृत्तत्व धर्म नहीं है। व्यभिचार का लक्षण है–हेतुसत्त्वेऽपि साध्याभावः–हेतु के रहते हुए भी साध्य का न होना व्यभिचार कहलाता है। यहाँ सिंहवत्त्व हेतु के रहते हुए भी भीरुभ्रमणाभाव रूप साध्य नहीं है प्रत्युत भीरुभ्रमणाभावाभाव है अर्थात् भीरु भी प्रभु की आज्ञा आदि विशेषकारणों से गोदावरी तीर पर घूम सकता है। राजा का सैनिक 'न जाने पर राजा कहीं मार न डाले, अतः इसकी गमनार्थ दी गई आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए' ऐसा सोच कर भीरु होता हुआ भी भय के स्थान वनादि में पहुँच जाता है। यदि किसी प्रेमिका ने अपने प्रेमी को वन के अन्दर संकेतस्थान

न च प्रभुनिदेशाद्यनुपाधिकत्वेन भ्रमणं विशेषणीयमिति क्व व्यभिचार इति वाच्यम् एतादृशस्य साध्यस्य पद्यादनुपस्थितेः। यावदुपस्थितं तावद् व्यभिचार्येव।

किं चानुमानेन व्यञ्जनान्यथासिद्धौ शब्दप्रामाण्यमपि भज्येत।

बता दिया है तो प्रेमी डरपोक होते हुए भी मोहान्ध होकर वहाँ पहुँच जाता है। गुरु की आज्ञा न मानने से बहुत बड़ा पाप लगता है यह सोच कर कोई धर्मभीरु गुरुभक्त शिष्य गुरु के द्वारा निर्दिष्ट होने पर भय के स्थान वनादि में चला जाता है। इन कारणों से यहाँ सिंहवत्त्व हेतु को साध्य मानने पर व्यभिचार दोष आता है।

और प्रभुनिदेशादिरूप उपाधिराहित्य (प्रभुनिदेशाद्यभाववत्त्व) को भ्रमण का विशेषण बनाकर वाक्य में (अतिरिक्त) रखना चाहिए। इस प्रकार का विशेषण आने पर पूर्वोक्त व्यभिचार दोष कहाँ रह सकता है? इस प्रकार नहीं कहना चाहिए क्योंकि इस प्रकार के साध्य की पद्य से उपस्थिति नहीं हो रही है और जितना अर्थ उपस्थित हो रहा है वह व्यभिचारयुक्त ही है।

टि०—पूर्वपक्षी का आशय है कि यदि उपर्युक्त अनुमानवाक्य–गोदावरीतीरं प्रभुनिदेशाद्यभाववद् भीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात् इस रूप में रख लिया जाय तो प्रभुनिदेशाद्यभाववत् इतने विशेषण के आ जाने से व्यभिचारदोष हट जाता है। परप्रेरणा के बिना यदि भीरु वहाँ स्वेच्छा से जाता है तभी इस साध्य में व्यभिचार आता है पर यदि दूसरे के कहने से जाता है तो यह दोष नहीं रहता। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि इस प्रकार के साध्य की उपर्युक्त पद्य से उपस्थिति नहीं हो रही है अर्थात् 'भम धम्मिअ' इत्यादि श्लोक को पढ़कर 'गोदावरी का तीर प्रभुनिदेशाद्यभाववद्भी-रुभ्रमणाभाव वाला है सिंहयुक्त होने से' इस अर्थ की प्रतीति नहीं हो रही है प्रत्युत निरुपाधिक भीरुभ्रमण का ही ज्ञान हो रहा है और इस प्रकार का जितना ज्ञान है वह व्यभिचार से युक्त है। यह श्लोक तो यही कहता है कि हे धार्मिक! तुम निर्भय होकर घूमो क्योंकि कुत्ते को शेर ने मार दिया है। श्वनिवृत्ति से ज्ञात होता है कि कुत्ते से डरने के कारण वह धर्मात्मा पण्डित डरपोक है इस कारण शेर के सामने स्वप्न में भी नहीं जा सकता। इसलिए यहाँ केवल भीरुभ्रमणाभाव रूप साध्य की उपस्थिति हो रही है और उसमें पहले ही व्यभिचार सिद्ध किया जा चुका है।

और इसके अतिरिक्त अनुमान से ही व्यञ्जना की अन्यथासिद्धि अर्थात् निष्फलता मानने पर तो शब्दप्रमाणत्व भी समाप्त हो जायेगा।

टि०—सिद्धान्ती का कहना है कि अनुमान के द्वारा व्यञ्जना की व्यर्थता मानने पर

तथाहि–घटमानयेत्यत्र कर्मत्वं घटवत् तन्निरूपिताकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वादित्यनुमानेन शाब्दबोधसमानाकारज्ञानसम्भवात्।

तो शब्दप्रमाण के सब स्थलों पर भी अनुमान से ही अर्थप्रतीति माननी पड़ जायेगी। इस प्रकार से तो शब्दप्रमाण की भी अलग से स्थिति नहीं रहेगी। इस प्रमाण का अनुमान में ही अन्तर्भाव करना पड़ेगा। शब्दप्रमाण के निष्फल होने पर इस प्रमाण पर आश्रित रहने वाले अन्य अर्थापत्ति, उपमानादि प्रमाणों की भी आवश्यकता नहीं रह जायेगी।

उदाहरण के रूप में–घटमानय इस वाक्य में कर्मता घटसम्बन्धिनी है क्योंकि कर्मत्व से प्रतिपादित आकाङ्क्षादि (आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति) से युक्त पदों से (घटनिष्ठकर्मतानुकूलानयनव्यापार इस) अर्थ का स्मरण हो रहा है। इस प्रकार के अनुमान से शब्दजन्यज्ञान के सदृश स्वरूप वाले (अर्थात् वैसे ही अर्थ वाले) ज्ञान की उत्पत्ति हो सकती है। इस प्रकार शब्दप्रमाण के स्थलों पर भी अनुमान मानना पड़ जायेगा और इस प्रमाण की सत्ता ही नहीं रहेगी)।

टि०–'घटमानय' इस वाक्य से कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ को लाओ इस अर्थ की प्रतीति होती है। यह प्रतीति अनुमान के द्वारा इस प्रकार हो सकती है–

1. घटमानय इत्यत्र कर्मत्वं घटवत् (कर्मता घटनिष्ठ है) प्रतिज्ञा या साध्य

2. तन्निरूपिताकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वात् (क्योंकि कर्मता से प्रतिपादित और आकांक्षादि से युक्त घट एवं आनयन इन पदों से कम्बुग्रीवादिमान् पदार्थ एवं आनयन व्यापार रूप अर्थ का स्मरण होता है) हेतु या साधन।

'घटमानय' इस वाक्य में 'घट' पद को 'आनयन' पद और आनयन पद को 'घट' पद की शाब्दबोध के लिए आवश्यकता है। इसीको आकांक्षा कहा जाता है। 'गौरश्वः चलति पुरुषो हस्ती' जैसे निराकाङ्क्ष पदसमूह अपना अर्थ बताने में असमर्थ होते हैं। 'आकाङ्क्षादिमत् पद में आदि पद से योग्यता और आसत्ति का ग्रहण किया जाता है। पद के अर्थों में परस्पर सम्बन्ध में बाधा का न होना योग्यता कहलाता है। उपर्युक्त 'घटमानय' इस वाक्य में दोनों पदों के आपसी सम्बन्ध में किसी प्रकार की रुकावट नहीं है। 'वह्निना सिञ्चति' जैसे वाक्यों में प्रयुक्त पदों के अर्थों में आपस में सम्बन्ध योग्यता के अभाव के कारण नहीं बन पाता। पदों की कालकृत और देशकृत समीपता का नाम आसत्ति है। एक वक्ता से एक स्थान और एक काल में उच्चारित पद ही आसत्ति के कारण अपना अर्थ बताने में समर्थ हो पाते हैं।

न च योग्यतायाः कथं लिङ्गविशेषणत्वं तस्याः संशयसाधारणज्ञानस्य शाब्दबोधजनकत्वात् अनुमितौ लिङ्गनिश्चयकारणत्वस्य सर्वसम्मतत्वादिति वाच्यम्।

सिद्धान्ती का यह आशय है–यदि व्यङ्ग्यार्थ का अनुमान में अन्तर्भाव करने के लिए अनुमानवादी आग्रहवान् है तो उन्हें 'घटमानय' जैसे वाक्यों से अभिधा से प्रतीत होने वाले अर्थ को भी अनुमान के अन्तर्गत ही मान लेना चाहिए। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। वस्तुतः 'घटमानय' जैसे वाक्यों से 'घड़े को लाओ' इस प्रकार का ज्ञान सेवक को स्वामी के आदेश के श्रवण के अनन्तर स्वतः अभिधावृत्ति से हो जाता है अनुमान की वहाँ आवश्यकता ही नहीं होती। 'गङ्गायां घोषः' जैसे वाक्यों के वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इन तीनों प्रकारों के अर्थों की प्रतीति भी अनुमान से नहीं माननी चाहिए। वास्तव में शब्द की अभिधादि वृत्तियों से उत्पन्न ज्ञान और है तथा अनुमानजन्य ज्ञान और है। पदों की अभिधादि वृत्तियों से उत्पन्न ज्ञान में अनुमान और अनुमानजन्य ज्ञान में अभिधादिवृत्तिजन्यज्ञान का अन्तर्भाव नहीं हो सकता।

और योग्यता की लिङ्गविशेषणता कैसे हो सकती है? अर्थात् योग्यता लिङ्ग का विशेषण नहीं बन सकती है क्योंकि वह सभी प्रकार के संशयात्मक ज्ञान (और निश्चयात्मक ज्ञान दोनों) की समान रूप से उत्पादिका है और अनुमान में लिङ्ग के अन्दर लिङ्गत्व की सिद्धि के लिए निश्चय कारण है अर्थात् निश्चित लिङ्ग से ही अनुमान की सिद्धि होती है, यह बात सारे विद्वानों से अनुमोदित है ऐसा नहीं कहना चाहिए।

टि०–घटमानय इस वाक्य में अनुमानवादी की घटनिष्ठकर्मता को सिद्ध करने के लिए 'तन्निरूपिताकाङ्क्षादिमत्पदस्मारितत्वात्' यह लिङ्ग (हेतु) उपस्थित किया गया है। यहाँ आकाङ्क्षादिमत् पद में प्रयुक्त आदि पद से योग्यता और आसत्ति का उपादान किया है। उपर्युक्त लिङ्ग में योग्यता को विशेषण के रूप में नहीं रखना चाहिए। उपर्युक्त यह शङ्का किसी अन्य व्यक्ति की ओर से अनुमानवादी पर आक्षेप करते हुए प्रस्तुत की गई है। आक्षेपकर्त्ता का कहना है कि योग्यता को लिङ्ग का विशेषण नहीं बनाना चाहिए क्योंकि योग्यता जैसे यथार्थ ज्ञान के शाब्दबोध को उत्पन्न कराने वाले पदार्थों की हेतु है उसी प्रकार अयथार्थ संशयात्मक ज्ञान की भी हेतु है। किन्तु अनुमान में प्रयुक्त होने वाला निश्चयात्मक लिङ्ग ही शाब्दबोध का कारण बनता है। किमयं स्थाणुरस्ति आहोस्वित् पुरुषोऽस्ति इस संशयात्मक ज्ञान वाले वाक्य में स्थाणु और पुरुष–दोनों का अस्ति क्रिया के साथ सम्बन्ध हो रहा है।

अनुमितित्वावच्छिन्नं प्रति हेतुनिश्चयत्वेन कारणता न सम्भवत्येवानुगतस्य हेतुत्वस्याभावात् किन्तु प्रत्येकधूमादिनिश्चयत्वेन तथा चान्यस्य निश्चयत्वेन कारणतायामपि योग्यताज्ञानस्य ज्ञानत्वेनैव कारणत्वमस्तु को दोष इति।

यहाँ कोई निश्चयात्मक हेतु ही स्थाणु या पुरुष का निर्णायक हो सकता है क्योंकि अनुमान में लिङ्गनिश्चय अर्थात् पूर्वनिर्णीत लिङ्ग ही कारण बना करता है।

(उपर्युक्त आक्षेप वचन नहीं कहना चाहिए।) क्योंकि अनुमितित्व धर्म से युक्त अनुमानमात्र में अर्थात् सभी अनुमानों में किसी एक ही निश्चित हेतु की कारणता नहीं होती है (अपितु दूसरे भी अनिश्चयात्मक–संशयात्मक हेतु कारण बन सकते हैं) क्योंकि सारे स्थानों में अनुगत एक जैसा ही हेतु नहीं हुआ करता किन्तु प्रत्येक धूमादि के हेतु रूप में निश्चित हो जाने से ही कारणता होती है पृथक् पृथक् साध्यों के पृथक् पृथक् हेतु ही निश्चित होते हैं अतः सभी साध्यों के लिए एक ही हेतु निश्चित नहीं होता है) और किसी एक को निश्चित रूप से हेतु मान लेने पर भी ज्ञानत्व रूप से योग्यताज्ञान को ही कारण मानने में कोई दोष (हानि) नहीं है।

टि०–आशय यह है कि वह योग्यता प्रमा (यथार्थ ज्ञान) में हो या अप्रमा (संशयात्मक ज्ञान) में इस बात का विचार आवश्यक नहीं है। इस प्रकार योग्यताविशिष्ट हेतु से ही साध्य की सिद्धि हो जाती है भले ही वह योग्यता संशयात्मक ज्ञान की उत्पादिका हो अथवा निश्चयात्मक ज्ञान की हो।

यहाँ सिद्धान्ती ने इस मत का प्रतिपादन किया है कि अनुमान में योग्यताविशिष्ट निश्चयात्मक हेतु की ही कारणता नहीं माननी चाहिए परन्तु संशयात्मक हेतु भी कारण बन सकता है। जैसे कुज्झटिताकुलित (कुहरे से आच्छन्न) प्रदेश में धूमसम्बद्ध वह्नि का अनुमान किया जाता है। सर्दियों में पर्वतों में उठी हुई वाष्प को धूम समझकर उससे वह्नि का अनुमान करते हैं किन्तु वह हेतु संशयात्मक होता है। नदी के पानी को मैला देखकर उस मलिन जल से ऊपर की ओर पर्वत पर हुई वर्षा का अनुमान किया जाता है परन्तु वह हेतु भी संशयात्मक है। फिर भी इससे अनुमान किया जाता है। कभी कभी पर्वत खण्ड के नदी में गिर जाने पर भी जल में मलिनता आ जाती है। इसी प्रकार यद्यपि वृष्टि के साथ मलिन जल का निश्चयात्मक सम्बन्ध नहीं है फिर भी मलिन जल को वृष्टि का अनुमान करते समय हेतु रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसलिए योग्यता के लिङ्ग के विशेषण बनने में कोई बहुत बड़ा दोष नहीं आता और

अथ शब्दस्थले व्याप्त्यादिप्रतिसन्धानं विनापि प्रत्यक्षाद्यवगते पक्षतोपरागं विनापि अत्यन्तासत्यप्यर्थे बाधावतारेऽप्यन्वयबोधदर्शनान्नानुमानेन शब्दप्रामाण्यान्यथासिद्धिरिति चेत्तुल्यं ममापि।

संशयसाधारण अर्थात् सभी संशयात्मक ज्ञान में रहने वाली योग्यता को भी लिङ्ग का विशेषण माना जा सकता है।

और शब्द प्रमाण के स्थल में व्याप्ति और परामर्श (वह्निव्याप्यधूमवान् पर्वतः इस प्रकार के ज्ञान) के गवेषण के बिना भी प्रत्यक्षादि प्रमाण से शब्दार्थ का ज्ञान हो जाने पर पक्षधर्मता (पर्वत रूप पक्ष में वह्नि रूप साध्य की सिसाधयिषा) के सम्बन्ध में आये किसी संकट के बिना भी अर्थ के अत्यन्त असत्य होने पर भी बाधा आने पर अन्वय का ज्ञान हो ही जाता है इसलिये अनुमान के द्वारा शब्दप्रमाण की व्यर्थता नहीं सिद्ध होती है यदि इस प्रकार (अनुमानवादी की ओर से) कहा जाय तो यह बात समान रूप से हमारे पक्ष में भी है (परन्तु व्यङ्ग्यार्थ का बोध अनुमान करा देता है इस बात को हम नहीं मानते हैं)

टि०–सिद्धान्ती पहले स्पष्ट कर चुके हैं कि यदि व्यङ्ग्यार्थ का अनुमान के अन्दर अन्तर्भाव स्वीकार किया जाय तो शब्दप्रमाण भी समाप्त हो जायेगा क्योंकि शब्दजन्य अर्थ की प्रतीति जब 'भम धम्मि अ' जैसे उदाहरणों में अनुमान से ही मान लेते हो तो शब्दप्रमाण की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। इस पर अनुमानवादी कह सकता है (क्योंकि यह अनुमानवादी भी प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और उपमान प्रमाणों को स्वीकार करते हैं) कि शब्दप्रमाण नहीं समाप्त होता क्योंकि शब्द तो अर्थ के न रहते हुए भी अर्थात् अर्थबाध होने पर किसी न किसी अर्थ का ज्ञान करा ही देता है। इसलिए शब्दप्रमाण की व्यर्थता सिद्ध नहीं होती है।

क्योंकि वैयाकरणों का सिद्धान्त है–अत्यन्तासत्यप्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति–बिल्कुल भी कोई अर्थ न होने पर भी शब्द किसी न किसी अर्थ का ज्ञान करा देता है इस न्याय को मानकर (अनुमानवादी का) कहना है– क्योंकि निरर्थक शब्द भी कुछ न कुछ ज्ञान कराते ही हैं इसलिए शब्दप्रमाण की सत्ता बनी ही रहती है। इस पर सिद्धान्ती का कहना है कि शब्दप्रमाण का अस्तित्व तो हम भी तुम्हारी ही तरह मानते हैं परन्तु व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अनुमान से होती है ऐसा हम नहीं मानते हैं। क्योंकि व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए आपकी ओर से जो हेतु दिये गये हैं वे सब व्यभिचरित हैं और

ननु शैत्यपावनत्वाद्युपस्थितौ वृत्त्यन्तराभावादस्तु व्यञ्जना। तथापि–

एकान्ते सेवते योगं मुक्ताहारपरिच्छदः।
हंसः स मोक्षयोग्योऽपि देव किं बध्यते त्वया।।

इत्यादौ द्वितीयार्थोपस्थितौ व्यञ्जनाव्यापार इति महत् साहसम्।।

शब्दजन्य व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति इस प्रकार के व्यभिचरित हेतुओं वाले अनुमान से कदापि नहीं हो सकती। यहाँ तक अनुमानवाद का खण्डन है।

(यद्यपि गङ्गायां घोषः जैसे वाक्यों में) शैत्यपावनत्वादि रूप अर्थ को उपस्थित कराने में व्यञ्जनातिरिक्त और वृत्ति के न होने पर यहाँ तो व्यञ्जना भले ही हो जाय अर्थात् इस व्यङ्ग्यार्थ को बतलाने के लिए तो व्यञ्जनावृत्ति को स्वीकार किया जा सकता है परन्तु फिर भी 'एकान्ते सेवते योगम्' इत्यादि श्लोक में तो (अनेकार्थक शब्दों के प्रयोग द्वारा) द्वितीयार्थ की उपस्थिति में पूर्वपक्षी के द्वारा व्यञ्जना का व्यापार होता है ऐसा मानना बहुत बड़ा दुस्साहस है

1 हंसपरक अर्थ–(ए–इ=कामदेव, सम्बोधन में ए) हे कन्दर्पसदृश रूपवान् राजन्! पानी के समीप जो वृक्ष की सेवा करता है अर्थात् वृक्ष पर रहता है, मोतियों के हार के समान श्वेत डैनों वाला और छोड़ने के योग्य भी वह हंस तुम्हारे द्वारा क्यों बाँधा जा रहा है (क्यों पकड़ा जा रहा है?)

2 योगिपरक अर्थ–जो निर्जन प्रदेश में योग करता है जिसने भोजन, वस्त्र (या परिवार) का परित्याग कर दिया है, मुक्तियोग्य उस योगी को बन्धन में क्यों डाला जा रहा है?

टि०–वस्तुतः ऐसे स्थानों पर श्लेषालङ्कार को ही मानना चाहिए। ऐसे उदाहरणों को व्यञ्जना का उदाहरण मानने पर श्लेष निर्विषय हो जायेगा। अतः इन श्लेष के उदाहरणों को व्यञ्जना का उदाहरण मानना अनुचित है।

उपर्युक्त श्लोक नलचम्पू (2, 18) से लिया गया है। यहाँ हंसपरक अर्थ राजा नल को लक्ष्य करके कहा गया है। इस श्लेष के स्थल में भी व्यञ्जना मानने वाले किसी पूर्वपक्षी से सिद्धान्ती का कहना है कि जहाँ प्रकरणादि के कारण अभिधा एकार्थ में नियन्त्रित हो जाती है वहाँ द्वितीयार्थ की प्रतीति व्यञ्जना से विलम्ब से होती है परन्तु जहाँ दोनो अर्थ विवक्षित होते हैं और उनकी प्रतीति युगपत् अभिधा से ही हो रही होती है वहाँ श्लेष होता है। उपर्युक्त श्लोक में हंसपरक और योगिपरक दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही एक कालावच्छेद से एक साथ हो रही है। अतः इसे श्लेष का ही उदाहरण मानना चाहिए व्यञ्जना का नहीं।

न चैकार्थग्राहकप्रमाणादेरन्यार्थगोचरशक्तिप्रतिबन्धकत्वं तदेवापरार्थे शक्ति-नियन्त्रणमुच्यते प्राचीनैः कथमन्यथा सशङ्खचक्रो हरिरित्यादिषु इन्द्राद्यर्थानुपस्थितिरिति

क्योंकि एक अर्थ के नियामक (संयोग, विप्रयोग, साहचर्य आदि) प्रमाण आदि अन्यार्थबोधिका शक्ति के प्रतिबन्धक होते हैं। (अर्थात् अनेकार्थक शब्दों की एक अर्थ में निरुद्ध हुई शक्ति 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इस नियम से अपरार्थ को बोधित नहीं करा सकती है।) अतः वही (दूसरे अर्थ में न जाना रूप) शक्ति का नियन्त्रण है। (यह शक्ति दूसरे अर्थ में नहीं जाती है। क्योंकि वह पहले अर्थ में ही नियन्त्रित हो जाती है) यह प्राचीन आचार्यों ने कहा है। नहीं तो 'सशङ्खचक्रो हरिः इत्यादि स्थलों में इन्द्रादि अर्थों की उपस्थिति क्यों नहीं होती है? एकार्थ को बताकर यदि वह वृत्ति निरुद्ध नहीं होती तो यहाँ उसी अभिधा से ही इन्द्रादि अर्थों की प्रतीति हो जानी चाहिये थी परन्तु सशङ्खचक्रो हरिः इस उदाहरण में अभिधा से विष्णु रूप अर्थ का ही बोध होता है इसलिए एकान्ते सेवते० में भी अभिधा वृत्ति एक अर्थ को बताकर नियन्त्रित हो जाती है और दूसरे अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना कराती है। (यह पूर्वपक्ष है)

टि०—काव्यप्रकाश में अभिधामूला व्यञ्जना का निरूपण करते हुए निम्नलिखित कारिका द्वारा यह स्पष्ट किया गया है कि जब अनेकार्थक शब्द का संयोगादि के द्वारा एक अर्थ में नियन्त्रण हो जाता है तो उससे भिन्न अवाच्य अर्थ की प्रतीति कराने वाला शब्द का व्यापार व्यञ्जना कहलाता है।

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्।।

काव्यप्र० 2, 19

शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः यह नियम व्यञ्जनावादियों में विशेष रूप से प्रचलित है। इसका यह अर्थ है—एक बार रुककर शब्द, बुद्धि और कर्म के अन्दर व्यापार (क्रिया) का अभाव होता है। इन तीनों में से प्रत्येक जब अपने किसी एक व्यापार से एक कार्य को उत्पन्न कर देता है तो उसका वह व्यापार समाप्त हो जाता है। दूसरे कार्य को निष्पन्न करने के लिए उसके अन्दर व्यापारान्तर को उत्पन्न किये जाने की आवश्यकता होती है।

वाच्यम्, तत्रापरार्थप्रत्यये विलम्बाभावात्। अन्यथा व्यञ्जनाया: किं प्रयोजनम्? तत्रापि तात्पर्यग्राहकावताराच्च। सशङ्खचक्रो हरिरित्यत्रेन्द्राद्यर्थानवबोधस्तत्र तात्पर्यग्राहकानवतारात् न तु नियन्त्रणादिति चेत्, न।

यत्र एकार्थग्राहकं प्रमाणमवतरति नापरार्थे तत्राप्राकरणिकबोधाय व्यञ्जनैव शरणम्।

---

1. शब्द का उदाहरण–'गङ्गायां घोष:' जैसे उदाहरणों में गङ्गाशब्द के अभिधाव्यापार से जब एक बार प्रवाह इस अर्थ की प्रतीति हो जाती है तो अभिधा वृत्ति विरत हो जाती है और वह दूसरा अर्थ बताने में असमर्थ होती है। गङ्गातट इस दूसरे अर्थ को बताने के लिए दूसरी लक्षणा वृत्ति आती है और वह भी तट अर्थ को बताकर विरत हो जाती है। तदनन्तर इसी शब्द की तीसरी व्यञ्जना नाम की वृत्ति से शैत्यपावनत्वातिशय की प्रतीति होती है और वह वृत्ति भी अर्थबोध कराकर रुक जाती है। इस प्रकार किसी शब्द के एक व्यापार से एक काल में एक ही अर्थ का बोध होता है। उस शब्द के दूसरे अर्थ का अवबोध दूसरे काल में दूसरे व्यापार से ही होता है।

2. बुद्धि का उदाहरण–रज्जु को देरवकर द्रष्टा के अन्दर जब सर्पबुद्धि हो जाती है तो वह बुद्धि उसके अन्दर भय का सञ्चार कराकर विरत हो जाती है तदनन्तर रज्जु को रज्जु ही समझने रूप सम्यक् ज्ञान से ही द्रष्टा में अभयभावना हो सकती है। भय के उत्पादक पहले ज्ञान से इस अभयभावना को उत्पन्न नहीं किया जा सकता है। एक बुद्धि से एक ही प्रकार का कार्य होना सम्भव है दूसरी तरह के कार्य की उत्पादिका दूसरी बुद्धि होती है।

3. कर्म का उदाहरण–कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के मुँह पर चपत लगाने के लिए जो प्रयत्न करता है वह एक चपत लगाने के अनन्तर समाप्त हो जाता है। दूसरा चपत लगाने के लिए उसे नये सिरे से दूसरा व्यापार करना पड़ेगा। विरत हुए पहले व्यापार को वापिस लाने के लिए चाहे कितना ही प्रयत्न किया जाय वह वापिस नहीं आ सकता और उससे दूसरी बार चपत लगाने रूप कार्य की उत्पत्ति होना भी असम्भव है।

अत: पूर्वपक्षी का कहना है कि यहाँ दूसरा योगिपरक अर्थ व्यञ्जना से प्रतीत हो रहा हैं अभिधा से नहीं। (एकान्ते सेवते० में दूसरा अर्थ व्यञ्जना से आता है इस प्रकार की उपर्युक्त) यह बात (पूर्वपक्षी को) नहीं कहनी चाहिये क्योंकि वहाँ पर दूसरे अर्थ का ज्ञान विलम्ब से नहीं हो रहा है (एककालावच्छेद से यदि दोनों ही अर्थों की प्रतीति हो जाय) तो फिर

नन्वतिरिक्तव्यञ्जनाकल्पनापेक्षया चरममप्यभिधयैवापरार्थोपस्थितिरास्ताम्।

भ्रान्तोऽसि। न हि पदार्थान्तरं किञ्चिद् व्यञ्जना नाम। किन्तु चरममपरार्थोपस्थितिः

व्यञ्जना का क्या प्रयोजन हैं? (व्यञ्जना तो आती ही तब है जब वाच्यार्थ के बोध के अनन्तर दूसरे अर्थ की विलम्ब से प्रतीति होती है) यदि वहाँ भी शब्द बुद्धि० आदि इस नियम को मानें तो व्यञ्जना के स्थलों में भी तात्पर्य (वक्तुरिच्छा हि तात्पर्यम्-वक्ता के अभिप्रेतार्थ दूसरे अर्थ के) बोधक संयोगादि के कारण द्वितीयार्थ की प्रतीति होगी (और वह अभिधा द्वारा माननी पड़ जायेगी)।

'सशङ्खचक्रो हरिः' इस स्थल में जो इन्द्रादि अर्थ की प्रतीति नहीं हो रही है उसमें उस अर्थ के बोधक (वक्ता के) तात्पर्य का न होना ही कारण है। न कि (शक्ति का) नियन्त्रण कारण है।

टि०—पूर्वपक्षी का आशय है कि जितने भी अनेकार्थक शब्द होते हैं उनमें वक्ता का तात्पर्य देखा जाता है। सैन्धवमानय जैसे वाक्यों में प्रकरणानुसन्धान से ज्ञात होता है कि वक्ता का तात्पर्य घोड़े में है या नमक में। इसी प्रकार इस उपर्युक्त उदाहरण के अन्दर वक्ता का तात्पर्य विष्णु अर्थ को बताने में ही है क्योंकि यहाँ विष्णुपरक विशेषणों का प्रयोग है इन्द्रादि अर्थ को बताने का उसका अभिप्राय नहीं है। अतः यहाँ अभिधा के रुक जाने से दूसरे अर्थ की प्रतीति में बाधा नहीं हो रही है किन्तु उस अर्थ में वक्ता का तात्पर्य न होने के कारण यह बाधा है।

(पूर्वपक्षी की ओर से) यदि यह कहा जाय तो ठीक नहीं है। जहाँ पर संयोगादियों में से एकार्थ का निर्णायक कोई एक ऐसा प्रमाण उपस्थित होता है जो कि अपरार्थ का बोधक नहीं होता वहाँ पर प्रकरणभिन्न अर्थ को बताने के लिए व्यञ्जना ही एकमात्र शरण (उपाय है न कि दूसरी कोई वृत्ति, वस्तुतः अभिधा को रुकना ही पड़ता है)।

पूर्वपक्षी—अभिधा, लक्षणा से अतिरिक्त व्यञ्जनाव्यापार की कल्पना करने की अपेक्षा (ऐसा मानना अधिक ठीक है कि) अन्त में दूसरे अर्थ की प्रतीति भी अभिधा से ही हो जाया करे (इस प्रकार अभिधा से ही दूसरा अर्थ आ जाता है और व्यञ्जना नामक पृथक् शक्ति न मानने पर लाघव भी हो जायेगा इसलिए व्यञ्जना को नहीं मानना चाहिए)।

(सिद्धान्ती) यह आपका भ्रम है। वस्तुतः [व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति से भिन्न] व्यञ्जना नामक कोई दूसरी वस्तु नहीं है (अभिधामूला व्यञ्जना में) अन्त में

शैत्यपावनत्वादीनां वा प्रतीति: तस्या व्यञ्जनेति नाम स्थाप्यते। केचित्तु अनेनेदं नोक्तमपितु व्यञ्जितमिति प्रतीत्योर्वैलक्षण्यादभिधातो व्यञ्जना पृथक्। यथा अनुमिनोमि न साक्षात्करोमीत्यनुभवबलात् प्रत्यक्षादनुमानं पृथगिति प्राहु:। नव्यास्तु तद्धीजनकत्वमेव व्यञ्जना। सैव सर्वत्र वृत्तिर्नाभिधा न लक्षणा। शक्तिशरीरघटकत्वेन नैयायिकैरपि तस्या:

होने वाली किसी दूसरे अन्तिम अर्थ की प्रतीति अथवा (गङ्गायां घोष: जैसे लक्षणामूला व्यञ्जना के उदाहरणों में) शैत्यपावनत्वादि अर्थों की जो प्रतीति है उसी का व्यञ्जना यह नाम स्थिर कर दिया जाता है।

टि०—सिद्धान्ती का कहना है कि व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करने वाली शब्द की वृत्ति को ही व्यञ्जना नाम दिया जाता है। इस अर्थ और इस व्यापार के अतिरिक्त व्यञ्जना का कोई और दूसरा स्वरूप नहीं है इस कारण यह व्यञ्जना ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराती है अभिधा नहीं और इसका स्वतन्त्र अस्तित्व है।

कई आचार्यों का यह कहना है—इसने यह बात (शब्द से) नहीं कही है परन्तु (अर्थ से यह बात) अभिव्यक्त हो रही है इन दोनों प्रतीतियों में परस्पर भेद होने से अभिधा से व्यञ्जना अलग वस्तु है। जैसे मैं (इसका) अनुमान कर रहा हूँ (इसे) प्रत्यक्ष नहीं देख रहा हूँ इस प्रकार के पृथक् पृथक् अनुभवों की शक्ति से प्रत्यक्षप्रमाण से अनुमान प्रमाण को पृथक् माना जाता है। (इस प्रकार के शब्दव्यवहार से अभिधा और व्यञ्जना में पार्थक्य सिद्ध होता है)।

नवीन आचार्य तो ऐसा कहते हैं—उन उन अर्थों अर्थात् शब्दप्रतिपाद्य वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों के जनक व्यापार शब्दनिरूपितार्थबोधजनकत्वं व्यञ्जकत्वम् का होना ही व्यञ्जना कहलाता है। (इस प्रकार इनके मत में सभी अर्थों की एकमात्र प्रत्यायिका बुद्धि का नाम व्यञ्जना है)। वही व्यापार सब जगह है वह न अभिधा है और न लक्षणा है। और शक्ति के स्वरूप-लक्षण की घटिका-निर्मापिका के रूप में नैयायिकों ने भी उस व्यञ्जना को स्वीकार किया है।

टि०—नव्यास्तु-- पदार्थान्तरस्यैवाङ्गीकारादिति वदन्ति तक नवीन आचार्यों का व्यञ्जना का समर्थन करने वाला मत यहाँ ग्रन्थकार ने दिखाया है। नवीनों का अभिप्राय है कि यद्यपि नैयायिक व्यञ्जना नाम के किसी तत्त्व को स्वीकार नहीं करते हैं तथापि वे शब्द और अर्थ के आपसी सम्बन्ध को शक्ति रूप में स्वीकार करते हैं। पदपदार्थयो:

स्वीकारात्। न च कथं तर्हि शास्त्रे अभिधादिव्यवहार इति वाच्यं यदा सैव व्यञ्जना अनुशासनेनानुशिष्यते तदाऽभिधेति व्यवह्रियते। यदा च मुख्यार्थबाधानन्तरमन्यार्थप्रतिपत्तिस्तदा लक्षणेति व्यवहारः। यदा च बाधितार्थबोधिका तदा व्यञ्जनेत्याश्रयणात्। ननु तद्बीजनकत्वमित्यत्र जनकत्वं फलोपधानं स्वरूपयोग्यत्वं वा। नाद्यः। तस्य पूर्वं ज्ञातुमशक्यत्वात्।

सम्बन्धः शक्तिः–इस नियम का अनुसरण करते हुए वे अभिधा और लक्षणा इन दो शक्तियों को मानते हैं। यहाँ नवीनों का यह कहना है कि जैसे गङ्गायां घोषः इस वाक्य में प्रवाह रूप अर्थ की बोधिका शक्ति को अभिधा के रूप में वे नैयायिक विद्वान् मानते हैं और मुख्यार्थबाधोत्तर तत्सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति लक्षणा व्यापार से मानते हैं वैसे ही शैत्यपावनत्वादिरूप चरम अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्तिस्वरूपघटिका (शक्तिरूपिणी) इस व्यञ्जना को भी उन्हें मान लेना चाहिए।

(सभी अर्थों को बताने वाली व्यञ्जनावृत्ति ही एकमात्र वृत्ति है यदि यही माना जाय तो) विभिन्न शास्त्रों में अभिधा और लक्षणा वृत्तियों का प्रयोग क्यों देखा जाता है? इस प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए क्योंकि जब वही व्यञ्जना (अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः अथवा एष शब्द इममर्थं बोधयति इस प्रकार के) अनुशासन–सङ्केतग्रह के नियम से साक्षात् सङ्केतित अर्थ का बोध कराती है तो उस समय उसका अभिधा नाम से व्यवहार होता है। और जब (गङ्गायां घोषः जैसे उदाहरणों में) मुख्यार्थबाध के अनन्तर (मुख्यार्थातिरिक्त) दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है तो (इस अर्थ की बोधिका इस व्यञ्जना का) लक्षणा के रूप में व्यवहार नाम रख दिया जाता है और जब वह तीर में बाधित शैत्यपावनत्वादिरूप अर्थ की प्रतीति कराती है तो वह व्यञ्जना का आश्रय लेती है। (इस प्रकार की युक्ति के आधार पर शास्त्र में व्यवहार होता है। वस्तुतः व्यञ्जना के ही यह तीनों रूप हैं)।

'तद्बीजनकत्वम्' शैत्यपावनत्वादि व्यङ्ग्यार्थ का बोध कराने वाली व्यञ्जना होती है यदि आप ऐसा कहते हैं तो यहाँ जनकत्व का अर्थ शैत्यपावनत्वादि व्यङ्ग्यार्थ रूप फल का प्रत्यायक होना है या स्वरूप (लक्षण) के ज्ञान के योग्य होना अर्थात् व्यञ्जना के लक्षण को प्रदर्शित करना है। इन दोनों में से पहला अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि उस फल का ज्ञान पहले नहीं प्रतीत हो सकता है।

टि०–नवीनों पर आक्षेप करते हुए कोई पूर्वपक्षी कह सकता है कि आपने जो

नान्त्यः। तथा सति स्वरूपयोग्यतावच्छेदकस्य कस्यचिद् वक्तव्येन शक्यादिरङ्गीकरणीय एवेति चेत् न, जनकत्वस्य पदार्थान्तरस्यैवाङ्गीकारादिति वदन्ति।

'तद्बीजनकत्वमेव व्यञ्जना' यह व्यञ्जना का लक्षण बताया है इससे वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीनों अर्थों को बताने वाली व्यञ्जना होती है-यह आपका अभिप्राय है। इसके अनुसार जब यह व्यञ्जना केवल शैत्यपावनत्वादिरूप व्यङ्ग्यार्थ की बोधिका बनती है तब उपर्युक्त दो विकल्पों में आपत्ति की जा सकती है।

यहाँ आक्षेपकर्त्ता का यह अभिप्राय है-एक ही वृत्ति एक समय में तीनों अर्थों का ज्ञान नहीं करा सकती क्योंकि जिसने पहले वाच्यार्थ का बोधन कराया हुआ है वह लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनों का ज्ञान नहीं करा सकती है। पहले वाच्यार्थ का ज्ञान होता है उसका बाध होने पर लक्ष्यार्थ ज्ञात होता है तदनन्तर व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान होता है। व्यञ्जना तुरन्त ही सबसे पहले व्यङ्ग्यार्थ का बोध नहीं करा सकती।

और दूसरा विकल्प भी ठीक नहीं है वैसा मानने पर किसी स्वरूपयोग्यतावच्छेदक को कहना पड़ेगा। (लक्षण करते समय उसका शक्यतावच्छेदक अन्यूनातिरिक्त धर्म बताना होता है और पहले) किसी शक्य अर्थात् शक्तिलभ्यार्थ को मानना पड़ता है तदनन्तर किसी शक्यतावच्छेदक को स्वीकार किया जा सकेगा।

टि०-पूर्वपक्षी की शङ्का है कि दूसरे विकल्प में यदि व्यञ्जना के 'तद्बीजनकत्वमेव व्यञ्जना' इस लक्षण को व्यञ्जना का स्वरूपाधायक माना जाय तो यह अर्थ करना पड़ेगा-उस व्यङ्ग्यार्थ की बुद्धि को उत्पन्न करने वाली ही व्यञ्जना होती है इस प्रकार यहाँ यह पता नहीं चलता है कि व्यञ्जना शब्द का शक्यार्थ (वाच्यार्थ-संकेतितार्थ) क्या है? और जब शक्य के स्वरूप का ही निर्णय नहीं हुआ है तो उसके शक्यतावच्छेदक- अनुगमक धर्म (इतरव्यावर्तक विशेष धर्म) का ज्ञान कैसे सम्भव है? इस प्रकार दोनों ही विकल्पों में व्यञ्जना से युगपत् फल की प्रतीति और लक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता है इस कारण तद्बीजनकत्वमेव व्यञ्जना यह व्यञ्जना का लक्षण ठीक नहीं है।

यदि (उपर्युक्त रीति से पूर्वपक्षी का) ऐसा कहना है तो उपर्युक्त आक्षेप ठीक नहीं है क्योंकि जनकत्व जन्य से पृथक् दूसरे पदार्थ के रूप में ही माना जाता है ऐसा नवीन आचार्य कहते हैं।

टि०-आक्षेपकर्त्ता ने पहले विकल्प में कहा है कि एक ही वृत्ति एक समय में

अतिनवीनास्तु व्यञ्जनाया[1] अनुमानान्यथासिद्धिः, युज्यते च। एवं च लाघवमपि

तीनों अर्थों का बोध कैसे करा सकती है? इस लिए तद्धीजनकत्वमेव व्यञ्जना यह परिभाषा ठीक नहीं है। इस पर नवीनों की ओर से कहा जा सकता है कि यदि हम ऐसा मानते कि एक ही वृत्ति वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य रूप अर्थों को बोधित कराती है तो पूर्वपक्षी की बात सङ्गत होती किन्तु हमने व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति के लिए पृथक् ही एक व्यञ्जना व्यापार को माना है इसलिए उसमें व्यङ्ग्यव्यञ्जक का पौर्वापर्य न्यायसङ्गत है। हम अलग अलग वृत्ति से अलग अलग अर्थ की प्रतीति मानते हैं। अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना वृत्ति से उत्पन्न उनके वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य यह त्रिविध अर्थ पृथक् होते हैं। यद्यपि अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना ये तीनों ही नाम तात्त्विक दृष्टि से व्यञ्जना के ही नाम हैं परन्तु भिन्न भिन्न काल में भिन्न भिन्न स्वरूप को धारण करते समय भिन्न भिन्न नामों के होने में कोई दोष नहीं आता है। जैसे एक नट भिन्न भिन्न अवसरों पर अनेक भूमिकाओं को करते समय अनेक रूपों को धारण कर लेता है वैसे एक व्यञ्जना ही पृथक् पृथक् काल में पृथक् पृथक् रूप धारण कर लेती है और अलग अलग तरह के अर्थों को अलग अलग अवसरों पर प्रकट कर देती है। एक ही लगुड से समय समय पर सर्पमारण, घटचक्रचालन और पशुताडन आदि अनेक कार्य हो जाया करते हैं।

आक्षेप करते हुए पूर्वपक्षी ने दूसरे विकल्प में कहा था तद्धीजनकत्वमेव व्यञ्जना–उस व्यङ्ग्यार्थ की बुद्धि को ही उत्पन्न करने वाली व्यञ्जना है इस परिभाषा में व्यङ्ग्यार्थ और व्यञ्जना का अभेद जैसा हो जाता है और फिर शक्यतावच्छेदक को ढूँढना कठिन हो जाता है। इसके उत्तर में नवीनों की ओर से कहा जा सकता है क्योंकि जन्य से अर्थात् कार्य से जनक अर्थात् कारण पृथक् रूप में स्वीकार किया जाता है इसलिए जन्यभूत व्यञ्जना बुद्धि और उसकी जनिका व्यञ्जना शक्ति में अभेद नहीं हो सकता दोनों ही पृथक् 2 पदार्थ हैं। जैसे दण्ड, चक्र, सलिल और कुलाल यह सब निमित्त कारण अपने कार्य घट से पृथक् होते हैं वैसे ही व्यङ्ग्यार्थबोधिका व्यञ्जना भी निमित्त कारण होने से व्यङ्ग्यार्थ से पृथक् होती है। इसलिए इन दोनों का पार्थक्य सिद्ध होने पर शक्य और शक्यतावच्छेदक ढूँढने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी। इसी प्रकार लक्ष्य में लक्ष्यतावच्छेदक और व्यङ्ग्य में व्यङ्ग्यतावच्छेदक ढूँढने में भी सरलता हो जायेगी। 'गङ्गायां घोषः' में शीतता और पावनता व्यङ्ग्यार्थ हैं और शीतत्व और पावनत्व अवच्छेदक हैं।

अतिनवीनों का कहना है कि व्यञ्जना की अनुमान से ही अन्यथासिद्धि

---

1. अ, व्याञ्जनया ज त

भवति। हेतुज्ञानादीनां ज्ञानत्वेनैव जनकत्वाङ्गीकारसम्भवात्। व्यञ्जनाया यथाकथञ्चित् सम्भावनामात्रादेव व्यञ्जकत्वादिति वदन्ति।

यत्तु गतोऽस्तमर्क इति वाक्यश्रवणाद् वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्यान्नानार्थोपस्थिति-

---

(व्यर्थता) हो जाती है अर्थात् अनुमान के अन्दर व्यञ्जना का अन्तर्भाव हो जाता है। और यह ठीक भी है इस तरह (व्यञ्जना को पृथक् शक्ति न मानने पर) लाघव भी होता हैं क्योंकि हेतुज्ञानादियों के ज्ञानमात्र से ही उनकी जनकता को मानना सम्भव है और क्योंकि व्यञ्जना में किसी न किसी रूप में थोड़े बहुत अंश में (साधन या हेतु की स्थिति से युक्त होकर ही) व्यञ्जकत्व रहता है अर्थात् इस प्रकार व्यञ्जना की व्यञ्जकहेतुता सिद्ध हो जाती है। (व्यञ्जना को एक प्रकार का हेतु मान लेने और उससे प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ को हेतुमान् मानने से अनुमान में ही व्यञ्जना का अन्तर्भाव हो जाता है यह अतिनवीन आचार्यों का कहना है)।

टि०–अनुमान में ध्वनि का अन्तर्भाव करने वाले व्यञ्जनाविरोधी इन अतिनवीन आचार्यों का यह अभिप्राय है कि जैसे हेतु के ज्ञानमात्र से किसी हेतुमान् की जन्यता उस हेतु से सिद्ध हो जाती है इसी प्रकार व्यञ्जना के जानने भर से ही व्यङ्ग्यार्थ रूप कार्य और व्यञ्जकता रूप जनकता (हेतुरूपता) सिद्ध हो जाती है। जैसे 'पर्वतोऽयं वह्निमान् धूमात्' यहाँ पर धूम रूप हेतु के ज्ञान से ही उसकी कार्यजनकता अर्थात् साध्यसाधकता का ज्ञान हो जाता है और धूमात् कहने से इस बात का अवबोध हो जाता है कि यह किसी का साधक है। और जैसे अनुमान में वह्नि और धूम का साध्यसाधकभाव है वैसे ही व्यङ्ग्यार्थ और व्यञ्जना में विद्यमान व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव भी हेतुहेतुमद्भाव का ही रूप है और अनुमान का ही एक भेद है। इस प्रकार व्यञ्जना में अनुमान का अंश रहने से इन दोनों में अपार्थक्य है। इनको एक मानने पर व्यञ्जना नामक पृथक् वृत्ति न मानने पर लाघव भी हो जाता है।

और जो गतोऽस्तमर्कः सूर्य छिप गया है इस वाक्य को सुनने से वक्ता, बोद्धा और चेष्य आदि की विशेषता के कारण नाना अर्थों की उपस्थिति व्यञ्जना से ही होती है– इस प्रकार का मत बतलाते हैं वह विचारणीय (दूषित) है क्योंकि एक सम्बन्धी (हस्ती) के ज्ञान से तत्सम्बद्ध इतर सम्बन्धियों (हस्तिपक आदियों) की जैसे स्मृति हो जाती है (इसके लिए किसी वृत्त्यन्तर को मानने की आवश्यकता नहीं होती) वैसे ही 'गतोस्तमर्कः'

व्यञ्जनयैवेति वदन्ति तच्चिन्त्यम्, एकसम्बन्धिज्ञानादपरसम्बन्धिस्मरणवदुपपत्तेः। न हि गजदर्शनोत्तरमाधोरणस्मरणेऽपि वृत्तिमङ्गीकुर्म इत्यलं पल्लवितेन।

इस वाक्य के सूर्य छिप गया है इस वाच्यार्थ का अभिधा से ज्ञान हो जाने पर तत्सम्बन्धी इतरार्थ का भान स्मरण से हो जाता है इस प्रमाण से यहाँ किसी वृत्त्यन्तर को माने बिना ही काम चल सकता है और न ही हम हाथी को देखने के बाद उस हाथी के साथ सम्बद्ध हस्तिपक के ज्ञान के स्मरण में भी और किसी वृत्ति को स्वीकार करते हैं। (इस प्रकार इस व्यञ्जनाविरोधी) मत को अधिक विस्तार से बताने की आवश्यकता नहीं है।

टि०—नियम यह है कि एकसम्बन्धिज्ञानमपरसम्बधिस्मारकम्–दो परस्पर सम्बद्ध पदार्थों का जब पहले ज्ञान हो जाता है तो उनमें से किसी एक को अलग देखते समय दूसरे का ज्ञान स्मरणमात्र से हो जाता है। जैसे किसी व्यक्ति ने हाथी और महावत को एक बार इकट्ठा देख लिया है तो कालान्तर में जब वह अकेले हाथी या अकेले महावत को देखता है तो उस हाथी को देखते समय दूसरे प्राणी महावत अथवा महावत को देखते समय हाथी का स्वतः स्मरण हो जाता है इसके लिए अन्य किसी प्रकार के व्यापार की कल्पना नहीं की जाती। इसी प्रकार 'गतोऽस्तमर्कः' इस वाक्य को सुनने के बाद श्रोता को सूरज छिप गया है इस वाच्यार्थ की प्रतीति अभिधा से हो जाती है और इस अर्थ से सम्बद्ध–प्रिय अभी आने वाले हैं इस अर्थ की प्रतीति स्मृति से ही अपने आप हो जाती है। इसके लिए अभिधा के अतिरिक्त और किसी वृत्ति को मानने की क्या जरूरत है?

यहाँ ग्रन्थकार आचार्य विश्वनाथदेव ने सबसे अन्त में अतिनवीनों का व्यञ्जनाविरोधी मत दिखलाया है। यह मत 'अतिनवीनास्तु' से आरम्भ होता है और 'वृत्तिमङ्गीकुर्मः' पर समाप्त होता है। 'इत्यलं पल्लवितेन' यह उक्ति सिद्धान्ती (ग्रन्थकार) की है। तीनों ही हस्तलिखित प्रतियों में से जम्मू और तिरुपति वाली ज और त दो प्रतियों में यह पाठ मिलता है–अतिनवीनास्तु व्यञ्जनया अनुमानान्यथासिद्धिः। अलवर की हस्तलिखित प्रति में व्यञ्जनाया अनुमानान्यथासिद्धिः पाठ मिलता है यदि 'ज त' पाठ के अनुसार अर्थ करना आरम्भ करते हैं तो अगली पङ्क्तियों का अर्थ लगाना कठिन हो जाता है और आगे जाकर 'यत्तु गतोऽस्तमर्क......व्यञ्जनयैवेति वदन्ति तच्चिन्त्यम्' इस पाठ से तो यह स्पष्ट ही हो जाता है कि यहाँ अनुमानवादियों की ओर से ही व्यञ्जना का खण्डन किया जा रहा है। अतः यहाँ 'अतिनवीनास्तु

व्यञ्जनाया अनुमानान्यथासिद्धि:' यही पाठ स्वीकार करके अतिनवीन अनुमानवादियों का पक्ष प्रस्तुत किया है। 'इत्यलं पल्लवितेन' कहकर ग्रन्थकार ने इन अतिनवीनों के मत का खण्डन मौन रहकर किया है। आचार्य विश्वनाथदेव ने इससे पहले ही अभिधावादी, लक्षणावादी और अनुमानवादी का खण्डन बड़े विस्तार से दिखा दिया है और एतदर्थ बड़ी अकाट्य युक्तियों का प्रयोग किया है। अतिनवीनों के मत को भी उन्हीं पूर्वोक्त युक्तियों के आधार पर काटा जा सकता है यह मानकर उन्होंने यहाँ नये सिरे से इस मत का खण्डन करने की आवश्यकता नहीं समझी है।

'अतिनवीनास्तु व्यञ्जनाया अनुमानान्यथासिद्धि:' का यह अभिप्राय है–अतिनवीन आचार्यों का यह मत है कि व्यञ्जना की अनुमान के द्वारा अन्यथासिद्धि हो जाती है अर्थात् अनुमान के रहते हुए व्यञ्जना की अन्यथासिद्धि (व्यर्थता–अनपेक्षिता) होने के कारण व्यञ्जना शक्ति को अलग से मानना व्यर्थ है। अन्यथासिद्ध पदार्थ का विशेष धर्म ही अन्यथासिद्धि है। जिसके बिना कोई काम न रुके इस प्रकार का व्यर्थकारण अन्यथासिद्ध कहलाता है जैसे घटोत्पत्ति रूप कार्य में रासभ अन्यथासिद्ध कारण है। मिट्टी लाने का कार्य गधे के स्थान पर मनुष्य भी कर सकता है। यदि मिट्टी पास ही है तो कुम्हार उसे स्वयं भी ला सकता है। अत: गधे की इस घटोत्पत्ति रूप कार्य में अनिवार्य रूप में उपयोगिता न होने से वह अन्यथासिद्ध कारण है। किन्तु दण्डचक्रचीवरादि की घटोत्पत्ति में अनिवार्य रूप से उपयोगिता होने के कारण वह सब वस्तुएँ अनन्यथासिद्ध हेतु होती हैं। स्थूल रूप से अन्यथासिद्धि का अर्थ व्यर्थता किया जा सकता है। इस प्रकार अनुमानवादी का कहना है कि अनुमान के रहते हुए व्यञ्जना की व्यर्थता है। अत: गतोऽस्तमर्क: जैसे स्थलों में द्वितीयार्थ (प्राप्तप्राय: प्रेयान् आदि अर्थ) की प्रतीति अनुमान से ही हो जाती है। अपने इस सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए यहाँ इन्होंने ये तीन युक्तियाँ उपस्थित की हैं–

1. हेतुज्ञानादीनां ज्ञानत्वेनैव जनकत्वाङ्गीकारसम्भवात्।
2. व्यञ्जनाया यथाकथञ्चित्सम्भावनामात्रादेव व्यञ्जकत्वात्।
3. एकसम्बधिज्ञानादपरसम्बन्धिस्मरणवदुपपत्ते:। न हि गजदर्शनोत्तरमाधोरणस्मरणेऽपि वृत्तिमङ्गीकुर्म:।

जैसा कि यहाँ पहले निर्देश कर चुके हैं–इत्यलं पल्लवितेन कहकर ग्रन्थकार ने मौन रहकर ही अनुमानवादियों के मत का खण्डन करना अधिक उचित समझा है 'इत्यलं पल्लवितेन' से अभिप्राय है कि अनुमानवादियों के मत को काटने के लिए अब नये सिरे से नई युक्तियाँ देने की आवश्यकता नहीं है। इससे अनावश्यक विस्तार

हो जायेगा। अतः ऊपर दी हुई युक्तियों के आधार पर ही उनके मत का खण्डन समझा जा सकता है। वस्तुतः बात भी यही है। ग्रन्थकार ने इन व्यञ्जनाविरोधी मतों को प्रारम्भ में ही–केचित्तु यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इति न्यायाद् व्यङ्ग्ये अर्थे शक्तिरेव, परे तु लक्षणयैव व्यञ्जनान्यथासिद्धिः 'तार्किकास्त्वनुमानेनेति' (2,19 वृत्ति) इन शब्दों में रखा है और उसके बाद प्रत्येक मत का खण्डन किया है। नव्यास्तु तद्बीजनकत्वमेव व्यञ्जना सैव सर्वत्र वृत्तिर्नाभिधा न लक्षणा (2,19 वृत्ति) कहकर नवीनों के मत को दिखा दिया है और इनके मत से ग्रन्थकार सर्वथा सहमत भी हैं इस कारण 'नव्यास्तु' से आरम्भ करके पदार्थान्तरस्यैवाङ्गीकारादिति वदन्ति पर्यन्त (2,19 वृत्ति) इनके मत का प्रतिपादन ही किया है और खण्डन करने की आवश्यकता ही नहीं समझी है। किन्तु 'अतिनवीनास्तु से लेकर अङ्गीकुर्मः (2,19 वृत्ति) तक दिये हुए मत के प्रति असहमति होने के कारण इसका उल्लेख करके ही छोड़ दिया है। इस बात की पुष्टि एक तो पूर्वापरसङ्गति को देखकर हो जाती है क्योंकि नव्यों के मत के प्रतिपादन से पहले वह अनुमानवादियों के मत का युक्तिपूर्वक खण्डन कर आये हैं और इत्यलं पल्लवितेन के तुरन्त बाद ही लिखी गई कारिका (2,20) में उन्होंने व्यञ्जना की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से की है इससे भी स्पष्ट है कि ग्रन्थकार स्वयं व्यञ्जनावादी ही हैं और यहाँ उन्होंने अतिनवीनों का पक्ष दिखला भर दिया है। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह है कि 'अलं पल्लवितेन' इस कथन से यह अर्थ निकल रहा है कि इस प्रकार के अनावश्यक और व्यञ्जनाविरोधी मत की और अधिक चर्चा नहीं करनी चाहिए क्योंकि अप्रिय प्रसङ्ग के बार बार कहने से मानसिक खेद ही होता है।

अतिनवीनवादी की ओर से दी गई इन उपर्युक्त युक्तियों का खण्डन व्यञ्जनावादियों की युक्तियों के आधार पर इस प्रकार किया जा सकता है–

1. हेतुज्ञानादीनां ज्ञानत्वेनैव जनकत्वाङ्गीकारसम्भवात्–हेतु के ज्ञानादियों के ज्ञानमात्र से ही उनकी जनकता को मानना सम्भव है। जैसे हेतु के ज्ञानमात्र से ही किसी हेतुमान् की जन्यता उस हेतु से सिद्ध हो जाती है इसी प्रकार व्यञ्जना के जानने भर से ही व्यङ्ग्यार्थ रूप कार्य और व्यञ्जकता सिद्ध होती है। इस प्रकार अनुमानवादी की युक्ति से व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान अनुमान से हो जाता है और 'भम धम्मि अ' जैसे स्थलों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव न होकर हेतुहेतुमद्भाव या अनुमाप्यानुमापकभाव ही होता है यह बात अनुमानवादी के पक्ष में सिद्ध होती है। किन्तु व्यञ्जनावादी (काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में) कहते हैं सिंहोपलब्धि यह एक हेतु अनैकान्तिक, विरुद्ध और स्वरूपासिद्ध रूप में तीन प्रकार का हेत्वाभास होने से साध्य (व्यङ्ग्यार्थ) का अनुमान कैसे करा सकता है? अतः अतिनवीनों की इस

अतिनवीन युक्ति से व्यञ्जनावादियों के सिद्धान्त पर कोई आँच नहीं आती क्योंकि अनुमानवादियों के पक्ष में हेत्वाभास का दोष पूर्ववत् ही बना रहता है।

2. व्यञ्जनाया यथाकथञ्चित्सम्भावनामात्रादेव व्यञ्जकत्वात्–क्योंकि व्यञ्जना में किसी न किसी रूप में थोड़े बहुत अंश में साधन या हेतु की स्थिति से युक्त होकर ही व्यञ्जकत्व रहता है। इस कारण इस व्यञ्जकत्व हेतु को व्यङ्ग्यार्थ रूप हेतुमान् का साधन माना जा सकता है और इस प्रकार व्यञ्जना को अनुमान ज्ञान का ही एक प्रकार बताया जा सकता है। किन्तु अनुमानवादियों की ओर से यह कहा जाना ठीक नहीं है कि व्यञ्जनावादियों का यथाकथञ्चित् सम्भावना मात्र से काम चल जाता है। वस्तुतः किसी भी अर्थ से दूसरे किसी भी प्रकार के अर्थ की व्यञ्जना तब तक नहीं हो पाती जब तक एक अर्थ से दूसरे अर्थ के ज्ञान होने में वक्ता, बोद्धा, प्रकरण आदि का वैशिष्ट्य विशेष आधार नहीं बनता है। अन्यथा पूर्वो धावति का अर्थ भी अपरो धावति होने लगेगा। यदि सब वाक्यों की सब में व्यञ्जना हो जाये तो सारे काव्यजगत् में आकुलीभाव हो जायेगा और अर्थों में अस्तव्यस्तता, अस्थिरता और अस्पष्टता आ जायेगी। इसके अतिरिक्त यदि दुर्जनतोषन्याय से यह स्वीकार भी कर लिया जाय कि व्यञ्जना जिस किसी प्रकार की सम्भावनामात्र से अर्थात् सब तरह की सम्भावना और सब तरह की कल्पनामात्र से इतरार्थ का बोध करा देती है तो इससे यह बात तो सिद्ध नहीं होती कि इतने मात्र से ही व्यञ्जना में साध्यसाधकता या हेतुहेतुमद्भाव हो जाता है। वस्तुतः ऐसे स्थलों में व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव ही होता है। 'भम धम्मिअ वीसद्धो' में वाच्यार्थ व्यञ्जक है और निषेधार्थ व्यङ्ग्यार्थ है। वस्तुतः अनुमान में तो किसी विशेष प्रकार के धूमादि साधन से किसी विशेष प्रकार के वह्न्यादि साध्य का निश्चित रूप से अनुमान किया जाता है किन्तु व्यञ्जना में अन्यार्थ के ज्ञान के लिए किसी विशेष प्रकांर के (वक्तृबोद्धव्यादि के वैशिष्ट्य से अतिरिक्त) साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँ तक कि वर्ण, पद, पदांश, वाक्य इत्यादि की भी कोई विशेष आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि अक्षिसञ्चालन, भुजविक्षेप आदि चेष्टाओं से भी व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान हो जाता है। इस कारण व्यञ्जना में रहने वाले यथाकथञ्चित् व्यञ्जकत्व को साधन रूप में बरतकर अनुमान ज्ञान के लिए उपयोगी सिद्ध नहीं किया जा सकता।

3. एकसम्बन्धिज्ञानादपरसम्बन्धिस्मरणवदुपपत्तेः। न हि गजदर्शनोत्तरमाधोरण-स्मरणेऽपि वृत्तिमङ्गीकुर्मः। जैसे एक सम्बन्धी (हस्ती) के ज्ञान से तत्सम्बद्ध (हस्तिपक) की स्मृति हो जाती है उसके लिए किसी वृत्त्यन्तर को मानने की

आवश्यकता नहीं होती वैसे ही गतोऽस्तमर्कः इस वाक्य में वाच्यार्थ का ज्ञान अभिधा से होने के बाद यह अर्थ अपने से सम्बद्ध 'प्राप्तप्रायः प्रेयान्' इस अर्थ का स्वयं स्मरण करा देता है। यहाँ इस प्रकार की प्रतीति के लिए व्यञ्जना जैसी अलग वृत्ति न मानकर स्मृति से स्वतः दूसरे अर्थ का ज्ञान मान लेना चाहिए यह अनुमानवादी का अभिप्राय है। इसके खण्डन में व्यञ्जनावादियों की ओर से यह कहा जा सकता है कि स्मृति भी शाब्दबोध में हेतु होती है इस कथन में कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है। आज तक किसी आचार्य ने नहीं माना है कि स्मृति (स्मरण) भी किसी प्रकार से वाच्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ अथवा अन्य किसी अर्थ को बताती है। वस्तुतः स्मृति से तो वाच्यार्थ तक का ज्ञान होना भी कठिन है व्यङ्ग्यार्थ तो और भी आगे की बात है। अतः गजदर्शन के बाद हस्तिपक की स्मृति अपने आप हो जाती है इस मत में जरा भी दम नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के स्मरण से यदि सर्वत्र शाब्दबोध होने लगे तब तो नया झमेला पैदा हो जायेगा। हाथी को देखकर यदि पीलवान की स्मृति हो जाती है तो उसे देखकर उसके निवास स्थान पर पड़े हुए मूत्र पुरीष आदि की भी स्मृति होने से उनका भी ज्ञान हो सकता है किन्तु इस प्रकार के जाने गये अनपेक्षित ज्ञान की न तो कोई उपयोगिता है और न ही किसी प्रकार की सार्थकता या प्रामाणिकता है। यह स्मरणजन्य ज्ञान सन्दिग्ध, अस्पष्ट और अनैकान्तिक रहेगा। दूसरी बात यह है कि यह उक्ति 'शाब्दी ह्याकाङ्क्षा शब्देनैव पूर्यते' इस प्रसिद्ध नियम के विपरीत पड़ती है। इस नियम के द्वारा यह बात समझाई जाती है कि जो आकाङ्क्षा शब्द द्वारा समझाने योग्य है वह किसी शब्द के प्रयोग के द्वारा ही समझाकर पूरी की जाती है। उदाहरणार्थ कोई प्यासा व्यक्ति जब तक अपने मुख से पानी लाओ इन शब्दों का उच्चारण नहीं करेगा तब तक उसकी जल ही लेने की आकाङ्क्षा है दूध या चाय लेने की नहीं इस प्रकार का न तो निश्चयात्मक ज्ञान ही होगा और न ही श्रोता तदनुरूप कार्य ही करेगा। पानी लाओ– इन मुखोच्चारित पदों के ज्ञान से उत्पन्न ज्ञान को जैसे स्मृति ज्ञान नहीं माना जाता वैसे ही 'गतोऽस्तमर्क्कः' जैसे वाक्यों के श्रवण के बाद हुआ ज्ञान भी स्मृति के अन्तर्गत नहीं आता। इसके अतिरिक्त स्मृति प्रतीतमात्र अर्थ को बताती है जब कि शब्दजन्य ज्ञान वृत्तिजन्य ज्ञान को ही बताते हैं। यदि स्मृतिजन्यज्ञान की भाँति वृत्तिजन्यज्ञान को भी प्रतीतमात्र में मानने लग जायें तो पूर्वो धावति का अर्थ अपरो (पश्चाद्वर्ती) धावति भी मानना पड़ जायेगा क्योंकि यहाँ इस वाक्यार्थ का भी स्मरण होता है। साहित्यदर्पणकार ने भी स्मृति र्न च रसादिधीः (सा० द० 5, 4) कहकर व्यञ्जना का स्मृति में अन्तर्भाव करने वाले इन अनुमानवादियों के मत का खण्डन किया हैं।

प्रत्युज्जीवयति स्वकीयविभवैः शक्त्या परं कुण्ठितं
नानार्थैः सरसीकरोति सहसा सामाजिकानां मनः।
बाधाद् भीतिरहो फलग्रहिलया त्यक्ता परं दूरतः
सेयं वारविलासिनीव विदुषामास्ते हृदि व्यञ्जना।।20।।

इति श्रीसाहित्यसुधासिन्धौ द्वितीयस्तरङ्गः।

अतः पूर्वापर प्रसङ्ग को दृष्टि में रखकर यह कहा जा सकता है कि व्यञ्जनावादी सिद्धान्ती अतिनवीनों के व्यञ्जनाया अनुमानान्यथासिद्धिः इस ध्वनिविरोधी सिद्धान्त के पक्ष में नहीं है।

1. व्यञ्जनापक्ष–(जो व्यञ्जना) अभिधा शक्ति से अत्यधिक जड़ बने हुए (काव्यास्वादानुभूतिशून्य) सहृदयों के मन को अपने चमत्कार भरे सामर्थ्यों और अपनी महत्ताओं से पुनरुज्जीवित–प्रफुल्लित कर देती है और अकस्मात् ही अनेक अर्थों से युक्त करके (पहले नीरस बने हुए) उसे सरस बना देतो है। और आश्चर्य तो यह है कि (पश्य निश्चलनिष्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका। मरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव।। काव्यप्रकाश 2, 8 जैसे स्थलों में विश्वासयुक्तत्वादि अनेकविध व्यङ्ग्यार्थ रूप) फल को ग्रहण करने वाली जिसने मुख्यार्थ के बाध के भय को बहुत दूर से ही छोड़ दिया है अर्थात् जिसमें मुख्यार्थ का बाध होता नहीं है इस प्रकार की यह अभिधामूला व्यञ्जना (रूप रसध्वनि) विद्वानों के हृदय में (विलासियों के हृदय में रहने वाली) वेश्या के समान होकर रहती है।

2. वेश्यापक्ष–वेश्या सम्भोगकामना से सर्वथा विमुख विलासियों के मन को हावभावादि रूप अपनी शक्तियों से–अदाओं से पुनरुज्जीवित (फिर से उत्कण्ठित करके) आलिङ्गनचुम्बनादि के लिए सक्षम बना देती है और फिर अचानक उसे कामसम्बन्धी बहुविध भावों से युक्त करके शृङ्गार रस से परिपूर्ण कर देती है और वह धनादि रूप फल को ग्रहण करने की इच्छा से लोकापवाद रूप बाधा से उत्पन्न भय का दूर से परित्याग कर देती है ऐसी वेश्या चतुर और रसिक विलासियों के हृदय में विद्यमान रहती है।

इस प्रकार श्रीसाहित्यसुधासिन्धु में द्वितीय तरङ्ग समाप्त हुई।

—•—

तृतीयस्तरङ्गः

अथ ध्वन्यवान्तरभेदमाह–

यत्र वाच्यविवक्षा नो तात्पर्यविषयान्वये।
अर्थान्तरसमालम्बात्तिरस्काराच्च स द्विधा।। 21।।

तिरस्कारश्च शक्यस्य सर्वथा अनन्वयित्वादन्वयाप्रतियोगित्वम्।

इसके बाद ध्वनि के अवान्तर भेदों (भेदोपभेदों) को ग्रन्थकार कहते हैं (पहले यहाँ लक्षणामूलध्वनि के भेद बताये गये हैं)।

जिस ध्वनि में वाच्यार्थ की विवक्षा न हो (वाच्यार्थ बताना वक्ता को अभीष्ट न हो और उसमें) तात्पर्यभूत (वक्ता के अभीष्ट प्रयोजन की पूर्ति करने वाले व्यङ्ग्य रूप) विषय के साथ अन्वय (सङ्गति) के लिये (वाच्यार्थ या तो) दूसरे अर्थ का आलम्बन बने (अथवा उसका) तिरस्कार हो जाय तो वह (ध्वनि) दो प्रकार की होती है (इस प्रकार इस ध्वनि के अर्थान्तरसङ्क्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत यह दो भेद होते हैं)।। 21।।

(कारिका में कहे गये) तिरस्कार शब्द का (अभिप्राय लक्ष्यार्थ के साथ) वाच्यार्थ के पूर्णतया अनन्वयी–अन्वित न होने के कारण वाच्यार्थ का अन्वय और (विशेषण) न हो पाना है।

टि०–प्रतियोगी का अभिप्राय विशेषण है और अनुयोगी का विशेष्य है। गङ्गायां घोषः' (जैसे वाक्यों) में वाच्यार्थ प्रवाह और लक्ष्यार्थ गङ्गातीर इन दोनों अर्थों में प्रतियोग्यनुयोगिभाव अर्थात् विशेष्यविशेषणभाव सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि यहाँ घोषाधिकरणत्व रूप कार्य में वाच्यार्थ प्रवाह का सर्वथा सम्बन्ध नहीं है। विशेष्यविशेषणभावसम्बन्ध दोनों में समानाधिकरण होने पर रहता है। यहाँ शक्यार्थ और लक्ष्यार्थ में स्वसामीप्यभावसम्बन्ध (स्व=प्रवाह और उसका सामीप्य तीर में रहता है) तो है किन्तु वह विशेष्यविशेषणभाव रूप में नहीं है। दो पदार्थों में समानाधिकरण रूप सम्बन्ध का न होना अनन्वय का अर्थ है। 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि

व्यङ्ग्यं यत्र चमत्कारि मुख्यार्थाबाधपूर्वकम्।
विबुधैरभिधामूलः स ध्वनिः परिकीर्तितः।। 22।।

वाच्यव्यङ्ग्यक्रमाबोधात्तद्बोधाच्च द्विधा मतः।
अगण्यो रसभावादिभेदेन प्रथमो ध्वनिः।। 23।।

यत्रेति। ध्वनिर्द्विविधः। लक्षणामूलो अभिधामूलश्च। अयमेवाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यः। प्रथमो द्विविधः। अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्च। द्वितीयोऽप्यसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति चतुर्धा।

आदिपदात् तदाभासादयः। तत्र लक्षणामूलो अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा-

---

वाक्यों में तो समानाधिकरणता होने से चन्द्रप्रतियोगिक मुखानुयोगिक शाब्दबोध होता है किन्तु यहाँ शक्यार्थ प्रवाह और लक्ष्यार्थ तीर की समानाधिकरणता नहीं है। अतः यहाँ प्रवाहप्रतियोगिक तटानुयोगिक शाब्दबोध नहीं होता है।

जहाँ मुख्यार्थबाध से रहित व्यङ्ग्यार्थ चमत्कार से युक्त होता है बुद्धिमानों ने उस ध्वनि को अभिधामूल ध्वनि बताया है।। 22।।

वाच्य और व्यङ्ग्य के क्रम का ज्ञान न होने से और उस [उन दोनों] के [क्रम] का ज्ञान होने से यह ध्वनि [अभिधामूलध्वनि] दो प्रकार की है- [1. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और 2. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य]। रसभावादि के अनन्त भेदों से पहली असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि न गिनने योग्य अर्थात् असङ्ख्य भेदों वाली है।। 23।।

यहाँ यत्र से आरम्भ होने वाली कारिका में ध्वनि के भेदों का निरूपण हैं। ध्वनि दो प्रकार की है-1. लक्षणामूल और 2. अभिधामूल। यही उभयविध ध्वनि अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य होती है [लक्षणामूलध्वनि में वाच्यार्थ विवक्षित नहीं होता और उसका बाध हो जाता है और अभिधामूलध्वनि में वाच्यार्थ अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यबोधक होता है वहाँ मुख्यार्थ का बाध नहीं होता]। प्रथम लक्षणामूलध्वनि दो प्रकार की है-1. अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा 2. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य और दूसरी अभिधामूलध्वनि भी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इस रूप में दो प्रकार की है। इस प्रकार ध्वनि के चार भेद होते हैं।

टि०–ध्वनि के चार भेद इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं:-

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमुरुयुगं न चमूरुदृशः।। 17।।

अत्र द्वितीयकदल्यादिपदं जडकदलीत्वादि, लक्षणयाऽर्थान्तरे स्वविशेषरूपे वाच्यं सङ्क्रमितम्।

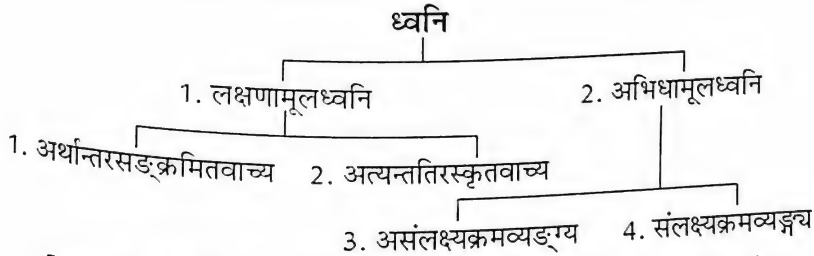

[उपर्युक्त कारिका में] 'रसभावादिभेदेन' इस पद में जो आदि पद है उसका अभिप्राय है–[रस और भाव के अतिरिक्त] उन दोनों के आभासादि अर्थात् रसाभास, भावाभास, भावसन्धि, भावप्रशम और भावशबलत्व। इन [चार भेदों] में लक्षणामूलध्वनि के अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य [का उदाहरण] जैसे–

केला केला है, हाथी का बच्चा हाथी का बच्चा है। करभ [मणिबन्ध अर्थात् कलाई से लेकर कनिष्ठिका अङ्गुली तक का हाथ का पृष्ठ भाग] करभ है, हाथी की सूँड सूँड ही है। इस मृगनयनी की यह दोनो जाँघें तीनों लोकों में भी अपना साम्य नहीं रखतीं।। 17।।

टि०–प्रसन्नराघव नाटक में स्वयंवर के समय यह रावण की उक्ति है। यहाँ वह यह बताना चाहता है कि अनिन्द्यसुन्दरी सीता की दोनों सुन्दर जांघों के लिए तीनों लोकों में कोई उपमान नहीं है।

किसी विशेष गुण को बताने के लिए पदों की पुनरुक्ति करते हैं जैसे 'प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः' इस वचन में पहले काक शब्द का अर्थ काकत्वजातिविशिष्ट पक्षी है और दूसरे काक शब्द का अर्थ लक्षणा से कटुरटनपरिपाटी-पटुत्वधर्मविशिष्ट पक्षी है पहले पिक शब्द का अर्थ पिकत्वजातिविशिष्ट पक्षी है और दूसरे पिक शब्द का अर्थ कलकाकलीकोमलत्वादिधर्मविशिष्ट पक्षी है। इसी प्रकार यहाँ पहले कदली शब्द का अर्थ कदलीत्वजातिविशिष्ट पौधा है परन्तु दूसरे कदली शब्द का अर्थ जाड्य (शैत्य) कामकेलिशून्यत्वादिधर्मविशिष्ट धर्मी है। पहले करभ शब्द का अर्थ करभत्व जातिविशिष्ट हस्ताग्रपृष्ठभाग है। द्वितीय करभ शब्द का अर्थ

स एवात्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथा–

धन्यास्ते कवयो यदीयरसना रूक्षाध्वसञ्चारिणी
धावन्तीव सरस्वती द्रुतपदन्यासेन निष्क्रामति।

ह्रस्वत्वादिधर्मविशिष्ट धर्मी है और करिराजकर पद का पहला अर्थ हाथी की सूँड है परन्तु दूसरा लक्ष्यार्थ कर्कशत्वादिधर्मविशिष्ट सूँड है। यहाँ द्वितीय कदल्यादिपद लक्षणा से अर्थान्तर में परिणत हो गये हैं। केला केला है इस उक्ति से यह अभिप्राय निकलता है कि जडत्व, मृदुत्व धर्मों के कारण तो केला सुन्दरी की जाँघों के सदृश है परन्तु केले में कमी यही बनी रहती है कि वह सदा ठंडा रहता है परन्तु यह वरवर्णिनी शीतकाल में उष्ण रहती है और ग्रीष्म में शीतल रहती है। इसी प्रकार युवा व्यक्ति का करभ यद्यपि कोमल होता है परन्तु वह बहुत छोटा होने से उतना सुखावह नहीं होता जितनी सुखदायी इसकी विशाल जङ्घायें हैं। करभ का अर्थान्तर है–हाथी की सूँड यद्यपि वह वर्तुल और सुन्दर तो होती है तथापि वह अत्यन्त कर्कश और खुरदरी होती है।

यहाँ दूसरे कदली आदि पद जडकदलीत्व आदि गुणयुक्त हैं। उनमें लक्षणा होने से मुख्यार्थ के ही अपने दूसरे विशिष्ट अर्थ में वे बदले हुए वाच्यार्थ वाले हैं अर्थात् लक्षणा से उनका दूसरा अर्थ हो जाता है।

उस [लक्षणामूल] अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि [का उदाहरण] जैसे– [सरस्वती पक्ष] वे कवि धन्य हैं जिनकी जिह्वा रूपी सरस्वती रूखे अर्थात् रसहीन काव्यमार्ग पर चलती हुई शीघ्र निकले अर्थात् बिना ज़्यादा सोचे समझे मस्तिष्क में आये हुए सुबन्त तिङन्त पदों के रखने से सूखे रास्ते पर पैर रखकर जल्दी जल्दी दौड़ती हुई नायिका के समान [श्लोकों के रूप में मुख से] बाहर आती है [अर्थात् जिनकी जिह्वा से अल्प समय में ही जल्दी जल्दी उच्चारण किये गये शब्दों से श्लोकों का निर्माण हो जाता है। किन्तु] हमारी अभिनव उदय वाली वाणियों की [अधिष्ठात्री] देवी सरस्वती शृङ्गारादि रसों से भीगे हुए–सराबोर काव्यमार्ग में [जल से पैदा हुई] फिसलन वाले मार्ग पर [सावधान होकर धीरे धीरे पैर रखकर चलती हुई] नवयौवन को प्राप्त पुष्ट एवं ऊँचे स्तनों वाली युवती की तरह मन्दगति को प्राप्त करती है।

[नायिकापक्ष]–वर्षाजलरहित सूखे रास्ते पर चलने वाली नायिका निर्भय

अस्माकं रसपिच्छिले पथि गिरां देवी नवीनोदया।
पीनोत्तुङ्गपयोधरेव युवतिर्मान्थिर्यमालम्बते।। 18।।

अत्र धन्यपदेनाधन्यत्वं लक्ष्यते। स्वोत्कर्षप्रतिपादनं व्यङ्ग्यम्।

अभिधामूलोऽसंलक्ष्यक्रमो रसभावादिभेदेनानन्तोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वम-खण्डत्वञ्चाश्रित्य एक एव गण्यते।

तत्र सप्रमाणं रसस्वरूपमाह–

होने से जल्दी जल्दी पैर रख कर दौड़ती हुई चलती जाती है। किन्तु पीनोत्तुङ्गस्तनी नवयुवती कीचड़ वाले रास्ते पर फिसलने के भय से संभल संभल कर पैर रखकर धीरे धीरे चलती है।। 18।।

टि०–यहाँ कवि ने दूसरे कवियों की रसहीन कविता को सूखे रास्ते पर सरपट दौड़ने वाली लावण्यहीन नायिका के समान बताया है और अपनी सरस कविता को फिसलन भरे रास्ते पर मन्थर गति से चलने वाली सुपुष्ट, रसिक एवं लावण्यमयी नायिका के सदृश बताया है। दूसरों की रचनाओं की अपेक्षा मेरी रसात्मिका रचना अधिक उत्कर्ष वाली है इस व्यङ्ग्यार्थ को बताना कवि का प्रयोजन है।

यहाँ पर धन्य पद से अधन्य अर्थ की लक्षणा से प्रतीति हो रही है। कवि के द्वारा अपना उत्कर्ष बताना व्यञ्जना से ज्ञात हो रहा है।

टि०–यहाँ धन्य पद ने अभिधा से अपना सौभाग्यशाली यह अर्थ बता दिया है। परन्तु प्रकरणसामर्थ्य से यह अर्थ असङ्गत हो जाता है इसलिए मुख्यार्थ का बाध होकर असौभाग्यशाली अर्थ लक्षणा से प्रतीत होता है जो कवि रसालङ्कारध्वनि की उपेक्षा करके और दोषों का विचार न कर केवल शब्दों की भरमार से जल्दी जल्दी और बड़ी संख्या में काव्यरचना करते हैं वे अप्रशंसनीय हैं और थोड़ी मात्रा में धीरे धीरे सोच कर रखे हुए पदों वाली रससङ्कुल कविता को करने वाले हमारे जैसे कवि प्रशंसनीय हैं। अतएव हमारा उत्कर्ष अधिक है। यह दूसरा अर्थ व्यञ्जना से प्राप्त होता है।

अभिधामूल असंलक्ष्यक्रमध्यङ्ग्यध्वनि अनेक रसों, भावों, रसाभासों, भावाभासादि भेदों के होने से अनन्त प्रकार की होती हुई भी अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यता और अखण्डता रूप गुणों के आधार पर एक ही गिनी जाती है।

टि०–इस ध्वनि के सारे भेदों में शीघ्रता के कारण क्रम का ज्ञान नहीं होता है। जैसे कमल की पंखुड़ियों को ऊपर नीचे रख कर कृपाण के एक ही प्रहार से काट देने

व्यज्यते यदि चेत्कार्यैः कारणैः सहचारिभिः।
काव्योपात्तैर्यदा स्थायी स रसः परिकीर्तितः।। 24।।

पर वे युगपत् कटी प्रतीत होती हैं उसी प्रकार इस ध्वनि में भी पहले विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव की प्रतीति होती है फिर स्थायिभाव का ज्ञान होता है, तदनन्तर रसानुभव होता है। किन्तु शीघ्रता के कारण यहाँ क्रम का ज्ञान नहीं होता और सबकी प्रतीति युगपत् होती हुई सी प्रतीत होती है। इसलिए इन सभी भेदों को असंलक्ष्यक्रम कहा जाता है और समष्टिरूप से एक ही मान लिया जाता है। जैसे प्रपानक (गन्ने के रस या सरदाई) में खसखस कालीमिर्च आदि अनेक पदार्थ भिन्न-भिन्न होने पर भी पेषणक्रिया से एकाकार हो जाने पर एक प्रपानकरस के नाम से पुकारे जाते हैं और उनमें पार्थक्य का तनिक भी भान नहीं होता है, इसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के मेल से अभिव्यक्त रस विभावादियों के भेद से रहित होकर अखण्ड और एकाकार प्रतीत होता है। इसलिए रस को भी अखण्ड और एक कहा जाता है।

यहाँ ग्रन्थकार प्रमाणसहित रस का स्वरूप बताते हैं–

यदि (जब कभी) काव्य में प्रयुक्त कार्य, कारण और सहचारिकारणों से स्थायिभाव की अभिव्यक्ति होती है तब वह रस कहलाता है।। 24।।

टि०–उपर्युक्त कारिका में 'यदि चेत्' ये दो पद इकट्ठे हैं। इन पदों के बिना भी इस प्रकार अन्वय हो सकता है–यदा काव्योपात्तैः कार्यैः कारणैः सहचारिभिः स्थायी व्यज्यते [तदा] सः रसः परिकीर्तितः। 'यदि चेत्' इन दोनों ही पदों का अर्थ 'यदि' माना जाये तो 'यदा' के स्थान पर 'तदा' पाठ किया जा सकता है। सामान्यतः न तो 'यदि' अथवा 'यदि चेत्' के लिये 'यदा' का प्रयोग दिखाई देता है और न ही कहीं 'यदि चेत्' का एक साथ प्रयोग देखा जाता है। 'यदि' और 'चेत्' पर्यायवाची शब्द हैं, अतः इनका युगपत् प्रयोग समीचीन भी नहीं है।

आचार्य मम्मट के भी रसाभिव्यक्ति के विषय में इसी प्रकार के विचार हैं–लोक में रति आदि रूप स्थायिभाव के जो (आलम्बन या उद्दीपन के) कारण, कार्य और सहकारिकारण होते हैं वे यदि नाटक या काव्य में प्रयुक्त होते हैं तो क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव कहलाते हैं और उन विभाव आदि रूप कारण, कार्य तथा सहकारियों के योग से व्यक्त वह रति आदि रूप स्थायिभाव रस कहलाता है। काव्यप्रकाश 4, 27-28।

1. रसनिष्पत्तिप्रक्रिया—हम देखते हैं कि जब कोई सामाजिक किसी अभिनीयमान नाटक या चलचित्र को देखता है तो उसके मन में एक अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। इसी आनन्द की अनुभूति को काव्यशास्त्र की परिभाषा में रसास्वाद कहा जाता है। यह रसानुभूति कैसे होती है? इसका उत्तर भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में विभावानुभावसञ्चारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' (ना०शा०, 6, 32 वृत्ति) इस सूत्र के द्वारा दिया है। जब विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभाव का स्थायिभाव के साथ संयोग होता है तब रस की अनुभूति होती है। इस प्रकार रस एक कार्य है जिसके विभावादि निमित्तकारण हैं और स्थायिभाव उपादान कारण है। इन सबके स्वरूप को समझने के लिए अभिज्ञानशाकुन्तलनाटक के प्रथम अङ्क के दृश्य को उदाहरण के रूप में लिया जा सकता है। नाटक के आरम्भ में सामाजिक मञ्च पर आते हुए दुष्यन्त को देखता है। वृक्ष और लताओं की ओट में छिपा हुआ दुष्यन्त शकुन्तला के अनिन्द्य रूप को अपलक दृष्टि से निहार रहा है। अभिनय में निपुण होने के कारण अङ्गों के सङ्कोचन और प्रसारण के समय रूपवती शकुन्तला का सौन्दर्य और अधिक बढ़ जाता है। भौंरे से डरकर जब वह भयविह्वल होकर, चौंककर और चीत्कार करती हुई दौड़ती है तो दुष्यन्त का मन उसके प्रति और अधिक आकृष्ट हो जाता है। जब वह भ्रमर को वहाँ से हटा देता है तब शकुन्तला कृतज्ञ भाव से उसकी ओर देखती है। दोनों ही एक दूसरे को अनुराग भरी दृष्टि से देखते हैं। सखियों से शकुन्तला के जन्म के वृत्तान्त को जानकर दुष्यन्त अत्यधिक आनन्दित हो उठता है। शकुन्तला भी अपनी सखियों और दुष्यन्त के बीच होने वाली बातचीत को सुनकर मन ही मन हर्षित होती है। इसके अनन्तर अपनी सखियों की व्यङ्ग्योक्तियों को सुनकर वह वहाँ से रूठकर चले जाने का प्रयत्न करती है। परन्तु उसका मन उसे वहाँ से हटने नहीं देता। महर्षि कण्व के आश्रम में वृक्ष ओर लताओं का प्राकृतिक सौन्दर्य, शीतल, मन्द समीर, कोकिलालाप आदि वस्तु सामग्री शकुन्तला और दुष्यन्त के हृदयों में विद्यमान रति को उद्दीपित करती है। इस सारे दृश्य को देखता हुआ सामाजिक साधारणीकरणव्यापार के प्रभाव से साधारणीकृत दुष्यन्त और शकुन्तलादि के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। तदनन्तर वह उद्बुद्ध होकर रस रूप में परिणत हुए अपने ही रत्यादिस्थायिभावों का अपने ही अन्तःकरण में आस्वादन करता है।

इस रसाभिव्यक्ति की प्रक्रिया में सर्वप्रथम मञ्च पर उपस्थित नट और नटी के माध्यम से प्रतीत होने वाले दुष्यन्त को देखकर शकुन्तला और शकुन्तला को देखकर दुष्यन्त के मन में रति का प्रादुर्भाव होता है। जब दुष्यन्त शकुन्तला की ओर देखता है तो उसके हृदय में स्थित रतिस्थायिभाव के उद्बोधन का आलम्बन शकुन्तला

बनती है और इस उद्बुद्ध रतिभाव का आश्रय दुष्यन्त बनता है। इसी भाँति जब शकुन्तला दुष्यन्त की ओर देखती है तो शकुन्तला के रतिभाव के उद्बोधन का आलम्बन दुष्यन्त बनता है और शकुन्तला अपनी उद्बुद्ध रति का आश्रय बनती है। इस प्रकार दुष्यन्त और शकुन्तला दोनों ही उद्बुद्ध रति का अनुभव करते समय बारी बारी से इस भाव के आलम्बन और आश्रय बनते हैं। सारे नाटक में आलम्बन और आश्रय बनने की यह प्रक्रिया बड़ी तेज़ी से चलती रहती है और दुष्यन्त और शकुन्तला इन दोनों को देखकर सामाजिक के चित्त के भीतर रस की अभिव्यक्ति होती है।

2. विभावादियों का स्वरूप–I विभाव–रत्यादि स्थायिभाव के उद्बोधन में जहाँ दुष्यन्त शकुन्तलादि नायकनायिकादि कारण बनते हैं वहाँ महर्षि कण्व के आश्रम में स्थित मालिनीतीर, वृक्ष, लतायें शीतल पवन, चन्द्र, चन्दन, कोकिलालाप, भ्रमरझङ्कारादि तथा नायकनायिकादि की एक दूसरे को लक्ष्य करके की गई चेष्टायें भी कारण बनती हैं। इस प्रकार रत्यादिभावों के उत्तेजन में जो मूल कारण हैं वे विभाव कहलाते हैं (रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः। सा० द० 3, 26)। क्योंकि वे नायकनायिकादि सहृदय द्रष्टा तथा श्रोताओं के रत्यादिभावों को विभावित करते हैं अर्थात् उन्हें रसास्वाद की उत्पत्ति के योग्य बनाते हैं इसलिए भी उन्हें विभाव कहा जाता है (विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते रत्यादिभावा एभिः इति विभावाः। साहित्यदर्पण 2, 26 वृत्ति)

विभाव के दो भेद हैं–1. आलम्बनविभाव और 2. उद्दीपनविभाव। साहित्यदर्पण में बताया गया है–आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् (सा० द० 3, 26) आलम्बनविभाव नायक (दुष्यन्त) आदि होते हैं क्योंकि उन्हीं का आलम्बन लेकर रस का उद्भव होता है और वहीं उद्दीपनविभाव के बारे में कहा गया है– उद्दीपन-विभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।। आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा। (सा० द० 3, 131-32) उद्दीपनविभाव वे हैं जिनसे रत्यादिस्थायिभाव तीव्र या उद्दीपित होने लगते हैं। दुष्यन्तशकुन्तलादि (आलम्बनविभावों) के द्वारा अपने अङ्गों के सङ्कोचन प्रसारण से व्यक्त की गई हाव भाव भरी चेष्टायें आदि उद्दीपनविभाव कहलाती हैं और देशकालादि (आश्रम) के लता वृक्ष, नदीतीर आदि को भी उद्दीपनविभाव कहा जाता है।

II. अनुभाव–अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में शकुन्तला को देखने रूप क्रिया के अनन्तर दुष्यन्त के चेहरे पर जो हर्षादि रूप प्रतिक्रिया होती है वह अनुभाव कहलाती है। रतिभाव के आश्रयभूत दुष्यन्त और शकुन्तला इन दोनों पात्रों में स्थायिभावों के उदय होने के पश्चात् जो शारीरिक विकार दिखाई देते हैं वे अनुभाव हैं। साहित्यदर्पण

में अनुभाव का लक्षण इस प्रकार किया गया है–उद्‌बुद्धं कारणैः स्वैः स्वै र्बहिर्भावं प्रकाशयन्। लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।। (सा० द० 3,132) अपने अपने आलम्बन या उद्दीपन कारणों से सीतारामादि आश्रयों के भीतर रति आदि रूप स्थायिभावों को जो बाह्य रूप में प्रकाशित करता है तथा जो रत्यादि का कार्य रूप है वह काव्य और नाट्य में अनुभाव कहलाता है। इस प्रकार आश्रयगत चेष्टाओं का नाम अनुभाव है।

III. व्यभिचारिभाव–क्षणिक भावों का नाम व्यभिचारिभाव है। शकुन्तला के प्रति रतिभाव उत्पन्न होने पर जब दुष्यन्त यह सोचता है कि शकुन्तला ऋषिपुत्री होने से विवाह करने योग्य नहीं है तो वह चिन्ता करने लगता है। तदनन्तर 'शकुन्तला क्षत्रकन्या है' यह जानकर उसे हर्ष होने लगता है। इस प्रकार के भाव थोड़े समय के लिए आकर चले जाते हैं। वे भाव रत्यादिस्थायिभावों के सहकारिकारण हैं। दशरूपककार का कहना है–जो भाव विशेष रूप से स्थायिभाव के अन्तर्गत कभी ऊपर उठते और कभी डूबते हैं, वे व्यभिचारिभाव होते हैं और वे भाव स्थायिभाव में इसी तरह उन्मग्न तथा निमग्न होते हैं जैसे समुद्र में तरङ्गें उठती हैं और विलीन हो जाती हैं। (दशरूपक 4, 7)।

IV. स्थायिभाव–स्थायिभाव मन के भीतर स्थिर रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है जो अनुकूल सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त हो उठता है। साहित्यदर्पण में स्थायिभाव का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है –अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः। आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः।। सा० द० 3, 174 विरोधी अथवा अविरोधी भाव जिसे छिपा न सकें वह आस्वाद का मूलभूत भाव स्थायी कहलाता है। स्थायिभाव के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए समुद्र के साथ इसकी उपमा दी जाती है। समुद्र के भीतर जाकर किसी प्रकार का भी खारा और मीठा पानी मिलकर तद्‌रूप हो जाता है। जैसे समुद्र समस्त वस्तुओं को आत्मसात् करके उन्हें आत्मरूप बना लेता है वैसे ही स्थायिभाव भी शेष सभी भावों को आत्मरूप बना लेता है। स्थायिभाव हम उस भाव को कहते हैं जो समुद्र की भाँति अपने से प्रतिकूल या अनुकूल भावों को आत्मरूप बना लेता है। आचार्य धनञ्जय ने कहा है-

> विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
> आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।। दशरूपक 4.34

रत्यादि आठ भाव स्थायिभाव कहे जाते हैं।

भरत मुनि ने कहा है–जिस प्रकार नरों में नृपति और शिष्यों के मध्य गुरु का ऊँचा स्थान होता है उसी प्रकार सारे भावों में स्थायिभाव को महान् माना जाता है-

तत्र कारणै[1] रामसीतादिभि: परस्परानुरागे परस्परं कारणै:। कार्यै: कटाक्षादिभि:। लज्जाहास्यादिभि: सहचारिभि:।[2] सामग्रीसम्पाते सहचरणात् सहचारित्वम्। सहकारिभिरिति पाठे रत्यादेरेकरूपस्य तत्तत्स्मितरुदितादिकार्यव्यञ्जनयोगेन[3] सामग्रीवैचित्र्यापादकै:।

यथा नराणां नृपति: शिष्याणां च यथा गुरु:।
एवं हि सर्वभावानां भाव: स्थायी महानिह।।

नाट्यशास्त्र 7, 8

3. रस–रसयतीति रस:–य: सामाजिकान् रसयति–जो सामाजिकों को आनन्दित करता है अथवा रस्यतेऽसौ इति रस:–जो सामाजिकों के आस्वाद का विषय बनता है वह रस है। साहित्यदर्पण में इसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है–

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मय: ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदर:।।
लोकोत्तरचमत्कारप्राण: कैश्चित् प्रमातृभि:।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रस:।।

सा० द० 3, 3-4

अन्त:करणस्थ रजोगुण और तमोगुण का अभिभव करने वाले सत्त्वगुण के उभरने के कारण, स्वत: प्रकाशमान, आनन्दस्वरूप, चेतनस्वरूप, अनुभूति के समय ज्ञानान्तर (दूसरे किसी प्रकार के ज्ञान) के सम्पर्क से रहित, ब्रह्मानन्द के सदृश, अलौकिक चमत्कार रूपी प्राण वाला यह रस अपने आकार की तरह अभिन्न रूप से (अपार्थक्य की भावना के साथ) किन्हीं पुण्यात्माओं से आस्वादित होता है।

वहाँ कारणै: से अभिप्राय रामसीतादि आलम्बन कारणों से है। वे दोनों ही परस्पर की रति में परस्पर कारण होते हैं [राम के अनुराग में सीता कारण है और सीता के अनुराग में राम कारण हैं]।

'कार्यै: से अभिप्राय कटाक्ष–तिरछी नज़र से देखना, भुजक्षेपादि से है। और 'सहचारिभि:' का अर्थ है लज्जाहास्यादि सहचारिभाव। [रसाभिव्यञ्जक] सामग्री के संयोग (मेल) में सहचर होने के कारण इन्हें

---

1. त; कारणै: ज अ
2. ज अ; लज्जाहास्यादिभि: सहचारिभि: त में नहीं
3. त; कार्यजननयोगेन ज अ

काव्योपात्तैरिति। तथा च विभावानुभावव्यभिचारिभावसञ्ज्ञालाभ इति भावः। [अथ विभावः][1] तत्र विभावो द्विधा–आलम्बनविभावो नायिकादिः। उद्दीपनविभाव [2]उद्यानादिः। तदुक्तम्[3]–

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते [वागङ्गाभिनयाश्रिताः][4]।
अनेन यस्मात्तेनासौ विभावः परिकीर्तितः॥ 25॥

सहचारी कहते हैं। 'सहकारिभिः' यह पाठ होने पर अर्थ होगा 'सहायक'। एकरूप वाले रत्यादिभावों के उन उन (अनेक) स्मित, रोदन आदि कार्यों को अभिव्यक्त करने के योग से (रस की) कारणभूत सामग्री में विचित्रता (चमत्कार) को उत्पन्न करके ये सहायक बनते हैं।

टि०–वास्तव में सारे रत्यादिभाव एक ही रूपवाले होते हैं। परन्तु जब रतिभाव स्मित रूप कार्य को प्रकट करता है तो सम्भोगशृङ्गार की अभिव्यक्ति होती है। जब रुदित कार्य को अभिव्यक्त करता है तो विप्रलम्भ की अभिव्यक्ति होती है। कटाक्षभुजविक्षेप आदि रति के कार्य हैं। लज्जा, निर्वेद आदि सभी सञ्चारिभावों से रति के इन कार्यों की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती है। इस प्रकार एक रति से अनेक कार्यों की उत्पत्ति होती है। यदि 'व्यञ्जनयोगेन' के स्थान पर ('जननयोगेन') पाठ माना जाये तो इसका अर्थ होगा–स्मित, रोदन आदि कार्य को उत्पन्न करने की कारणभूतरतिरूपसामग्री में विचित्रता को उत्पन्न करके यह सहकारिभाव सहायक बनते हैं।

'काव्योपात्तैः' [इस रूप में व्यवहृत अर्थात् प्रयोग किये गये इस पद का यह अभिप्राय है–और [जो लोक में रत्यादिस्थायिभाव की उत्पत्ति के कारण कार्य और सहकारिकारण हो जाते हैं वे यदि काव्य या नाट्य में प्रयुक्त होते हैं तो उन्हें क्रमशः] विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के नाम की प्राप्ति होती है [अर्थात् कारणादि का नाम विभावादि हो जाता है] यह तात्पर्य है। इसके बाद विभाव [का निरूपण] है यहां [काव्य या नाट्य] में विभाव दो प्रकार का है–1. आलम्बनविभाव [शकुन्तला]

---

1. ज अ त में नहीं संशोधित पाठ; यहां आगे अथानुभावः और अथ व्यभिचारी जैसे प्रयोग मिलते हैं।
2. ज अ; यह पद त में नहीं
3. ज त; तदुक्तञ्च अ
4. संशोधित; रागाङ्गाभिनयाश्रिताः ज अ; रागेणाभिनयाश्रिताः त

आलम्बनं स तु रसो यदालम्ब्य[1] प्रवर्तते।
उद्दीप्यते रसो येन स चोद्दीपनसञ्ज्ञकः।। 26।।

इति। अथानुभावाः-

नायिका आदि [आदि पद से नायक दुष्यन्त आदि का ग्रहण है] पात्र होते हैं और उद्दीपन विभाव उपवन आदि [आदि पद से चन्द्र, चन्दन, कोकिलालाप, भ्रमरझङ्कारादि का ग्रहण है] होते हैं। इसके बाद विभाव [का स्वरूप इस प्रकार] कहा है-

क्योंकि वाचिक, आङ्गिक [और सात्त्विक] अभिनय पर आश्रित [विभिन्न प्रकार के] बहुत से अर्थ [कारण, कार्य और सहकारिकारण रूप वस्तु सामग्री] काव्य और नाट्य में इसके द्वारा विशेष रूप से भावना [रसानुभूति] के विषय बनते हैं इस कारण वह विभाव कहलाता है।। 25।।

टि०-भरतनाट्यशास्त्र (7,4) से यह कारिका ली गई है और वहीं का पाठ देना यहाँ उचित समझा है। जम्मू तथा तिरुपति की प्रतियों में रागाङ्गाभिनयाश्रिताः पाठ मिलता है। इसका अर्थ रत्यादिभावानुकूल आङ्गिक, वाचिक और सात्त्विक अभिनय पर आश्रित इस रूप में किया जा सकता है और तिरुपति की प्रति में उपलब्ध 'रागेणाभिनयाश्रिताः का रत्यादिभावानुवर्तिता अर्थात् 'रसानुवर्तिता के अनुरूप किये जाने वाले अभिनय पर आश्रित होकर रहने वाले यह अर्थ हो जायेगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में सामान्यतः 'तदुक्तम्' जैसी पदावली के प्रयोग के बाद दी जाने वाली कारिका या उदाहरणों के अन्त में संख्या न देने का नियम स्वीकार किया गया है। किन्तु यहाँ विभाव का लक्षण ग्रन्थकार ने स्वयं नहीं दिया है किन्तु भरतमुनि का ही लक्षण उठाकर दे दिया है। इस प्रकार यह ग्रन्थकार की अपनी कारिका बन गई है इसलिए यहाँ संख्या दे दी है।

वह तो आलम्बन [विभाव] कहलाता है जिसको आधार बनाकर रसकी [अभिव्यक्त होकर प्रकट होने की] प्रवृत्ति होती है और जिससे [प्रकट हुआ] रस [और अधिक] उद्दीप्त [प्रज्ज्वलित और प्रकाशित] होता है वह उद्दीपन [विभाव] नाम से कहा जाता है।। 26।।

इस प्रकार [का आलम्बनविभाव और उद्दीपनविभाव का स्वरूप] है।

इसके बाद अनुभाव हैं [इनके स्वरूप का प्रतिपादन किया जाता है]-

स्थायिभावों को अनुभव का विषय करवाते हुए [इनको देखकर सहृदयों

---

1. त; यमालम्ब्य ज अ

स्थायिभावाननुभावयन्तः कटाक्षभुजक्षेपादयो रसपरिपोषकाः। अत एवाह भरतः– अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः। इति

सात्त्विका अप्यष्टौ अनुभावरूपा एव। ते तु वक्ष्यन्ते।

अथ व्यभिचारी–

सर्वत्रैवाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।। 27।।

को यह अनुभव या अनुमान हो जाता है कि नायक और नायिका परस्पर प्रेम कर रहे हैं] तिरछी नज़र, भुजसञ्चालन आदि अनुभाव रस के परिपोषक होते हैं।

इसलिए भरत ने नाट्यशास्त्र में कहा है–रत्यादिस्थायिभावों को सूचित करने वाला मनोविकार अनुभाव कहलाता है, यही अनुभाव का लक्षण है। [यह अनुभाव अन्तःकरणस्थ सङ्कल्प विकल्प रूप मानसिक विकारों को प्रकट करते हैं।] आठ सात्त्विक भाव भी अनुभाव रूप ही हैं। उनको तो आगे कहा जायेगा।

टि०–अनुभाव और सात्त्विकभाव वास्तव में एक हैं। परन्तु इन्हें पृथक् भी कहा जाता है। इनका यह पार्थक्य 'गोबलीवर्दन्याय' की तरह है। गौओं के साथ चलता हुआ साँड गौओं में ही सम्मिलित होता है और गावः आगच्छन्ति जैसे वाक्यों से गौएँ आ रही हैं और साँड भी आ रहा है इन दोनों अर्थों की प्रतीति होती है परन्तु जब साँड के विशेष आकार प्रकार को बताने की आकांक्षा होती है तो बलीवर्द का अलग से ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है। गाव आगच्छन्ति बलीवर्दोऽपि आगच्छति। इसी प्रकार यद्यपि अनुभावों के साथ ही सात्त्विकभावों का भी ग्रहण हो जाता है फिर भी क्योंकि इनकी उत्पत्ति केवल सत्त्वगुण से होती है और कटाक्षादि की उत्पत्ति सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीनों से होती है इस कारण वैशिष्ट्य से प्रदर्शन के लिये अलग से इन्हें सात्त्विकभाव कहा जाता है।

इसके बाद व्यभिचारिभाव है–

सभी रसों में अनुकूलता के साथ चलने वाले होने से ये व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। ये रत्यादिस्थायिभावों में उसी प्रकार प्रकट और लीन होते हैं जैसे समुद्र में तरङ्गें आविर्भूत और तिरोभूत होती रहती हैं।। 27।।

वस्तुतस्तु विभावनानुभावनसञ्चारणात्मकव्यापारत्रयवत्त्वमेव विभावादित्वम्।

ननु कारणादिशब्दसत्त्वे कथं विभावादिसञ्ज्ञेति चेत्, उच्यते। सामाजिकनिष्ठरत्यादीनामाराध्यत्वेन ज्ञाता: सीतादयो न कारणं येन तथा स्यु:। तेषां

वास्तव में तो विभावन, अनुभावन और सञ्चारण रूप इन तीन व्यापारों वाला होना ही विभावादि का स्वरूप है।

टि०–काव्य और नाटक में कारण के भीतर जब विभावन रूप व्यापार होता है तो वह विभाव कहलाता है, कार्य में जब अनुभावन रूप व्यापार होता है तो वह अनुभाव हो जाता है और जब सञ्चारण रूप व्यापार होता है तो सञ्चारिभाव कहा जाता है। विभावन व्यापार द्वारा आलम्बनगत रत्यादिभाव आस्वाद के योग्य बनाये जाते हैं। अनुभावन द्वारा आश्रयगत रत्यादि का सामाजिक को अनुभव होता है। सञ्चारण व्यापार द्वारा उन रत्यादिभावों का सामाजिक में विशेष रूप से सञ्चार होता है।

[पूर्वपक्षी]कारण, कार्य और सहकारिकारण इन [नामों] शब्दों के रहते हुए इनको विभावादि का नाम क्यों दिया जाता है?

टि०–पूर्वपक्षी का आशय है कि रत्यादि के उद्बोधक राम, सीतादि और उनकी चेष्टाओं को आलम्बनविभाव और उद्दीपनविभाव नाम देने की क्या आवश्यकता है? उनको कारण नाम से ही कहा जा सकता है, इसी प्रकार आश्रयगत चेष्टाओं को अनुभाव न कहकर कार्य ही क्यों न कहा जाये और स्थायिभाव को पुष्ट करने वाले व्यभिचारिभावों को भी सहकारिकारण क्यों न माना जाये?

[सिद्धान्ती] यदि उपर्युक्त शङ्का की जाती है तो उसका उत्तर यह है क्योंकि पूजनीय रूप से जाने गये सीता राम आदि पात्र सामाजिकनिष्ठ रत्यादिभाव के उद्बोधक करण नहीं बन सकते इसीलिए उन्हें कारण, उनकी प्रतिक्रियाओं को कार्य तथा सञ्चारिभावों को सहकारिकारण नहीं माना जा सकता।

टि०–अभिप्राय यह है–सीतारामादि पात्र पूजा योग्य होते हैं और सामाजिक की उनके प्रति मातृपितृवत् श्रद्धा होती है। इस कारण विभावनादिव्यापारों के बिना वे सामाजिक के सामने सामान्य नायक नायिका के रूप में उपस्थित होकर रत्याद्युद्बोध के कारण नहीं बन सकते।

और विभावन, अनुभावन और सञ्चारण नामक तीन व्यापारों वाले होने के

च विभावनानुभावनसञ्चारणाख्यव्यापारत्रयवत्त्वात्तथाविधाः सञ्ज्ञाः, तेषां च व्यापाराणां यथाक्रमं रत्यादेरीषत्प्रकाशः स्फुटतरः स्फुटतमश्च। फलं विगलितवेद्यान्तरत्वेनावस्थितिः पुरः स्फुरणादिचमत्कारित्वं च।

अथान्तःकरणवृत्तिविशेषस्य रत्यादेरभिव्यक्तावेव कथं परमानन्दरूपरसोद्बोध इति चेत्, अयमाशयः–काव्ये हि विभावादिभिरभिव्यज्यते स्थायी।

कारण ही उनकी इस प्रकार की विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव नामक सञ्ज्ञायें होती हैं।

टि०–इन व्यापारों के द्वारा सीतारामादि में सीतात्वरामत्वादि सम्बन्धविशेष का परिहार हो जाता है जिससे वह साधारण नायक नायिका के रूप में सामाजिक के समक्ष उपस्थित होते हैं और फिर साधारणीकरणव्यापार के प्रभाव से इन पात्रों के अनुकरण करने वाले नट और नटी में सर्वोपभोगयोग्यता आ जाती है।

और उन व्यापारों का सामाजिक के हृदय में क्रमानुसार पहले यत्किञ्चित् [थोड़ा] अस्पष्ट सा प्रकाश होता है फिर उससे अधिक स्फुट प्रकाश होता है और तदनन्तर सबसे अधिक स्पष्ट प्रकाश होता है। [पहले वह रामसीतादि रूप नायकनायिकादि में उनके अभिनयकौशल से आता हुआ प्रतीत होता है। उनके साथ तादात्म्य होने से उसका फिर सामाजिक के द्वारा अपने हृदय में भी अनुभव किया जाता है]।

[उन व्यापारों का] यह फल है–रसास्वाद के समय सामाजिकों की ऐसी स्थिति होती है जिसमें उनके विषयान्तरों की समाप्ति हो जाती है। इस कारण अन्य विषयों का ज्ञान उस समय उन्हें स्पर्श तक नहीं करता है और वह प्रकाश प्रत्यक्ष रूप से सामने होने वाले रस के स्फुरणादि रूप में चमत्कार से युक्त होता है। [स्फुरणादि में प्रयुक्त आदि पद से हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा इत्यादि अर्थ लिये जा सकते हैं]।

[पूर्वपक्षी] और रत्यादि स्थायिभाव विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियां (अन्तःकरण के धर्म) हैं। इनकी अभिव्यक्ति होने पर ही परम (उत्कृष्ट) आनन्दस्वरूप रस का ज्ञान कैसे हो सकता है? अर्थात् अन्तःकरण के धर्म रत्यादिभाव तो क्षणिक हैं और अचेतन हैं। विभावादि से अभिव्यक्त हुए ये भाव पूर्ण आनन्दघन रस का रूप कैसे धारण कर सकते हैं?

[सिद्धान्ती] यदि उपर्युक्त शङ्का की जाये तो हमारा यह अभिप्राय है अर्थात् हमारी ओर से इसका उत्तर इस प्रकार है–

अस्यां चाभिव्यक्तौ अन्तःकरणवृत्तिरूपायां[1] चैतन्यानन्दस्वरूपः आत्मा अपि भासते। वेदान्तिनये सर्वस्मिन्नेव ज्ञाने आत्मभाननैय्यत्यात्। आत्ममनोयोगघटिताया आत्मभानसामग्र्याः सर्वत्र सत्त्वात्। एवं च सति काव्यदर्शनश्रवणमहिम्ना उक्तयाऽभिव्यक्त्या चैतन्यस्यानन्दांशे आवरणभङ्गः क्रियते। तथा च रत्याद्यवच्छिन्नं चैतन्यम् आनन्दांशे भग्नावरणमानन्दरूपतया परिणतं रस इति निर्गलितार्थः।

काव्य में [कथावस्तु में विद्यमान] विभावादियों से स्थायिभाव की अभिव्यक्ति होती है। अन्तःकरणवृत्तिरूप इन [स्थायिभावों] की इस अभिव्यक्ति के होने पर चैतन्यरूप एवं आनन्दरूप आत्मा की भी प्रतीति होती है। [चैतन्य का सम्पर्क पाकर यह चित्तवृत्तियाँ भी चेतन सी हो जाती हैं ऐसा मानना उचित ही है] क्योंकि वेदान्तियों के मत में सभी प्रकार के ही ज्ञान में आत्मा का भान होना निश्चित है और [साङ्ख्यमतानुसार] आत्मा और मन के योग से बनी हुई आत्मज्ञान की सामग्री सब स्थानों पर विद्यमान रहती है। ऐसा [आत्मा और मन के संयोग से युक्त रत्यादिभाव की प्रतीति] होने पर नाटक के देखने और काव्य के सुनने की महिमा से पूर्वोक्त अभिव्यक्ति के द्वारा चैतन्य के आनन्दांश में आवरणभङ्ग किया जाता है और रत्यादि से समन्वित और आनन्दप्राप्ति में आवरणरहित तथा आनन्द रूप में परिणत हुआ चैतन्य ही रस है यह अर्थ निकलता है (और यही सारभूत सिद्धान्त है)।

टि०–अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्रकार के ज्ञान में आत्मा का मन के साथ सम्पर्क होता है और आत्मा के चैतन्यांश से अचेतन अन्तःकरण भी चैतन्य सा हो जाता है। साङ्ख्य, वेदान्त और न्यायदर्शनों के अनुसार आत्मा का मन के साथ, मन का इन्द्रियों के साथ और इन्द्रियों का विषय के साथ जब सम्बन्ध होता है तभी ज्ञान होता है। इसलिए प्रत्येक ज्ञान में आत्मा और मन का संयोग होना आवश्यक है। इस प्रकार चिद्विशिष्ट रत्यादि अथवा रत्यादिविशिष्ट चित् का नाम रस है। इसलिए चैतन्य का सम्पर्क पाकर क्षणिक मनोवृत्तिरूप रत्यादि भाव भी पूर्णघनानन्द स्वरूप रसों के रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे शराव (पात्र) से पिहित दीप शराव के हटा देने पर स्वसन्निहित पदार्थों को और अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है वैसे ही विभावादियों से मल (अविद्या) विक्षेप (चाञ्चल्य) आदि आवरण के हट जाने पर चैतन्य अपने स्वरूप एवं रत्यादिभावों के स्वरूप इन दोनों को प्रकाशित करता है।

1. अ त, अन्तःकरणरूपायां ज

इममर्थं श्रुतिरप्याह तैत्तिरीयशाखायाम्। रसो वै स रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति अयं जीवः। आवरणं त्वज्ञानमेव। ज्ञानान्तरे त्वावरणभङ्गाभावान्न रसोद्बोध इति ध्येयम्। ननु कथं ज्ञानान्तरे स न भवतीति चेत्, न विभावादिज्ञानाभावात्। अतएव वक्ष्यामो विभावादिजीवितावधिरिति[1]। अस्यां चाभिव्यक्तौ लिङ्गोपहितलैङ्गिकभानवद् विभावादिसम्भेदोऽप्यावश्यकः।

इसी बात को [कृष्णयजुर्वेद की] तैत्तिरीय शाखा में वेद भी बतलाता है–वह परमात्मा निश्चित रूप से रसस्वरूप है और रस को ही प्राप्त करके यह जीवात्मा भी आनन्दयुक्त हो जाता है। [यहाँ प्रयुक्त] अयम् का अर्थ जीवात्मा है। ['भग्नावरण' पद में प्रयुक्त] आवरण [का अभिप्राय] अज्ञान ही है। दूसरे [लौकिक] ज्ञानों में आवरणभङ्ग न होने के कारण रस का उद्भव नहीं होता यह समझना चाहिए।

[पूर्वपक्षी] दूसरे (लौकिक प्रत्यक्षादि) ज्ञानों में यह आवरणभङ्ग क्यों नहीं होता और वहां रस का अनुभव क्यों नहीं होता? [सिद्धान्ती–यदि उपर्युक्त] यह शङ्का की जाय तो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि लौकिक ज्ञानों में विभावादि का ज्ञान नहीं होता इसलिए वहाँ रसानुभव भी नहीं होता है। इसीलिए आगे जाकर कहेंगे कि यह रसोद्बोध विभावादियों के जीवित रहने की सीमा वाला है [विभावादियों के रहते हुए तो आवरणभङ्ग होता है किन्तु उनके हट जाने पर फिर आवरण पड़ जाता है]।

और इस [रस की] अभिव्यक्ति में [किसी भी प्रकार के अनुमान के लिए] लिङ्ग से युक्त लिङ्गी के ज्ञान की तरह विभावादियों का ज्ञान भी आवश्यक है।

टि०–अनुमानजन्य ज्ञान में व्याप्यभूत लिङ्ग धूम से व्यापकभूत लिङ्गी अग्नि का ज्ञान होता है। जैसे अनुमानवाक्य में लिङ्गी के ज्ञान के लिए लिङ्ग का होना आवश्यक है वैसे ही रसानुभूति के लिए विभावादि का ज्ञान भी आवश्यक है। लिङ्ग का अर्थ लीन=छिपे हुए अर्थ को बताने वाला हेतु (कारण) है। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अचेतन रत्यादिभाव चैतन्य का संस्पर्श पाकर पूर्ण घनानन्द रूप रस के रूप को धारण कर लेते हैं। ऐसा मानने में किसी प्रकार का दोष नहीं हैं।

1. ज त; विभावादिजीवित्यवधिरिति त

अतएवोक्तं भरतेन–

स्वादः काव्यार्थसम्भेदो ब्रह्मानन्दसमुद्भवः।

काव्यार्थो विभावादिः तेषां सम्भेदो ज्ञानं तेन विभावादिसमूहालम्बनात्मा रस इति निर्गलितोऽर्थः। अतएव काव्यप्रकाशेऽपि पानकरसन्यायेनेति। ननु रसस्तावत्सामाजिक-निष्ठरत्युद्बोध एव, स कथं रामादिसम्बन्धित्वेनावगतेभ्यः सीतादिभ्यो भवतु असम्बन्धादिति चेत्, न। विभावादीनां साधारण्यमत्रापेक्षितम्। साधारण्यं च यत्किञ्चित्सम्बन्धविशेषसम्बन्धित्वेनाज्ञायमानत्वे सति ज्ञायमानत्वम्।

इसीलिए भरत मुनि ने यह कहा है–काव्य के अर्थ के ज्ञान का नाम रसास्वाद है और वह ब्रह्मानन्द की उत्पत्तिभूमि है। वह उसकी अभिव्यक्ति करने वाला है। [उससे ब्रह्मानन्दसदृश परमानन्द की अभिव्यक्ति होती है]। कारिका में प्रयुक्त काव्यार्थ का अभिप्राय है विभावादि। उन विभावादि का सम्भेद ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार रस इन विभावादियों के समूचे समूह [पर टिके हुए] स्वरूप वाला होता है अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव से संयुक्त रत्यादिभाव की समष्टि का नाम ही रस है यह सारभूत अर्थ हुआ है। इसलिए काव्यप्रकाश में भी पानकरसन्याय से रसानुभूति होती है यह कहा है।

टि०–जैसे बहुत सारे द्रव्यों का एकीभाव पानकरस कहलाता है उसी प्रकार विभावादि का समूहालम्बनात्मक (एकीभावात्मक) ज्ञान रस कहलाता है। जैसे भिन्न भिन्न स्वाद एवं स्वरूप वाले एला, शर्करा, बादाम आदि द्रव्यों के मिश्रण से बनी हुई सरदाई में इन सब वस्तुओं के स्वाद से भिन्न कुछ दूसरे प्रकार का स्वाद होता है इसी प्रकार विभावादि से संयुक्त रत्यादिभाव भी इन भिन्न भिन्न वस्तुओं के स्वरूप से भिन्न ही प्रकार के रस का रूप धारण कर लेता है।

[पूर्वपक्षी] सामाजिकनिष्ठ रत्यादिभावों के आविर्भाव का नाम ही तो रस है वह रामादि की सम्बन्धिनी पत्नी आदि के रूप में ज्ञात होने वाले सीतादि विभावों से कैसे उत्पन्न किया जा सकता है? क्योंकि सीतादि के साथ सामाजिकनिष्ठ रत्यादिभाव का किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं होता [अपने लिए पूज्य माने गये सीतादि पात्र के द्वारा सामाजिक के रत्यादिभावों को जागरित नहीं किया जा सकता]।

[सिद्धान्ती] यदि ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नहीं है। यहां विभावादियों का साधारणीकरण अपेक्षित है अर्थात् रसास्वादप्रक्रिया में विभावादियों के

न च सीतात्वादिज्ञाने कथमेतादृशं साधारण्यमिति वाच्यम्। तदा विभावादिव्यापारमहिम्ना सीतात्वादिपरिहारेण स्त्रीत्वादिनैव ज्ञानात्। अतएव कारणादीनां संज्ञाभेदोऽपि घटते। अत एवोक्तमेते एव परिहृतविशेषा रसहेतवः। एतत्साक्षात्कारे वृत्तिर्व्यञ्जनैवेत्यवधेयम्। अस्याञ्चाभिव्यक्तौ प्रमाणं सहृदयहृदयमेव। अतएवोक्तम्–

साधारणीकरण व्यापार की अपेक्षा [आवश्यकता] होती है। [रामत्व, सीतात्वादि रूप] जिस किसी विशेष सम्बन्ध रखने वाले [राम, सीतादि] सम्बन्धी के रूप में ज्ञात न होने पर [उनका साधारण नायकनायिका रूप में] ज्ञान का विषय होना साधारणीकरण है।

टि०–लोक में पहले जिन राम और सीता जैसे विशेष पात्रों को साधारण पुरुष और साधारण कामिनी नहीं समझा जाता बाद में उनको काव्य के विभावनादि व्यापार से साधारण पुरुष और साधारण नारी समझ लेना ही साधारणीकरण कहलाता है। जनक की पुत्री, रामचन्द्र की धर्मपत्नी और दशरथ की पुत्रवधू सीता जब काव्य और नाटक में साधारण नायिका के रूप में उपस्थित होती है तो उसके प्रति सामाजिक की पूज्य बुद्धि नहीं रहती है। तब वह आलम्बनविभाव का रूप धारण कर सामाजिकनिष्ठ रत्यादिभाव को रस रूप में परिणत करने की क्षमता रखती है। साधारण्य अर्थात् साधारणीकरण की इस परिभाषा को स्पष्ट करने के लिए सति पद के बाद नायिकादि-सामान्यत्वेन पद को जोड़ देना चाहिए। इसे जोड़ने से पाठ इस प्रकार हो जायेगा–साधारण्यं च यत्किञ्चित्सम्बन्धित्वेनाज्ञायमानत्वे सति नायिकादिसामान्यत्वेन ज्ञायमानत्वम्। साधारणीकरण का यह लक्षण काव्यामृत 3,28 वृत्ति तथा काव्यप्रकाश 4, 28 वृत्ति पर काव्यप्रकाशखण्डन टीका में भी मिलता है।

[शङ्का] सीतादि में सीतात्वादिरूप विशेष सम्बन्ध का ज्ञान होने पर इस प्रकार की साधारणीकरण बुद्धि कैसे हो सकती है? [अर्थात् जब यह ज्ञान होता है कि यह सीता जनक की पुत्री एवं राम की वधू है तब वह सामाजिक की रति का आलम्बनविभाव कैसे बन सकती है?]।

[सिद्धान्ती] यह नहीं कहना चाहिए क्योंकि उस समय विभावादिनिष्ठ-विभावनादिव्यापार के माध्यम से सीतात्वादि रूप विशेषांश का परित्याग होने से साधारणकामिनीत्वादि के रूप में ही उनकी प्रतीति होती है। इसीलिए कारण, कार्य और सहकारिकारणों के नामों का परिवर्तन भी युक्तियुक्त एवं उचित है। [ये विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव नाम वाले हो जाते हैं।] इसीलिए कहा है ये ही कारण, कार्य और सहकारिकारण अपने

रसोऽभिमानोऽहङ्कारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते।।
विशिष्याद्दृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु।
वासनापरपर्यायः सुखहेतुः प्रकाशते।।

विशेषांश को छोड़कर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के रूप में रस के कारण बन जाते हैं। नाट्यशास्त्र 6, 32 वृत्ति। रस के साक्षात्कार में व्यञ्जनावृत्ति ही हेतु बनती है यह समझना चाहिए। इस रस की अभिव्यक्ति में सहृदय सामाजिकों का हृदय ही प्रमाण है।

टि०–रस का ज्ञान प्रत्यक्षादिप्रमाणों से सम्भव नहीं है किन्तु सहृदय व्यक्तियों के द्वारा ही इसका अनुभव अपने हृदय में किया जाता है। साहित्यदर्पण (3,3 वृत्ति) में कहा है–पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्। पुण्यात्मा लोग योगियों की भांति रसप्रवाह का अपने हृदय में अनुभव करते हैं।

इसीलिए कहा है–[हृदय में स्थित] रस, अभिमान एवं अहङ्कार रूप भाव शृङ्गार कहा जाता है। यही जो पदार्थ है उसके समावेश से काव्य अपने सौन्दर्य को प्राप्त कर लेता है।

टि०–अभिप्राय यह है कि साधारणीकरण नामक व्यापार के प्रभाव से सहृदय के हृदय में नायिकादि आलम्बन के प्रति ममता और अहंता की बुद्धि होती है। यह मेरी है यह ममता की बुद्धि है। मैं इसका हूँ तथा मैं और यह दोनों एक ही हैं यह अहंता का विस्तार है। इसी को तादात्म्य भी कहते हैं। यह आनन्द अथवा रस की पराकाष्ठा है। यहाँ शृङ्गार पद अपना भी ग्रहण कराता है तथा दूसरे रसों का भी बोध कराता है। अतः यह पद उपलक्षण है।

किसी विशेष पुण्यादि रूप अदृष्ट से अर्थात् पुण्यादिजन्य भाग्यविशेष से इसका जन्म होता है, इसका दूसरा पर्यायवाची नाम वासना [हृदय में प्रसुप्त संस्कार] है और यही सुख का कारण (रसास्वाद की अनुभूति का हेतु) है इस प्रकार का यह तत्त्व प्राणियों की अन्तरात्माओं (अन्तःकरणों, हृदयों और आत्माओं) में प्रकाशित होता है।

टि०–रसोऽभिमानो....प्रकाशते–ये दोनों कारिकायें सरस्वतीकण्ठाभरण 5, 1-2 से ली गई हैं। वस्तुतः रसास्वाद के समय होने वाला आनन्द बाहर की वस्तु नहीं है। बहिर्भूत विभावादि से उद्बुद्ध अपने ही रत्यादिभावों का सामाजिक अपने ही अन्तःकरण में अनुभव करता है।

श्रृङ्गारी चेत् कविः काव्ये सर्वं रसमयं जगत्।
स एव चेदश्रृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत्।।

तदुक्तम्–जादिसो कइ तादिसी कव्वबन्धछाआ।

[यादृशः कविस्तादृशी काव्यबन्धच्छाया]

अतएव–पश्यति स्त्रीति वाक्ये हि न रसः प्रतिभासते।
विलोकयति कान्तेति व्यक्तमेव प्रतीयते।।

अत्रेदं बोध्यम्–वासनाविशेषवतां सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी

यदि कवि अपने काव्य में श्रृङ्गारी होता है तो सारा काव्यजगत् श्रृङ्गार रस से युक्त हो जाता है और वही यदि अश्रृङ्गारी [वीतराग-अनुरागरहित] होता है तो सारा काव्यजगत् नीरस हो जाता है।

इसी कारण कहा भी है–जैसा कवि होता है वैसा ही उसकी काव्यरचना में उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है। [काव्य के भीतर कवि के भाव होते हैं। जैसा कवि होता है उसी प्रकार की भावनायें कवि की रचना में भी होती हैं]।

इसीलिए 'स्त्री पश्यति' स्त्री देख रही है इस वाक्य के श्रवण से निश्चित रूप से श्रृङ्गाररस का अनुभव नहीं होता है। [किन्तु वह] कान्ता विशेष ढंग से देख रही है–इसे सुनकर स्पष्ट रूप में ही प्रतीत होता है।

टि०–'स्त्यायी वृद्धौ' अथवा 'स्तृञ् आच्छादने' से स्त्री शब्द बनता है। स्त्यायते गर्भोऽस्याम्–क्योंकि इसमें गर्भ का विस्तार होता है और जो अपने को ढककर चल रही है–इन अर्थों वाले स्त्रीपद में किसी प्रकार की व्यञ्जना नहीं है। प्रत्युत अरुचिकर अर्थों का भास होता है। इसी प्रकार 'पश्यति'–देख रही है इस पद (के अर्थ) से भी किसी चमत्कारी अर्थ का बोध नहीं होता किन्तु 'विलोकयति कान्ता' इस वाक्य में रस की स्फुट प्रतीति होती है। 'वि+लोकृ दर्शने 'से बनने वाली विलोकयति इस क्रिया का विशेष प्रकार की प्रेमभरी दृष्टि से देखती है यह अर्थ हो जाता है। कान्ता शब्द 'कमु कान्तौ' से बना है। निरुक्त में कहा है 'कान्ता कस्मात् कमनीया भवति, काम्यते जनैरिति वा'–जो सुन्दरी है और लोकप्रिय है। उत्तरवाक्य के श्रवणमात्र से सामाजिक के हृदय का रतिभाव उद्बुद्ध होकर श्रृङ्गार रस का रूप धारण कर लेता है।

यहाँ यह समझना चाहिये–

रत्यादिकभाव:[1] पौन:पुन्येन रत्यादिभि: समं गृहीतकार्यकारणभावसम्बन्धै र्विभावादिभि: परिहृतविशेषै: सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैर्नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारण्योपायबलात् साधारण्यमुपगच्छन् चिदात्मना सहाभिव्यक्तस्तत्कालोल्लसच्चर्व्यमाणतैकप्राणो विभावादिजीविताविधि: पानकरस-

---

बार बार रत्यादिभावों के साथ [पहले लोक में] कारण, कार्य और सहकारिकारण सम्बन्ध का रूप प्राप्त करने वाले [इसके अनन्तर काव्य में विभावन, अनुभावन, और सञ्चारण रूप व्यापार से] कारणत्व, कार्यत्व और सहकारिकारण रूप विशेष प्रकार के सम्बन्ध (धर्म) का परित्याग करने वाले और अपने साथ बिना किसी प्रकार के सम्बन्ध [विशेष प्रकार का सम्बन्ध–ये मेरे ही हैं, ये शत्रु के ही हैं और ये उदासीन के ही हैं, ये मेरे ही नहीं हैं, ये शत्रु के ही नहीं हैं और ये उदासीन के ही नहीं हैं] के स्वीकार और परित्याग के नियम का अनिश्चय होने से (सर्वोपभोगयोग्यत्व रूप) साधारणता के रूप में प्रतीत होने वाले अर्थात् बिना किसी विशेष सम्बन्ध के सबको समान रूप से अनुभव होने वाले विभावादियों के द्वारा सीमित प्रमाता [पहले दुष्यन्त शकुन्तलादि अनुकार्यों और बाद में नट नटी आदि अनुकर्ताओं] में रहता हुआ भी साधारणीकरणव्यापार रूप साधन की शक्ति से साधारणीभाव को प्राप्त होता हुआ अर्थात् व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से रहित होकर सर्वसाधारण का विषय बनता हुआ प्राक्तनसंस्कारविशेषयुक्त सामाजिकों के भीतर वासना के रूप में स्थित रत्यादिस्थायिभाव [सर्वोपभोगयोग्यता को प्राप्त करके] चेतन आत्मा के साथ अभिव्यक्त होता है [इस प्रकार विभावादियों के द्वारा चिद्विशिष्टरत्यादि भाव की अभिव्यक्ति होती है]।

और वही रत्यादिभाव उसी समय आविर्भूत होने वाली केवल (आस्वाद) चर्वणा रूपी जीवनाधायक तत्त्व वाला, विभावादियों की अवस्थितिपर्यन्त ही जीवित रहने वाला [इलायची, काली मिर्च, शक्कर, इमली आम आदि को मिलाकर तैयार किये गये पानकद्रव्य–पेयरस के समान [पानक में विद्यमान अलग अलग वस्तुओं के अलग अलग स्वाद से विलक्षण प्रकार के रस के समान स्वाद वाला] आस्वाद्यमान होता हुआ, [प्रत्यक्ष वस्तु के

---

1. ज त; रत्यादिको भाव अ।

न्यायेन चर्व्यमाणः पुर इव स्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वाङ्गीणमिवालिङ्गन्, अन्यत् सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मानन्दसहोदरोऽलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः। अस्यार्थः-ननु प्रागसिद्धौ कथं तस्य प्रतीतिरित्यत आह वासनात्मतयेति। भावो वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यः पौनःपुन्येनेति।[1] अत एव धूमादितो

समान] सामने स्पष्ट रूप में प्रतीत होता हुआ सा, हृदय में प्रविष्ट होता हुआ सा, सारे अङ्गों का स्पर्श सा करता हुआ, दूसरे सारे विषयों को छिपाता हुआ सा, ब्रह्मसाक्षात्कार के आनन्द के समान [आनन्द वाला] और लोकोत्तरचमत्कार को उत्पन्न करने वाला शृङ्गारादि रस हो जाता है।

टि०-रसनिष्पत्तिविषयक ग्रन्थकार का उपर्युक्त यह मत अभिनवगुप्त के मत से मिलता जुलता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत नाट्यशास्त्र की अभिनवभारती नामक टीका में छठे अध्याय के अन्तर्गत 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः (नाट्यशास्त्र 6,32 वृत्ति) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए रसविषयक अपना मत दिखाया है। आचार्य मम्मट ने भी वहीं से उनके मत को लेकर अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश में उसे रखा है। विश्वनाथदेव ने वहाँ से और काव्यप्रकाश से इस मत को ग्रहण कर लिया है।

यहाँ वासनाविशेषवतां सामाजिकानाम् कहने का तात्पर्य है कि सहृदय सामाजिकों की आत्माओं में सांसारिक अनुभवों, पूर्वजन्म और इस जन्म में पठनपाठन एवं सूक्ष्मनिरीक्षणादि से उत्पन्न एवं परिष्कृत कुछ मूलवासनायें संस्कार के रूप में अवचेतन मन में रहती हैं। ये ही वासनायें स्थायिभाव कहलाती हैं।

काव्य में विभावन, अनुभावन, और व्यभिचारण व्यापार के कारण, कार्य और सहकारिकारण अपना लौकिक रूप छोड़कर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव का अलौकिक रूप धारण कर लेते हैं। पहले भावकत्वव्यापार अर्थात् साधारणीकरण व्यापार से विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है और साधारणीकृत होकर विभावादियों से रत्यादिस्थायिभाव उद्बुद्ध होते हैं और वे रत्यादिभाव भी साधारणीकृत होकर परिमित प्रमाता के भाव न रहकर सभी के एक जैसे भाव बन जाते हैं और वे रामसीतादि अनुकार्य के साथ तन्मयीभाव के कारण ब्रह्मास्वाद के सदृश परमानन्द रूप में अनुभव का विषय बनते हैं। इस अवस्था में मेरे पराये की वैयक्तिकता नष्ट हो जाती है। इस प्रकार वे सर्वग्राह्य बनकर इतने तीव्र हो जाते हैं कि उनका भावत्व भी

---

1. अ; पौनःपुन्येनेति, ज त में नहीं।

नष्ट हो जाता है और केवल आनन्दमयी चेतना रहती है। उन स्थायिभावों की रस रूप में चेतन आत्मा के साथ अभिव्यक्ति होती है। वे स्थायिभाव सहृदयों के हृदय में हर समय सुषुप्तावस्था में रहते हैं और अज्ञान के आवरण से ढके रहते हैं। किन्तु सुन्दर अभिनय से जब विभावादियों का साधारणीकरण हो जाता है तो सत्त्व का उद्रेक होने से और रजोगुण और तमोगुण का अभिभव होने से वह अज्ञान का आवरण हट जाता है और वे भाव व्यक्त हो जाते हैं। जल के छींटे पड़ने से जैसे मिट्टी की अव्यक्त गन्ध व्यक्त हो जाती है उसी प्रकार विभावादि का सम्पर्क पाकर वे अव्यक्त स्थायिभाव व्यक्त हो जाते हैं। भट्टनायक और अभिनवगुप्त की भाँति आचार्य विश्वनाथदेव ने भी यहाँ साधारणीकरणसिद्धान्त को स्वीकार किया है। नाटक देखते समय या काव्य पढ़ते समय सामाजिक पहले रामादि के साथ तादात्म्य स्थापित कर लेता है। तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध के हो जाने पर वह आश्रय के सारे गुणों का अपने ऊपर आरोप कर लेता है और फिर सीतादि आलम्बन वस्तुएँ उसकी अपनी हो जाती हैं। उस व्यापार के द्वारा विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभाव ये तीनों विशिष्ट व्यक्ति के सम्बन्ध से मुक्त होकर साधारण अर्थात् मनुष्यमात्र के अनुभवयोग्य बन जाते हैं। उनमें किसी प्रकार की व्यक्तिगत विशेषता नहीं रह पाती।

इसका अर्थ यह है-जब विभावादियों से पहले रस का अस्तित्व ही नहीं होता तो उनसे रस का बोध कैसे हो सकता है? इस शङ्का के समाधान के लिए 'वासनात्मतया' इस शब्द का उपर्युक्त कथन में प्रयोग किया गया है [इसका अभिप्राय है कि संस्कार रूप में रस का अस्तित्व सामाजिक के चित्त में सूक्ष्म रूप से पहले से ही रहता है।]

[ऊपर उल्लिखित 'रत्यादिकभावः' में विद्यमान] भाव पद का अर्थ है-[वर्णनीये नायकनायिकादौ पौनःपुन्येन यत् तन्मयीभवनम्, तादात्म्यमभेदो वा तस्य योग्यः हेतुभूतः भावः] वर्णनीय नायकनायिकादि में बार बार सामाजिक का जो अभेद सम्बन्ध स्थापित करने के योग्य है उसे भाव कहते हैं।

टि०-सामाजिकों के हृदय में रत्यादिभाव सूक्ष्म रूप से रहता है। पहले सामाजिकों का नायकनायिकादि के साथ अभेद सम्बन्ध हो जाता है। तदनन्तर सामाजिक के रत्यादिभावों का नायकनायकादि के रत्यादिभावों के साथ अभेद सम्बन्ध हो जाता है। इस दशा में रसानुभव होने लगता है।

इसीलिए ['पर्वतो वह्निमान् धूमात्' आदि वाक्यों में] जैसे धूमादि से

वह्न्यादिज्ञानवद् विभावादितो रत्याद्यभिव्यक्तिः।[1] रत्यादिभावस्यापि साधारण्यं रसोद्बोधकारणमित्याह-साधारण्यमिति। अन्यथा सीताद्यालम्बनकरत्यादेरात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडातङ्कादिर्भवेत्। परगतत्वे त्वरस्यतापातः सभ्यानां रससाक्षात्कारानुपपत्तिश्च। स च न कार्यः चित्स्वरूपत्वात्।

वह्नि आदि का अनुमान होता है वैसे ही विभावादियों से रत्यादिभावों की अभिव्यक्ति होती है। [यद्यपि आलम्बन की चेष्टाओं अर्थात् अनुभावों से उस आलम्बन के हृदय में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रत्यादि का अनुमान होता है तो भी आलम्बनोद्दीपनादि विभावों के बिना अनुभावों का ज्ञान न होने के कारण विभावादिकों को भी रत्यादि की अनुमिति में हेतु माना जाता है]

रत्यादिस्थायिभावों का भी साधारणीकरण होता है। इसीलिए ऊपर [साधारण्यमुपगच्छन् में] साधारण्य शब्द का प्रयोग किया गया है। विभावादियों के साथ पहले सामाजिकों का साधारणीकरण होता है उसके बाद उनके रत्यादिभावों का भी साधारणीकरण साथ साथ होता रहता है। इस प्रकार यह रत्यादिभाव भी रसप्रतीति में कारण है [इससे स्थायिभाव में समान रूप से सर्वोपभोगयोग्यता आ जाती है]। यदि ऐसा न मानें तो सीतादि को आलम्बन मानकर तद्विषयक रति को अपनी ही मानने पर सभ्यों को लज्जा और भयादि होने लगेगा।

टि०-यह सीता मेरी ही है, मेरे साथ ही है और मेरे साथ ही इसका प्रेम है ऐसा समझते हुए सामाजिक जब उसको सबके सामने नाचते हुए देखेगा तो क्योंकि सब उसकी प्रेमिका को देख रहे हैं इस कारण उसे शर्म आयेगी। यदि कोई उसे अपहरण करके ले जा रहा होगा तो उसे डर लगने लगेगा। किन्तु साधारणीकरण के प्रभाव से सामाजिक को इस प्रकार की अनुभूतियाँ नहीं हुआ करतीं।

यदि [सामाजिक में रस की स्थिति न मानकर] रस को परगत अनुकार्य रामादि या अनुकर्ता नटादि में मानें [अर्थात् सामाजिकातिरिक्त अन्य किसी में रसस्थिति मानें] तो रसहीनता की प्राप्ति होगी अर्थात् सामाजिक में रस की स्थिति नहीं मानी जा सकेगी [क्योंकि रस का अनुभव तो सामाजिक ही करता है] और सहृदय सामाजिकों को रस के साक्षात्कार की अप्राप्ति होगी [अर्थात् उनको रस का साक्षात् अनुभव नहीं हो सकेगा]।

और वह रस कार्य नहीं है क्योंकि वह चेतन स्वरूप है।

---

1. उपर्युक्त पाठ अ; विभावादिरत्याद्यभिव्यक्तिः ज त।

नापि घटादिवद् ज्ञाप्य: फलव्याप्यत्वाभावात्। चर्वणानिष्पत्त्या तस्य निष्पत्तिरुपचर्यते। वृत्तिव्याप्यत्वाद् ज्ञाप्य इत्युच्यते।

टि०–जैसे नित्य चिदानन्दस्वरूप आत्मा किसी का कार्य नहीं है वैसे ही रस को भी किसी का कार्य नहीं कह सकते। क्योंकि जो परिणामी हो, बदल सकता हो वह कार्य हो सकता है। परिणाम चेतन का धर्म नहीं है किन्तु वह जड़ प्रकृति का धर्म है। रस चित्स्वरूप, प्रकाशस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप है अत: कार्य नहीं माना जा सकता।

और फल में व्याप्यत्व [व्याप्तिसम्बन्ध] न होने के कारण रस [घटादि की तरह] ज्ञाप्य भी नहीं है।

टि०–घटपटादि पदार्थ फल में व्याप्त होते हैं। इन पदार्थों का कोई न कोई फल होता है। जैसे घट का फल है जलाहरण और पट का फल है शीतत्राण। किन्तु इन पदार्थों के फल की तरह रस का कोई फल नहीं है क्योंकि रसास्वाद से आगे कुछ नहीं होता है वह स्वयं ही सब कुछ है। व्याप्य पदार्थ परिच्छिन्न होते हैं और उनका कोई फल होता है। रस अपरिच्छिन्न है और फल रहित भी है। अत: ज्ञाप्य नहीं है। रस इसलिए ज्ञाप्य नहीं है क्योंकि वह फल रूप में व्याप्य नहीं है–इसकी व्याख्या इस प्रकार से भी की जा सकती है–ज्ञापक (ज्ञान के हेतु)दीपकादि पदार्थ ज्ञाप्य घटादि पदार्थों का बोध कराते हैं। जो अपने ज्ञान के द्वारा अन्य पदार्थों का ज्ञान कराये वह ज्ञापक होता है। जैसे दीपक अपना ज्ञान कराकर घटपटादि का ज्ञान कराता है। इस प्रकार ज्ञापक दीपकादि से प्रतीत होने वाले घटादि पदार्थों को ज्ञाप्य कहा जाता है। ज्ञापक और ज्ञाप्य में फलफलीभाव होता है। दीपकादि ज्ञापक पदार्थों का घटादि पदार्थों का बोधन रूप फल होता है। फल और फली में स्वरूपत: भेद होता है और दोनों में पौर्वापर्य होता है। दीपक एवं दीपक द्वारा होने वाले घट ज्ञान में भी स्वरूपत: भेद और पौर्वापर्य हुआ करता है। दीपक का ज्ञान पहले होता है और घट का ज्ञान बाद में होता है। किन्तु विभावादि का ज्ञान और रस का ज्ञान एक दूसरे से भिन्न नहीं है और दोनों की एककालावच्छेद से (युगपत्) प्रतीति होती है। इस कारण विभावादि से प्रतीत होने वाले रस को ज्ञाप्य नहीं कहा जा सकता।

रस के आस्वाद की उत्पत्ति होने के कारण उस [रस] की उत्पत्ति का [रसो जायते, रस उत्पद्यते इस रूप में] कथन उपचार [लक्षणा] से होता है [अत: कार्योऽप्युच्यते–इसलिए रस को कार्य भी कहा जा सकता है]।

टि०–वास्तव में रस कार्य नहीं है परन्तु चर्वणा–आस्वाद का नाम ही रस है और

तदुक्तम्–

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते।।

चर्वणा कादाचित्क (कभी कभी होने वाली) होती है। हर समय नहीं होती। इस प्रकार रस में कार्य के उत्पत्ति विनाश रूप धर्म पाये जाते हैं। इन सदृश गुणों के आधार पर गौणी लक्षणा से उसे कार्य भी कह दिया जाता है। जैसे लोक में वाहीक को कभी कभी बैल कह देते हैं। वास्तव में वाहीक बैल नहीं होता किन्तु जाड्यमान्द्यादि सदृश गुणों के आधार पर उसके मौर्ख्यातिशय को बताने के लिए लक्षणा से बैल कह देते हैं वैसे ही कादाचित्कत्व को बताने के लिए उपचार (गौणीलक्षणा) से रस को कार्य नाम दे दिया जाता है।

वृत्ति [व्यञ्जना शक्ति] से व्याप्य अर्थात् व्यङ्ग्य होने से यह ज्ञाप्य भी कहलाता है [जैसे आत्मा का बोध अन्तःकरण की वृत्तियों से होता है वैसे रस का बोध व्यञ्जनावृत्ति से होता है। इसलिये व्यञ्जनावृत्तिव्याप्य होने से रस ज्ञाप्य भी है]।

टि०–साङ्ख्य मत के अनुसार किसी पदार्थ के बोध के समय जब इन्द्रिय का अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है तो इन्द्रियप्रणालिका अर्थ पर पड़ती है। फिर अर्थ का प्रतिबिम्ब इन्द्रियप्रणालिका द्वारा अन्तःकरण में चला जाता है। जैसा जैसा पदार्थ होता है अन्तःकरण तत्तत्स्वरूप को धारण कर लेता है। इसके बाद अन्तःकरण का साक्षी आत्मा होता है। ज्ञातो मया घटः–इस प्रकार का अनुभव आत्मा को होता है। रस भी अन्तःकरण की वृत्ति से जाना जाता है। विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का साक्षात् होने से सामाजिक के हृदय पर उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है। इससे सामाजिक के हृदय का आवरणभङ्ग हो जाने पर आत्मविशिष्ट रत्यादि या रत्यादिविशिष्ट आत्मा का जो साक्षात्कार होता है वही रस है। इसलिए वृत्तिव्याप्य अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति से बोध्य होने के कारण उसे ज्ञाप्य भी कह सकते हैं। भट्टनायक काव्य में भावनाख्यव्यापार मानते हैं। यह भावना भी एक प्रकार की वृत्ति है जो सामाजिक के अन्तःकरण में रहती है। वृत्ति का अर्थ अभिनवगुप्तसम्मत व्यञ्जनाव्यापार भी हो सकता है।

इसी बात को [वेदान्तियों ने भी] कहा है–

शास्त्रज्ञ विद्वानों ने इस ब्रह्म की फलव्याप्यता [फल को देखकर उसके

सा च वृत्तिः काव्ये व्यञ्जनामूलेति स्मर्तव्यम्।

सा च तत्त्वमसीत्यत्रेव काव्ये शब्दार्थाभ्यां साक्षात्काररूपा जायते।

कारण की व्याप्ति बनाने] का ही खण्डन किया है। किन्तु ब्रह्म में अज्ञान नहीं होता इस बात को बताने के लिए इस ब्रह्म को वृत्तिव्याप्य [अन्तःकरण की वृत्तियों से बोध्य] मानना अभीष्ट है।

टि०–इस सारे नामरूपात्मक जगत् को यदि ब्रह्म का फल मानें तो उपादान कारण और कार्य का अभेद होने के कारण प्रपञ्च के अनित्यतादि धर्म ब्रह्म में और ब्रह्म के नित्यतादि धर्म प्रपञ्च में मानने अनिवार्य हो जायेंगे। इस कारण ब्रह्म में अज्ञानादि धर्मों की निवृत्ति स्थापित करने के लिए उसकी फल (नामरूपात्मक जगत्) में व्याप्ति अथवा फल से अभिव्यक्ति नहीं मानी जाती, केवल उसे अन्तःकरण की वृत्ति से ज्ञेय (वृत्तिवेद्य) माना जाता है। इसी प्रकार कादाचित्क (कभी कभी होने वाली) चर्वणा को रस का फल मानेंगे तो चर्वणा के अनित्यत्वादि धर्म रस में और रस के नित्यत्वादि धर्म चर्वणा में अनिवार्य रूप से मानने पड़ेंगे। इस अतिव्याप्ति से बचने के लिए रस को फलव्याप्य न मानकर केवल वृत्तिव्याप्य (व्यञ्जनागम्य) माना जाता है।

लोक में घटपटादि के साथ पदार्थों का सन्निकर्ष होने पर अन्तःकरण की वृत्तियां भी तदाकार हो जाती हैं। इसी प्रकार काव्य या नाटक में जब विभावादि का प्रतिबिम्ब सामाजिक के अन्तःकरण पर पड़ता है तो अन्तःकरण की वृत्ति तत्तदाकार को धारण कर लेती है। तत्तदाकारता को प्राप्त इसी वृत्ति से सामाजिक के साथ तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध होता है जिससे वह शृङ्गार आदि रसों का अनुभव करता है।

और वही वृत्ति काव्य में व्यञ्जनामूलक होती है–यह स्मरण रखना चाहिए।

टि०–कारिका में आया हुआ वृत्ति शब्द ब्रह्म के प्रसङ्ग में तो अन्तःकरण-वृत्तिरूप है किन्तु काव्य के प्रसङ्ग में यह वृत्तिशब्द व्यञ्जनावृत्ति रूप है अतः व्यञ्जनावृत्ति के अर्थ को प्रकट करता है।

और यह अभेद स्थापित करने वाली वृत्ति 'तत्त्वमसि' यहाँ प्रयुक्त [इस महावाक्य के] अर्थ की तरह काव्य में शब्द और अर्थ से प्रत्यक्ष रूप में प्रतीत होती है।

टि०–'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का वेदान्तियों के अनुसार इस प्रकार अर्थ किया जाता है–त्वम्–अल्पज्ञत्वाद्युपाधिविशिष्ट चैतन्यस्वरूप तुम जीवात्मा,

यः साक्षादपरो ब्रह्मेति चैतन्यांशे साक्षात्कारच्च। ननु[1] कः पुनरसौ[2] स्थायी न तावच्चित्तवृत्तिः। आशुतरविनाशिन्याः स्थैर्यासम्भवाद् अन्यस्य वक्तुमशक्यत्वादिति

तत्–सर्वज्ञत्वाद्युपाधिविशिष्ट वह ब्रह्म असि–हो। इस महावाक्य में जीवात्मा की अल्पज्ञत्वादि और ब्रह्म की सर्वज्ञत्वादि उपाधि हैं। इसलिए इन दोनों में पार्थक्य होने के कारण समानाधिकरण नहीं हो पाता। इस कारण मुख्यार्थ में अन्वयानुपपत्ति होने से उसका बाध हो जाता है। इस स्थिति में भागत्यागलक्षणा के द्वारा दोनों की उपाधियों का त्याग करके दोनों के शुद्ध चैतन्य स्वरूप के ग्रहण कर लेने पर समानाधिकरण हो जाता है और दोनों में अभेद सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। दृश्यकाव्य या श्रव्यकाव्य में पहले अभिधावृत्ति से शब्द और उनके अर्थों का बोध होने पर विभावादि से सम्बद्ध वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाता है। इसके अनन्तर व्यञ्जना-व्यापार द्वारा सीतात्व, रामत्वादि रूप विशेष उपाधि (सम्बन्ध) के परित्याग से सामान्य रूप से कामिनीत्वादि की उपस्थिति होती है और उनके साथ सामाजिक का अभेद सम्बन्ध स्थापित होने पर सहृदयहृदय में रसानुभूति होती है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों से जैसे भागत्यागलक्षणा द्वारा सर्वज्ञत्वादि उपाधियों के परित्याग से केवल शुद्ध चैतन्य की प्रतीति होती है वैसे ही काव्य और नाट्य में व्यञ्जनावृत्ति एवं भावकत्वव्यापार से रामत्व सीतात्व आदि विशेष सम्बन्धों के परित्याग से सामान्य कामिनीत्व और सामान्य कान्तत्वादि की प्रतीति होती है और तब सामाजिक और रामादि पात्रों में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। सर्वोपाधिरहित वे ही पात्र रसानुभूति में कारण बनते हैं। इसी आधार पर रस का साक्षात्कार होता है ऐसा प्रयोग होता है। जैसे जीव और ब्रह्म का अभेद ज्ञान होने पर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस रूप में साक्षात् प्रतीति होती है वैसे ही सामाजिक को शृङ्गारादि रसों का साक्षात्कार (साक्षात् अनुभव) होता है।

और इसी तरह योगी को 'यः साक्षात् अपरो ब्रह्म' जो सामने दिखाई पड़ने वाला अपर (निकृष्ट कोटि का) सोपाधिक व्यष्टि रूप चैतन्य जीव है वही उत्कृष्ट स्वरूप वाला निरुपाधिक चैतन्य परब्रह्म है इस रूप में चैतन्यांश में साक्षात्कार होता है।

टि०–यहाँ भी जीव और ब्रह्म के चैतन्यांश रूपी निरुपाधिक स्वरूप में अभेद दिखाया है। इसी प्रकार व्यञ्जनाव्यापार की महिमा से सामाजिक और आश्रय (नायकनायिका) में भी अभेद ज्ञान होता है।

1. ज अ, अथ त
2. ज अ; रयं त

चेत्[1]। उच्यते,[2] आप्रबन्धं विरुद्धाविरुद्धभावावच्छिन्नप्रवाहश्चित्तवृत्तिसन्तानविशेष एव स्थायी। न च तस्याशुविनाशित्वेन कथं स्थायित्वमिति वाच्यम्, वासनात्मतया सूक्ष्मरूपतयावस्थानसम्भवात्।

अतएवाह मुनिः–

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः।

[शङ्का–] तो फिर यह स्थायिभाव क्या वस्तु है? चित्तवृत्ति तो स्थायिभाव नहीं हो सकती क्योंकि बहुत शीघ्र नष्ट होने वाली इस चित्तवृत्ति के भीतर स्थिरता का रहना असम्भव है। [चित्तवृत्तियां बहुत देर तक टिककर नहीं रहा करती हैं] क्योंकि यह क्षणिक हुआ करती हैं और दूसरी किसी वस्तु को भी स्थायी नहीं कहा जा सकता [क्योंकि वह भी क्षणिक ही है]।

[यदि पूर्वपक्षी की ओर से उपर्युक्त प्रकार से शङ्का की जाय तो] यह कहा जा सकता है। [स्थायिभाव का स्वरूप यह है] प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक सारे नाटक और काव्य रूप रचना में विरोधी और अविरोधी भावों से युक्त प्रवाह अर्थात् चित्तवृत्तियों की परम्पराविशेष ही स्थायिभाव कहलाती है।

और वह बहुत शीघ्र नष्ट होने वाला है इस कारण उसमें स्थायित्व नहीं हो सकता ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि [अन्तःकरण] में वासना रूप में आकर सूक्ष्म रूप में उसका रहना सम्भव है।

इसलिए भरतमुनि ने कहा है।

जो विरोधी [प्रतिकूल] और अविरोधी [अनुकूल] भावों से नहीं टूटता है और जो दूसरे छोटे छोटे व्यभिचारिभावों को अपने में मिलाकर आत्मसात् कर लेता है वह स्थायिभाव समुद्र है।

टि०–जैसे समुद्र बहुत सारी छोटी बड़ी नदियों को अपने में मिला कर एक बना देता है उसी प्रकार यह रत्यादिभाव भी प्रतिकूल छोटे बड़े सभी प्रकार के व्यभिचारिभावों को अपने में मिला लेता है। इसी कारण उसको समुद्र रूप बताया है।

---

1. त; आशुतरविनाशित्वेन स्थायित्वासम्भवाद् इति चेत् ज अ
2. ज त, अ में नहीं

अन्येऽप्याहुः[1]–

चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बन्ध्यन्तेऽनुबन्धिभिः।
रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते।।

चिरमिति व्यभिचारिव्युदासाय, अनुबन्धिभिर्व्यभिचारिभिः।

ननु–

सपदि मुकुलितेयं किंशुकानां वनाली
ललितमधुपमाला विभ्रमं सन्तनोति।
इह घनमकरन्दामोदमाद्यन्मिलिन्दा
विलसति सहकारश्रेणिराकम्पकुञ्जा[2] ।।19।।

दूसरे आचार्य भी इसके सम्बन्ध में कहते हैं–

जो देर तक अन्तःकरण में ठहरे रहते हैं और आनुषङ्गिक–कादाचित्क कभी कभी आने वाले सम्बन्ध रखने वाले व्यभिचारिभावों के साथ सम्बन्ध रखते हैं और जो रसरूपता को प्राप्त करते हैं वे भाव स्थायिभाव के रूप में प्रसिद्ध हैं।

[कारिका में पढ़ा हुआ) 'चिरम्' यह विशेषण व्यभिचारिभावों की निवृत्ति के लिए है। क्योंकि व्यभिचारिभाव स्थायिभाव की अपेक्षा बहुत थोड़े समय अन्तःकरण में रह पाते हैं। 'अनुबन्धिभिः' पद का अभिप्राय है व्यभिचारिभावों के साथ।

[यहां पर पूर्वपक्षी की] एक शङ्का है–

ढाकों की यह वृक्षपङ्क्ति अर्थात् ढाक के वृक्षों पर लगी हुई कलियाँ तुरन्त खिल गई हैं। सुन्दर भौरों के समूह शोभा को बढ़ा रहे हैं और यहाँ घनीभूत गाढ़े पुष्परस और सुगन्धियों (के सेवन) से मदमत्त भौंरों वाली और (उन भौरों के चलने फिरने से) हिलते हुए लताकुञ्जों वाली आम्रवृक्षों की पङ्क्ति शोभायमान है।। 19।।

टि०–इस श्लोक में किंशुक पुष्प, भ्रमरगुञ्जन, मकरन्द और आम्रपङ्क्ति केवल उद्दीपन विभाव हैं। इस जैसे और भी ऐसे श्लोक मिलते हैं जहाँ केवल उद्दीपनविभावों का ही वर्णन है। अतः पूर्वपक्षी के मत में यह उदाहरण केवल उद्दीपनविभाव का है।

---

1. अ त, अन्यथाप्याहुः ज
2. विलसति सहकारश्रेणिराकन्दकुञ्जा ज अ; विलसित त

इत्यादौ

तारुण्योन्मादलीला नवमिव सदनं वक्रवाचां नवीना
पुष्पेषोर्वैजयन्ती विगलिततुलना[1] कापि लावण्यवापी।
मर्यादा लोकसृष्टेः सकलयुवमनोबन्धनागारमूर्ति[2]-
श्चातुर्यप्रौढसीमा स्फुरति मम पुरो मान्मथी कापि माया।। 20।।

इत्यादौ च

प्रेमपल्लवितलोचनान्तयोरन्तरा निपतितान्तरालयोः।
आवयोरिह निगूढभावयोर्वेद कः सुमुखि खेदमान्तरम्।। 21।।

इत्यादौ च,

और जवानी की मस्ती की शृङ्गार भरी चेष्टा, वक्रोक्तियों (चतुराई भरे वचनों का) नया सा भण्डार, कामदेव की नई विजयपताका, सुन्दरता की निरुपम एवं कोई अनिर्वचनीय बावड़ी, (सुन्दर) लौकिक रचना की (अन्तिम) सीमा (इससे अधिक सुन्दर और रचना नहीं है) सारे युवक जनों के मनों को बांधने के लिये कारागार स्वरूपिणी चातुर्य (निपुणता) की उत्कृष्ट सीमा, कामदेव द्वारा रची हुई कोई (लोकोत्तर अघटित-घटनाघटनसाधिका असम्भव बात को भी सम्भव कर देने वाली) मायास्वरूपिणी यह सुन्दरी युवती मेरे सामने चमक रही है।। 20।।

इत्यादि में

टि०–इसमें और इस जैसे अन्य श्लोकों में केवल आलम्बनविभाव नायिका का वर्णन मिलता है। अतः पूर्वपक्षी के अनुसार यह केवल आलम्बनविभाव का उदाहरण है।

हे सुन्दर मुख वाली, प्रेम से विकसित हुए सुन्दर नेत्रभाग वाले, एक दूसरे के मन में पड़े हुए मन वाले, (मन के) गुप्त छिपे हुए अभिप्रायों वाले हम दोनों की भीतरी पीड़ा को कौन जानता है।। 21।।

और इत्यादि में

टि०–इसमें और इस जैसे अन्य श्लोकों में एक दूसरे की रति के आलम्बनभूत नायकनायिकाओं की चेष्टा रूप केवल अनुभावों का वर्णन है।

1. अ ज; प्रतिदिनमतुला त।
2. अ ज; मुच्चैः त।

प्रातः पुनः स्यादुदियात् स भानुः
पश्येम कोदण्डमनाततज्यम्।
इत्युत्सुकस्तत्र स रामभद्रो
निद्रादरिद्रो रजनीमनैषीत्।। 22।।

इत्यादौ प्रत्येकमेव रसोद्बोधान्न मिलितानां हेतुत्वमिति चेत्, न इष्टापत्तेः।

फिर प्रातः काल होगा, (फिर) वह सूर्य उदित होगा और हम उतरी हुई डोरी वाले धनुष को देखेंगे। इस प्रकार वे रामचन्द्र (अगले दिन धनुरभ्यास करने की प्रतीक्षा में) निद्रा के मोहताज (निद्रा रहित) होकर (जागते जागते) रात को गुजारते थे।। 22।।

टि०–इसमें केवल (औत्सुक्य रूप) व्यभिचारिभाव का वर्णन मिलता है। अतः पूर्वपक्षी के अनुसार यहाँ केवल व्यभिचारिभाव ही रसरूपता को प्राप्त है।

(उपर्युक्त इन सभी उदाहरणों में तथा) इन जैसे और भी उदाहरणों में से प्रत्येक के भीतर रसास्वाद (रसपरिपाक) उपलब्ध है (किन्तु यहाँ पर विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभावों में से किसी एक की ही उपस्थिति है सबकी नहीं)। इस कारण सम्मिलित विभाव और व्यभिचारिभाव ही रसोद्भव में कारण नहीं हुआ करते।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय यह है कि इन उदाहरणों को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जब रसप्रतीति इनमें से किसी एक के होने पर ही हो जाती है तो सम्मिलित विभावादि को ही रस का कारण क्यों माना जाय? सबके स्थान पर किसी एक को ही रस का कारण मानने में लाघव भी होगा। इस प्रकार केवल विभावों से, केवल अनुभावों और केवल व्यभिचारिभावों से भी रस की प्रतीति हो सकती है।

(सिद्धान्ती–)यदि ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नहीं है क्योंकि (सम्मिलित विभावादियों से ही रस का बोध मानने पर) अभीष्ट रस की प्राप्ति हो सकती है (इन उदाहरणों में प्रधान रूप से एक ही का वर्णन होने के कारण आपाततः वही एक दिखाई देता है किन्तु वस्तुतः वहाँ उस एक के साथ दूसरों की भी उपस्थिति हो जाती है)।

टि०–अभिप्राय यह है कि जब स्थायिभाव के साथ विभाव, अनुभाव और

अपि च विभावानुभावसञ्चारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति सूत्रे मिलितानां कथमुपादानमिति व्याघ्रादिविभावानां पृथगनैकान्तिकत्वं बोधयितुमिति केचित्।

व्यभिचारिभाव इन तीनों का सम्बन्ध होता है तभी रसास्वाद होता है। इनमें से किसी एक के द्वारा रसनिष्पत्ति नहीं हो सकती। अपने मत के समर्थन के लिए ग्रन्थकार अगली पंक्तियों में शङ्का और समाधान सहित आचार्य मम्मट और विश्वनाथ के मतों को उपस्थित करते हैं।

और इसके अतिरिक्त (यदि विभावादियों में से किसी एक के रहने पर भी रसनिष्पत्ति हो जाती है तब) भरत मुनि के "विभावानुभाव सञ्चारि-संयोगाद्रसनिष्पत्तिः" स्थायिभाव के साथ विभाव, अनुभाव और (नाट्यशास्त्र 6, 32 वृत्ति) व्यभिचारिभाव का संयोग होने पर रस का अनुभव होता है इस रससूत्र में उन्होंने सम्मिलित विभावादि का क्यों ग्रहण किया है?

किन्हीं (मम्मट आदि) विद्वानों का कहना है कि पृथक् पृथक् रसोद्‌बोध के कारण बना दिये गये व्याघ्रादि विभावों के भीतर आने वाले अनैकान्तिक दोष को बताने के लिए सूत्र में ऐसा कहा गया है।

टि०–काव्यप्रकाश (व्याघ्रादयो विभावाः इत्यादि 4, 28 वृत्तिभाग) में आचार्य मम्मट ने इस प्रसङ्ग को उठाया है। उनका अभिप्राय यह है कि व्याघ्रादि विभावों, अश्रुपातादि अनुभावों और चिन्तादि व्यभिचारिभावों का साधारण तथा पृथक् पृथक् रूप से बहुत सारे रसों के साथ सम्बन्ध होता है। एक ही व्याघ्र को जब जंगल में बच्चे, स्त्री और पुरुष देखते हैं तो वह भयानक रस का आलम्बन बनता है और यदि उसने किसी के पशु या बच्चे को मार दिया हो तो उसे देखकर क्रोध होता है तब वह रौद्र रस का आलम्बन बनता है। जिसने व्याघ्र को पहले कभी नहीं देखा हो वह यदि पहली बार उसे चिड़ियाघर में देखता है तो वह अद्भुत रस का आलम्बन बनता है। अश्रुपात रूप अनुभाव विप्रलम्भ, करुण और भयानक रसों में समान रूप से देखा जाता है। चिन्ता सञ्चारिभाव शृङ्गार, करुण, शान्तादि रसों में होता है। इस प्रकार यदि इन तीनों में से प्रत्येक को रस का बोधक मानें तो वह किसी एक ही रस का निश्चित रूप से बोध नहीं करायेगा। इस कारण इस प्रकार का विभाव या अनुभाव या व्यभिचारिभाव रस के प्रति निश्चित कारण नहीं बन पायेगा और इसी कारण इस प्रकार के हेतु में अनैकान्तिकता का दोष आता है किन्तु सम्मिलित विभावादियों से रसाभिव्यक्ति मानने पर अनैकान्तिकता समाप्त हो जाती है जब किसी एक शृङ्गार जैसे रस के अनुकूल सारे के सारे विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारिभाव प्रयुक्त किये

केचित्तु यत्रान्यन्नास्ति तत्रान्यतमद्वयाक्षेप इति वदन्ति।

जाते हैं तभी उस रस विशेष की चर्वणा होती है और समस्त भाव उस सम्बद्ध रस तक ही सीमित रहते हैं। तदतिरिक्त रसों में सङ्क्रान्त नहीं होते। इसलिए सम्मिलित विभावादियों से ही रसोद्बोध होता है यह मत मान लेना चाहिए। व्यक्तस्तैस्तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसो मतः।। (काव्यप्रकाश 4, 28) में इस वचन से भी मम्मटप्रोक्त सम्मिलित विभाव ही रस सृष्टि करते हैं यह मत प्रकट होता है।

(विश्वनाथ आदि) कुछ आचार्यों का कहना है कि जहाँ (इनमें से किन्हीं दो या किसी एक का तो वर्णन होता है किन्तु बाकी) दूसरों का वर्णन नहीं होता अर्थात् किसी एक या दो का उल्लेख नहीं होता वहाँ एक का या दोनों का आक्षेप (ग्रहण हो जाता है) अर्थात् उनको भी रसोद्बोध में कारण मान लिया जाता है।

टि०–साहित्यदर्पण (3, 141) में विश्वनाथ ने बताया है कि रसोद्बोध में विभावादि की सम्मिलित रूप में कारणता है। लोक में सीता आदि विभाव रामादि आश्रय की रति के कारण होते हैं और भ्रूविक्षेपादि उस रति के कार्य होते हैं, एवं हास्यलज्जादि रति के सहकारिमात्र होते हैं। किन्तु रसोद्बोध में इनको कारण कैसे मान लिया जाय? इस शङ्का का समाधान वह इस प्रकार करते हैं–लोक में कारण, कार्य और सहकारिकारण होते हुए भी विभावादि को रसनिष्पत्ति में हेतु ही माना जाता है। इन विभावादियों में पृथक् पृथक् कारणता नहीं है, सब मिलकर ही कारण होते हैं। उन सब विभावादियों का एक प्रतिभास अर्थात् एक रस के रूप में परिणाम कैसे होता है? भिन्न भिन्न कारणों से तो भिन्न भिन्न कार्य होने चाहिएँ इस प्रश्न का समाधान वे इस प्रकार करते हैं–पहले जब विभावादि पृथक् पृथक् प्रतीत होते हैं उस समय उन्हें हेतु कहा जाता है। इसके अनन्तर भावना के बल से और व्यञ्जना की महिमा से चर्व्यमाण (आस्वाद्यमान) सम्मिलित सब विभावादिक सहृदयों के हृदय में प्रपानक रस की भाँति अखण्ड (एक) रस के रूप में परिणत हो जाते हैं। जैसे जलजीरे, सरदाई या आम के पन्ने में खाँड, काली और लाल मिर्च, जीरा, हींग, काला नमक, पोदीना, नीबू आदि मिलाने से उन सबके पृथक् पृथक् स्वाद से विलक्षण एक अपूर्व आस्वाद पैदा होता है वैसे ही विभावादियों के सम्मेलन से एक अलौकिक रसास्वाद पैदा होता है जो विभावादियों के पृथक् पृथक् आस्वाद से विलक्षण होता है।

इसके अनन्तर विश्वनाथ ऊपर बताई हुई शङ्का को उपस्थित करके उसका

अथैतेष्वेव केषाञ्चिद् विशेषानभिदध्महे।। 28।।

समाधान प्रस्तुत करते हैं–यदि विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभाव इन तीनों के मिलने पर ही रसास्वाद होता है तो जहाँ कहीं एक अथवा दो का ही वर्णन है वहाँ वह कैसे होगा? इसका उत्तर यह है–

> सद्भावश्चेद् विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत्।
> झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते।। सा० द० 3/70

विभावादिकों में से दो अथवा एक के शब्दोपात्त होने पर यदि उनका सद्भाव होता है तो प्रकरण और स्मरणादि से शेष का झट से आक्षेप हो जाने के कारण रसास्वाद में किसी प्रकार का दोष नहीं आता है। इस प्रकार विश्वनाथ भी सम्मिलित विभावादियों से ही रस का उद्भव मानते हैं।

रसगङ्गाधर में पण्डितराजजगन्नाथ ने भी प्रथमानन के रसप्रकरण में इसी समस्या को उठाते हुए अनेक मतों का उल्लेख किया है–

1. विभावादयस्त्रयः समुदिता रसः इति कतिपये–विभावादि तीनों ही सम्मिलित होकर रस के कारण बनते हैं ऐसा कुछ आचार्यों का मत है। यह मत भरतसूत्र के अनुकूल है।

2. त्रिषु य एव चमत्कारी स एव रसोऽन्यथा तु त्रयोऽपि न इति बहवः-तीनों में जो चमत्कारजनक हो वही रसरूपता को प्राप्त करता है, नहीं तो तीनों इकट्ठे पड़े हुए भी रस नहीं बनते। यदि यह चमत्कार तीनों में पाया जाये तो तीनों ही रस के हेतु बन जाते हैं अन्यथा जिसमें चमत्कार हुआ वही रस बन जायेगा। इसके अनुसार विभावादियों की समष्टि और व्यष्टि दोनों ही रसोद्बोध का कारण बन सकती हैं।

3. भाव्यमानो विभाव एव रस इत्यन्ये-भावना का विषयीभूत विभाव ही रस होता है ऐसा कुछ दूसरे विद्वान् मानते हैं।

4. अनुभावस्तथा तथा इतीतरे–वैसे ही भावना के द्वारा अनुभव का विषय होता हुआ अनुभाव ही रस होता है ऐसा दूसरे मानते हैं।

5. व्यभिचार्येव तथा तथा परिणमति इति केचित्–व्यभिचरणशील व्यभिचारिभाव भावना का विषय बनकर रस रूप में परिणत होता है ऐसा कुछ आचार्य मानते हैं।

इसके बाद इन्हीं रसों में से ही किन्हीं के भेदों को कहते हैं।। 28।।

शृङ्गारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः ।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तदान्तोद्धता रसाः।। 29।।

तत्र

सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृङ्गारोऽत्र द्विधा मतः।

उभयोरपि रतिप्रकृतिकत्वात्। तत्राद्यः परस्परावलोकनचुम्बनाद्यनेकप्रकारोऽपि सम्भोगत्वसामान्यमाश्रित्य एक एव गण्यते। सम्भोगत्वं च रतिप्रकृतिकत्वे सति विप्रलम्भभिन्नत्वम्। यथा–

विन्यस्तं करपल्लवे करतलं मन्दस्मितं जल्पितं
तन्व्या तन्निजमन्दिरे निजसखीभ्रान्त्या तयाविष्कृतम्।

---

1. शृङ्गार 2. वीर 3. करुण 4. रौद्र 5. अद्भुत 6. भयानक 7. बीभत्स 8. हास्य 9. प्रेयान् 10. शान्त 11. दान्त और 12. उद्धत ये रस होते हैं।। 29।।

1. शृङ्गार रस के भेद एवं उदाहरण

इस (काव्य) में सम्भोग और विप्रलम्भ ये दो शृङ्गार के भेद माने जाते हैं। क्योंकि इन दोनों का रतिस्थायिभाव ही मूल कारण है (अतः ये दोनों ही शृङ्गार रस के प्रकार हैं)। इनमें से पहला सम्भोगशृङ्गार एक दूसरे को देखने, चूमने और आलिङ्गन आदि क्रियाओं के कारण अनेक भेदों वाला होता हुआ भी सम्भोगत्व (जाति) रूप समान धर्म को लेकर एक ही भेद वाला माना जाता है (सम्भोगशृङ्गार का एक ही भेद है क्योंकि इसके सारे अवान्तर भेदों में सम्भोगत्व रूप एक ही समान धर्म पाया जाता है)। रति से उत्पन्न होते हुए भी विप्रलम्भ से भिन्न होना ही सम्भोगत्व है।

टि०–यद्यपि सम्भोगशृङ्गार भी विप्रलम्भ की भाँति रति से उत्पन्न होता है परन्तु वह विप्रलम्भ से भिन्न है। विप्रलम्भ में भी नायक नायिका संयोग चाहते हैं। सम्भोग में तो नायक नायिका मिल ही जाते हैं किन्तु दोनों के न मिलने का नाम विप्रलम्भ है।

(सम्भोग शृङ्गार भेद का उदाहरण) जैसे–

नये पत्ते के समान कोमल (पति के) हाथ में हाथ रखा हुआ था। उसका सम्भाषण मन्द मन्द मुस्कुराहट से युक्त था। अपने कमरे में उस नायिका ने अपनी सहेली होने के भ्रम से उस प्रकार का (निश्चिन्त और अनौपचारिक)

कान्ते तु[1] स्तनयोरथ श्लथयति क्षौमं सखीछद्मना
बाला मीलितदृष्टिनम्रवदना लज्जाम्बुधौ[2] मज्जति।।23।।

यथा वा[3]

आयातासि विमुञ्च वेपथुभरं दृष्टासि केनापि नो
नीलं चोलममुं विमुञ्च हरतु स्वेदं निशीथानिलः।

व्यवहार प्रकट किया। इसके बाद सखी के बहाने से (सखी होने का ढोंग करते हुए पति के द्वारा स्तनों के (ऊपर स्थित) रेशमी वस्त्र को ढीला करने पर बन्द आंखों एवं झुके हुए मुँह वाली वह मुग्धा नायिका लज्जा के समुद्र में डूब गई है अर्थात् अत्यधिक लज्जित हो रही है।।23।।

टि०–यहां 'कान्ते तु' के स्थान पर यदि 'को हेतुः' पाठ लिया जाय तो उसकी सङ्गति चिन्ताम्बुधौ के साथ होगी। वक्षःस्थल पर रखा हुआ सहेली का हाथ तो इस प्रकार की शृङ्गारभरी चेष्टायें नहीं कर सकता तो क्या यह किसी पुरुष का हाथ है। यदि यह बात है तो इसका कारण क्या है? इस प्रकार की चिन्ता इस नायिका को हो रही है।

कोई नायिका जब अपने कमरे में घुसती है तो अन्धकार में छिप कर बैठे हुए नायक को वस्त्राच्छादित होने के कारण सहेली समझ लेती है। भुलावे में आकर वह उसके हाथ में अपना हाथ रखकर अपनी रति सम्बन्धी गोपनीय बातें करने लगती है। थोड़ी देर तक बातें सुनने के बाद उसका पति उसके वक्षःस्थल पर अपना हाथ फेरने लगता है। पति के हाथ के कठोर स्पर्श को पहिचान कर वह पहले सखी जानकर अपनी कही हुई बातों को जब सोचती है तो उसे बहुत अधिक लज्जा होने लगती है।

अथवा (दूसरा उदाहरण) जैसे–

(अब तुम मेरे समीप) आ (ही) गई हो (अतः अब) काँपना छोड़ दो। किसी ने तुम्हें देखा नहीं है। (कृष्णाभिसारिका बन कर आई तुम) इस नीले चोगे को उतार दो जिससे रात्रि का पवन तुम्हारे पसीने को दूर कर देवे। (नायक द्वारा अपने प्रति ऐसा कहने पर) अपने भीतर भय के कारण रुके हुए गले से बार बार 'मैं जाती हूँ, जाती हूँ' इस प्रकार कहने वाली,

---

1. ज, नु त, को हेतुः अ
2. अ ज, चिन्ताम्बुधौ त
3. अ; यथा च त; ज में नहीं

इत्यन्तर्भयसन्नकण्ठमसकृद् यामीति तल्पं गता
त्रस्यन्ती परिरभ्यते सुकृतिभिः स्वैरं नवस्वैरिणी[1] ।। 24 ।।

अपरस्त्वभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चधा।

स च सङ्गमप्रत्याशाकालीनः स्यात्तस्यानुत्पादः ।। 30 ।।
भवेदभिलाष इच्छा देशैक्यपारतन्त्र्यं विरहः।

देशैक्य इति विशेषणात्प्रवासाद् भेदः कथितः। अतएव प्रोषितभर्तृका विरहोत्कण्ठिता भिन्नेति कथ्यते, स्वतन्त्रेच्छेन मुनिना तथैव विभागकरणात्।

शय्या (पलंग) पर बैठी हुई, डरती हुई स्वच्छन्द विहार करने वाली नई प्रेमिका का (किन्हीं) भाग्यशालियों द्वारा अपनी इच्छानुसार (निश्चिन्तता के साथ देर तक) आलिङ्गन किया जाता है।। 24 ।।

(सम्भोग शृङ्गार से भिन्न) दूसरा विप्रलम्भ शृङ्गार 1. अभिलाष 2. विरह 3. ईर्ष्या 4. प्रवास और 5. शाप हेतु वाला (इनसे उत्पन्न होने वाला) है। इस प्रकार यह पाँच प्रकार का है।

और वह विप्रलम्भ शृङ्गार मिलन के प्रति जब आशा होती है उस समय पैदा होता है और उसका न होना उसमें पाया जाता है।। 30 ।।

टि०–इन पांचों प्रकार के विरह में यह मिलनाभावरूप सामान्यतत्त्व पाया जाता है। इस कारण यह विप्रलम्भसामान्य का लक्षण है। आगे इसके भेदों के विशेषलक्षण बताये हैं।

1. अभिलाषविप्रलम्भ–(वियुक्त नायक नायिका में एक दूसरे को पाने की) इच्छा (आकाङ्क्षा) जहाँ हो उसे अभिलाषविप्रलम्भ कहा जाता है।

2. विरहविप्रलम्भ–(दोनों के) एक स्थान पर होने पर (भी गुरु, स्वामी, माता, पिता, आदि की) पराधीनता (के कारण न मिल पाना) विरह (विप्रलम्भ) कहलाता है।

(कारिका में आये हुए) 'देशैक्य' इस विशेषण से विरहविप्रलम्भ का प्रवासविप्रलम्भ से भेद बताया गया है (प्रवासविप्रल्म्भ में नायक नायिका दूरङ्गत होने के कारण एक स्थान पर नहीं होते किन्तु विरहविप्रलम्भ में दोनों एक ही स्थान पर होते हैं। फिर भी वे लज्जा, भय आदि के कारण एक दूसरे से मिल नहीं पाते हैं)। इसीलिए प्रोषितभर्तृका और विरहोत्कण्ठिता

---

1. त; ज अ में सारा श्लोक नहीं

सपत्नीसङ्गते कान्ते कोप ईर्ष्यासमुद्भवः।। 31।।
प्रणयकोपहेतुको विप्रलम्भ इति केचित्।

यह दोनों नायिका 'एक दूसरी से पृथक् हैं' यह कहा जाता है। क्योंकि स्वेच्छानुसारी (सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अर्थात् मौलिक विचारक) भरत मुनि ने (भी) ऐसा ही इन दोनों का (पारस्परिक) भेद किया है।

टि०–'स च.....विरहः' यह कारिका यहाँ कुछ गद्य पद्य भरी सी मिलती है। उसका संशोधित रूप इस प्रकार है–

स च सङ्गमप्रत्याशाकालीनस्तदनुत्पादः।
अभिलाष इच्छा देशैक्येऽपि गुर्वादिपारतन्त्र्यं विरहः।।

यह विरह विप्रलम्भ गुरुजनों की उपस्थिति होने पर लज्जा आदि से भी हो सकता है और नायक नायिका इन दोनों में से किसी एक के अनुरागशून्य होने पर भी हो सकता है। एक ही शय्या पर आसीन होने की स्थिति में भी विरहविप्रलम्भ हो सकता है।

3. ईर्ष्याविप्रलम्भ–(अपने) प्रेमी (पति) के सौत के साथ (आलिङ्गन चुम्बनादि करते हुए) परस्पर आबद्ध होने पर ईर्ष्या से उत्पन्न हुआ क्रोध ईर्ष्या (विप्रलम्भ) कहलाता है।। 31।।

कुछ आचार्य प्रणयकोप से उत्पन्न (मान नाम का) विप्रलम्भ होता है ऐसा मानते हैं।

टि०–प्रणयकोप से उत्पन्न होने वाला विप्रलम्भ ही प्रणयमान विप्रलम्भ है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने चार प्रकार का विप्रलम्भ माना है–

स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात्। साहित्यदर्पण 3, 187 इस प्रकार साहित्यदर्पणकार ने अभिलाषविप्रलम्भ और ईर्ष्याविप्रलम्भ के स्थान पर क्रमशः पूर्वरागविप्रलम्भ और मानविप्रलम्भ नाम के भेद माने हैं। विरहविप्रलम्भ नाम का भेद नहीं माना है। मानविप्रलम्भ के दो भेद किये हैं 1. प्रणयमान और 2. ईर्ष्यामान।

मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः।

गुर्वादिपारतन्त्र्येण यूनो देशान्तरे स्थितिः।
प्रवासो मुनिकोपेन यन्त्रणं शाप उच्यते।। 32।।

मुनिरित्युपलक्षणं देवतादीनाम्।

यूनोरेकतरस्मिन् गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदेकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः।। 33।।

द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि।।
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना।

साहित्यदर्पण, 3,198-99।

कोप का ही दूसरा नाम मान है। यह मान विप्रलम्भ दो प्रकार का है 1. प्रणय से उत्पन्न और दूसरा ईर्ष्या से उत्पन्न। क्योंकि प्रेम की उलटी ही रीति है इस कारण दोनों के हृदय में भरपूर प्रेम होने पर भी बिना ही कारण जो एक दूसरे के ऊपर कोप है उसे प्रणयमान कहते है।

यहाँ 'प्रणयकोपहेतुकविप्रलम्भ इति केचित्' कहकर ग्रन्थकार ने साहित्यदर्पण के इसी मत की ओर सङ्केत किया है। काव्यप्रकाशकार मम्मट का अनुसरण करते हुए ग्रन्थकार ईर्ष्याविप्रलम्भ को मानते हैं जबकि साहित्यदर्पणकार इसके स्थान पर मानविप्रलम्भ मानते हैं और तदनन्तर इसके प्रणयमान और ईर्ष्यामान नामक दो भेद करते हैं।

बड़े (राजा, माता पिता और आचार्य) आदि लोगों की (आज्ञा रूपी) पराधीनता के कारण युवती और युवकों की विदेश में स्थिति हो जाने पर 4. प्रवास नामक विप्रलम्भ शृङ्गार होता है। मुनि, (देवता आदि) के क्रोध से किसी विपत्ति में फंस जाना अथवा किसी स्थान में अवरुद्ध हो जाना 5. शाप कहलाता है।। 32।।

(कारिका में पठित) 'मुनि' शब्द देवता आदि का उपलक्षण है (अर्थात् मुनि शब्द से तपस्वी मुनि इस अर्थ के ग्रहण के साथ देवता आदि का भी उपादान होता है)।

नायक और नायिका दोनों में से किसी एक के परलोक में जाने पर (मर जाने पर) उसके फिर से मिलने की आशा होने से जब दूसरा उन्मना (छटपटाता है–दुःखी) होता है तो वह करुणविप्रलम्भ नामक रस कहलाता है।। 33।।

इति। मूर्च्छितनायकादिविषयः करुणविप्रलम्भोऽप्यन्योऽस्तीति प्राञ्चः। क्रमेणोदाहरणानि–

न्यञ्चद्भ्रूभङ्गि किं तस्या लज्जालोलविलोचनम्।
अन्तःस्मितसुधासिक्तं भूयादर्धवचो मयि।। 25।।

विरहो यथा–

समानकुलशीलयोः समरुचोः परायत्तयोः
परस्परविलोकनाकुलितचेतसोः प्रेयसोः।[1]
तनुत्वमनुविन्दतोर्बहुविधं विधिं निन्दतो–
रशक्यविनिवेदना विरहवेदना वर्धते।। 26।।

यह (लक्षण) है–इस रूप में प्राचीनों का मत है कि करुणविप्रलम्भ नामक दूसरा अलग भेद भी मूर्च्छित (बेहोश) नायकादिविषयक है।

टि०–इस प्रकार उक्त कारिका (साहित्यदर्पण 3, 209) में आचार्य विश्वनाथ का मत बताया हुआ है। अभिप्राय यह है कि जब परलोकगत व्यक्ति से इसी जन्म में इसी देह से फिर मिलने की आशा हो तब करुणविप्रलम्भ होता है जैसे कादम्बरी में पुण्डरीक और महाश्वेता का वृत्तान्त। किन्तु यदि फिर मिलने की आशा टूट जाय अथवा जन्मान्तर में मिलने की आशा हो तब करुणरस होता है।

क्रम से इनके उदाहरण हैं–(क) (अभिलाषविप्रलम्भ का उदाहरण जैसे)

उस सुन्दरी नायिका की तिरछी भौंहों के सञ्चालन से युक्त और शर्म के कारण चञ्चल नेत्र और भीतरी मुस्कुराहट रूपी अमृत से भीगा हुआ आधा आधा वचन (प्रेमातिशय के कारण अधूरा अधूरा वाक्य) क्या कभी मेरे लिए प्रयुक्त होगा?।। 25।।

(ख) विरहविप्रलम्भ (का उदाहरण) जैसे–

एक जैसे कुल और स्वभाव वाले, एक जैसी प्रीति और अनुराग से युक्त, दूसरों (अपने से बड़े लोगों) की आज्ञा के अधीन, एक दूसरे को देखने के लिए व्याकुल चित्त वाले, कृशता को प्राप्त और अनेक प्रकार से विधाता या रीति रिवाजों की निन्दा करने वाले इन दोनों प्रेमियों की अकथनीय (इलाज न होने वाली) विरहपीड़ा बढ़ रही है।। 26।।

---

1. अ ज, प्रेयसोः त में नहीं।

ईर्ष्याहेतुको यथा–

कान्तेन प्रहितं करे परिजनैर्नीतं निवेश्यादरान्
मौलौ मन्मथलेखमन्यसुदृशो दृष्ट्वाथ नामाक्षरम्।
नासाग्रप्रहिताङ्गुलीकिसलयं[1] पाणौ निषिक्ताननं
दीर्घं निःश्वसितं मनाग् विहसितं धूतं च तन्व्या शिरः।। 27 ।।

प्रवासहेतुको यथा–

सान्त्वप्रायैर्वचनरचनैर्गन्तुमापृच्छमाने
कान्ते तिर्यङ्नमितवदना रुन्धती वाष्पपूरम्।
दीर्घोच्छ्वासस्थगितविकलोत्कम्पिनासापुटान्ता
सङ्ख्याशून्यं गणयति मृगीलोचना कङ्कणानि।। 28 ।।

(ग) ईर्ष्या के कारण उत्पन्न होने वाला (विप्रलम्भ का उदाहरण) जैसे–
अपने प्रेमी के द्वारा भेजे गये और सेवकों के द्वारा (गुप्त रूप से) लाये गये प्रेमपत्र को आदरपूर्वक अपने सिर पर रखकर किन्तु थोड़ी ही देर बाद दूसरी सुन्दरी नायिका के नाम के अक्षरों को देखकर नाक के अग्रभाग में नये कोमल पत्ते के समान कोमल अंगुलियों को रखकर और हाथ पर मुंह को टिकाकर उस सुन्दरी ने लम्बा साँस लिया, थोड़ी सी हँसी और सिर को हिलाया।। 27 ।।

टि०–नायक ने यह पत्र अपनी प्रच्छन्न प्रेमिका को लिखा था किन्तु स्वकीया के हाथ में पड़ गया। 'दीर्घं निःश्वसितम्' से इस नायिका के स्वाभिमान को चोट पहुँचने के कारण अपमान का बोधन हो रहा है। 'मनाग् विहसितम्' से पति की धूर्तता का बोध हो रहा है, बड़े चालाक बनते थे किन्तु सारी पोल खुल गई है, 'शिरः धूतम्' से अब मैं इन दोनों (पति और सौत) को अच्छी तरह देख लूँगी यह अर्थ ध्वनित हो रहा है।

(घ) प्रवास के कारण उत्पन्न (विरह का उदाहरण) जैसे–
दिलासा भरी बातों को कहकर अपने जाने के लिए पति द्वारा पूछे जाने पर तिरछे रूप में नीचे की ओर झुके हुए मुख वाली, आँसुओं के प्रवाह को (जबर्दस्ती) रोकते हुई, लम्बे लम्बे श्वासों से अवरुद्ध एवं व्याकुलता के कारण काँपते हुए नासिका छिद्रों से युक्त, हरिणी के समान सुन्दर नेत्रों वाली यह सुन्दरी असङ्ख्य बार अपने हाथ के कंगनों को गिनती है।। 28 ।।

1. ज, किशलयं अ त।

शापहेतुको यथा–

> निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
> शुद्धस्नानात् परुषमलकं नूनमागण्डलम्बि।
> मत्संयोगः सुखमुपनयेत् स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
> माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्।। 29।।

अथ वीरादीनां क्रमेणोदाहरणानि–

तत्र–वीरो दानधर्मदयायुद्धभेदाच्चतुर्विधः।

टि०–यहाँ प्रयास्यत्पतिका का वर्णन है। पति बड़े ढंग से और चतुरता से अपनी बात को कहता है। मैं शीघ्र ही आ जाऊँगा, पत्रादि लिखता रहूँगा, घबराने की कोई बात नहीं है इत्यादि वाक्यों से अपनी नायिका को ढाढस बँधाता है किन्तु वह अनमनी हो रही है। ऐसी दशा में नायिका से न ही कुछ कहते बनता है और न ही सुनते बनता है।

(ङ) शाप के कारण उत्पन्न (विप्रलम्भ का उदाहरण) जैसे–

नवीन पत्ते के समान कोमल निचले ओठ को पीड़ा पहुँचाने वाले (तेज चलने के कारण गर्म साँस किसलय सदृश ओठ को म्लान कर रहा है) साँस से कपोल प्रदेश तक लटकते हुए सादे स्नान के कारण (तेल आदि से न सँवारे हुए अतएव) रूखे बालों को परे फैंकती हुई 'स्वप्न में भी मेरा संयोग सुख प्रदान करेगा' यह सोचकर नेत्रों के पानी के प्रवाह से रुके हुए मध्य भाग से युक्त नेत्रों वाली निद्रा की कामना करती हुई (उस पतिव्रता) प्रेयसी को देखना।। 29।।

टि०–नायिका की आँखें अश्रुओं से भर जाने के कारण दृष्ट्यवरोध होने से देखने में असमर्थ हैं। मेघदूत (2, 31) में शापग्रस्त यक्ष की यह उक्ति है।

इसके बाद वीरादि रसों के क्रम से ये उदाहरण हैं। उनमें–

दान, धर्म, दया और युद्ध (इन चार धर्मों के) भेद से यह वीर चार प्रकार का होता है।

टि०–ये भेद इस प्रकार दिखाये जा सकते है।

वीर

1. दानवीर 2. धर्मवीर 3. दयावीर 4. युद्धवीर

आद्यो यथा–

नाशिष्यः किमभूद्भवः किमभवन्नापुत्रिणी रेणुका
नाभूद्विश्वमकार्मुकं किमपि वः प्रीणातु रामत्रपा।
विप्राणां प्रतिमन्दिरं मणिगणोन्मिश्राणि दण्डाहते
नाब्धीनां समया यमोऽपि महिषेणाम्भांसि नोद्वाहितः।। 30।।

द्वितीयो यथा–

---

2. वीर का (क) पहला (दानवीर का उदाहरण) जैसे–

(अपने) परशुदण्ड द्वारा (क्षत्रियों के ऊपर किये गये आक्रमण से क्षत्रियों के) मारे जाने पर (भी अभी तक) ब्राह्मणों के सारे घर मणिसमूहों से प्रकाशमान नहीं हुए हैं (ब्राह्मणों को प्रचुर मात्रा में क्षत्रियों की समृद्धि नहीं प्राप्त हुई है) और (सारी पृथिवी ब्राह्मणों को दान कर देने के बाद अपने निवास के लिए पृथक् स्थान पाने के लिए) भैंसे के द्वारा यमराज से मैंने अभी समुद्रों के बीच में से पानी भी नहीं ढुलवाया है (इस कारण अभी समुद्र में भी मेरे लिए स्थान नहीं बन पाया है। मेरी इस निर्बलता से) क्या महादेव जी कुशिष्य वाले सिद्ध नहीं हुए हैं? क्या मेरी माता रेणुका निपूती नहीं साबित हुई है और क्या आज सारा संसार धनुषरहित भी अर्थात् प्रशस्त धनुर्धारी योद्धाओं से विहीन नहीं हो गया है? इस रूप में होने वाली परशुराम की लज्जा आपको प्रसन्न करे।। 30।।

टि०–प्रस्तुत श्लोक में परशुराम अपना यह दुःख प्रकट कर रहे हैं कि क्षत्रियों का वध करने पर भी अभी तक ब्राह्मण समृद्ध नहीं हुए हैं और मेरे लिए रहने के लिये इस पृथिवी पर जगह भी नहीं है। रामायण और पुराणों में प्रसिद्ध है कि परशुराम ने 21 बार क्षत्रियों का संहार कर दिया था और सारी पृथिवी ब्राह्मणों को दान में दे दी थी। सब कुछ दान में देने के बाद उनके पास अपने रहने के लिए कोई जगह नहीं बची थी। इस कारण उन्होंने समुद्र में से पानी निकलवाकर अपने रहने के लिए अलग से जमीन बनाई थी। उपर्युक्त श्लोक में अपना सर्वस्व दान देने वाले परशुराम का असन्तोष अभिव्यक्त हो रहा है जो उनके लोकोत्तर दानी होने का द्योतक है।

(ख) दूसरा (धर्मवीर का उदाहरण) जैसे–

राज्यं वसु च देहश्च भार्या भ्राता सुताश्च ये।
यच्च लोके मदायत्तं तद् धर्माय सदोद्यतम्।। 31।।

तृतीयो यथा–

तथेति गामुक्तवते दिलीपः सद्यःप्रतिष्टम्भविमुक्तबाहुः।
स न्यस्तशस्त्रो हरये स्वदेहमुपानयत् पिण्डमिवामिषस्य।। 32।।

चतुर्थो यथा–

निस्त्रिंशत्रुटितारिवारणघटाकुम्भास्थिकूटावट-
स्थानस्थायुकमौक्तिकोत्करकिरः कैरस्य नायं करः।
उन्नीतश्चतुरङ्गसैन्यसमरत्वङ्गत्तुरङ्गक्षुर-
क्षुण्णासु क्षितिषु क्षिपन्निव यशः क्षोणीजबीजव्रजम्।। 33।।

राज्य, धन, शरीर, पत्नी, भाई और पुत्र और इस संसार में जो कुछ भी मेरे अधीन है अथवा मेरे पास है वह सब कुछ धर्म के लिए सदा प्रस्तुत है (न्यौछावर) है।। 31।।

(ग) तीसरा (दयावीर का उदाहरण) जैसे–

वैसा ही हो–(यदि तुम गाय के बदले अपना शरीर देना चाहते हो तो दो) इस प्रकार की वाणी को कहने वाले सिंह को तुरन्त ही स्तम्भ (अवरोध) से मुक्त हुई भुजा वाले राजा दिलीप ने शस्त्रों का परित्याग करके माँसपिण्ड के समान (तुच्छ समझते हुए) अपना शरीर अर्पित कर दिया।। 32।।

टि०–यह श्लोक रघुवंश के द्वितीय सर्ग का है। इसमें सिंह और दिलीप का उत्तर प्रत्युत्तर है।

(घ) चौथा (युद्धवीर का उदाहरण) जैसे–

अपनी तलवार से तोड़ी गई शत्रुओं के हाथियों के समूह के गण्डस्थलों की हड्डियों के ढेरों के गर्तप्रदेशों में जड़े हुए मोतियों के समूह को बिखेर कर लगाने वाला, एवं चतुरङ्गिणी (रथ, अश्व, पैदल और हाथी वाली) सेना के दौड़ते हुए घोड़ों की टापों से खुदती हुई जमीनों में यश रूपी वृक्ष बीजसमूह को डालता हुआ सा इस राजा का यह हाथ किनके द्वारा ऊपर नहीं उठाया गया है? (अर्थात् सबने ही इसे उठाया है)।। 33।।

अयं चतुर्विधोऽपि–

उत्साहप्रकृतिकत्वाद् वीर इत्यभिधीयते।। 34।।

करुणो यथा–

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां बत किन्न मे हृतम्।। 34।।

यथा वा–

हृदयान्नापयातोऽसि दिक्षु सर्वासु दृश्यसे।
वत्स राम गतोऽसीति सन्तापादनुमीयते।। 35।।

अयं शोकप्रकृतिकत्वात् करुणः।

टि०–विजयी राजा का हाथ उसके सहयोगियों ने अपने हाथों में पकड़कर ऊपर की ओर उठा दिया है। यह विजयाभिव्यक्ति का एक प्रकार है।

यह चार प्रकार का होता हुआ भी एक वीर रस ही कहा जाता है क्योंकि इसका उत्साह (स्थायिभाव नामक मूल) कारण (इन सारे भेदों में समान रूप से रहता) है।। 34।।

3. करुण (रस का उदाहरण) जैसे–

(हे इन्दुमती तुम) घर का सारा भार संभालने वाली धर्मपत्नी, मन्त्री, सलाहकार, आपस में घुल मिल कर बातें करने वाली सहेली और (काव्य, नाट्य, संगीत तथा रतिसम्बन्धी) ललित कलाओं में मेरी प्यारी शिष्या रही हो। बड़े दुःख की बात है, तुमको हरते हुए निष्ठुर काल ने मेरा क्या नहीं हर लिया? अर्थात् मेरा सब कुछ ही छीन लिया है।। 34।।

टि०–रघुवंश में इन्दुमती के मरने पर अज की यह विलापोक्ति है।

अथवा दूसरा करुण (का उदाहरण) जैसे–

हे (प्रिय) पुत्र राम! तुम मेरे हृदय से नहीं निकले हो और सारी दिशाओं में मुझे दिखाई दे रहे हो। तुम मुझे छोड़कर चले गये हो इसका अनुमान मुझे अपने हृदय में होने वाली पीड़ा से हो रहा है।। 35।।

शोक (स्थायिभाव रूप) कारण से यह करुण रस है।

टि०–इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् (सा० द० 3, 222) इस परिभाषा के अनुसार यहाँ करुण रस है। राज्य, पुत्र आदि इष्टवस्तु के छिन जाने पर करुण रस होता है। यहाँ राम के वन चले जाने पर पुत्रशोकातुर दशरथ की यह उक्ति है।

रौद्रो यथा–

अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः।। 36।।

अयं च क्रोधप्रकृतिकत्वाद्रौद्रः।

अद्भुतो यथा–

जातो यस्तपसां बलेन सहसा राजन्यतायां द्विजः
स्पर्धाबन्धकुतूहलेन समभूच्चण्डालयाजी च यः।
येनाकारि सहस्रलोचनरुषा सर्गान्तरं कौतुका-
दायातः सहसा स चित्रविभवः श्रीगाधिसूनुस्तदा।। 37।।

---

4. रौद्र (रस का उदाहरण) जैसे –

एक दूसरे के साथ टकराने से फटे हुए हस्तिमस्तिष्कों (माथों) के अन्दर से निकले हुए खून और चर्बी की घनी कीचड़ में डूबे हुए रथों के ऊपर पैर रखकर चलती हुई पैदल सेना वाले, प्रचुर मात्रा में उपलब्ध रुधिर को पीने वाली मण्डली में शोर करती हुई अमङ्गलकारी गीदड़ियों के तुरही की आवाज जैसे स्वरों के ऊपर नाचते हुए कबन्धों (सिर रहित धड़ों) वाले (इस प्रकार के) सङ्ग्राम रूपी अद्वितीय समुद्र के भीतर जल में घूमने (तैरने) के लिए पाण्डव चतुर हैं।। 36।।

टि०–वेणीसंहार नाटक में यह भीम को उक्ति है।

और यह क्रोध (नामक स्थायिभाव) से उत्पन्न होने के कारण रौद्र रस का उदाहरण है।

5. अद्भुत (रस का उदाहरण) जैसे–

क्षत्रिय जाति में उत्पन्न होकर (भी) जो अपने तपों की शक्ति से जबर्दस्ती ब्राह्मण बन गये थे, जो (श्रेष्ठ सिद्ध होने की) होड़ करने की उत्सुकता से चाण्डाल (बने हुए त्रिशङ्कु का) यज्ञ कराने वाले पुरोहित बने थे तथा जिन्होंने इन्द्र के ऊपर क्रोध करने के कारण नई सृष्टि का निर्माण किया था, वे (जगत्प्रसिद्ध) विचित्र सामर्थ्य वाले श्रीमान् गाधि के पुत्र विश्वामित्र तब अचानक (वहाँ) आ गये।। 37।।

टि०–विश्वामित्र कान्यकुब्ज के राजा थे और वे क्षत्रियवंशोत्पन्न राजा गाधि के पुत्र थे। एक बार वे शिकार खेलते खेलते वसिष्ठ ऋषि के आश्रम में जा पहुँचे। वहाँ उनकी अच्छी गायों को देखकर उन्होंने धन देकर उन्हें लेना चाहा और न मिलने पर उन्हें बलपूर्वक छीनने का प्रयत्न किया। घोर सङ्ग्राम हुआ किन्तु विश्वामित्र को पूर्ण पराजय मिली। इस पराजय से विश्वामित्र को बड़ा क्षोभ हुआ, साथ ही वसिष्ठ के ब्राह्मणत्व (की शक्ति) से वह बहुत प्रभावित हुए। जब ब्राह्मण बनने के लिए उन्होंने वर्षों तक तपस्या की तब कहीं जाकर वह ब्राह्मण बन सके। इस प्रकार उन मनस्वी विश्वामित्र ने तपस्या करके ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया था।

उन्होंने एक बार त्रिशङ्कु को यज्ञ भी कराया था। त्रिशङ्कु सूर्यवंश में उत्पन्न अयोध्या का राजा था। वह यद्यपि बुद्धिमान्, धर्मात्मा और न्यायपरायण शासक था तो भी उसमें एक यह बहुत बड़ा दोष था कि वह अपने को सर्वोपरि समझता था। उसने इसी शरीर से स्वर्ग जाने की इच्छा से यज्ञ कराना चाहा और इसके लिए उसने अपने कुलगुरु वसिष्ठ से यज्ञ कराने की प्रार्थना की। वसिष्ठ ने उसकी प्रार्थना को ठुकरा दिया। उनके मना करने पर उसने उनके 100 पुत्रों से यज्ञ कराने की प्रार्थना की किन्तु उन्होनें भी इस प्रस्ताव को निरर्थक बताकर मना कर दिया। क्रुद्ध होकर त्रिशङ्कु ने उन्हें कायर और नपुंसक कहा। इस पर उन्होंने त्रिशङ्कु को चाण्डाल हो जाने का शाप दे दिया। जब वह त्रिशङ्कु चाण्डाल हो गया तो कोई भी उसका यज्ञ कराने के लिए तैयार नहीं हुआ। विश्वामित्र के परिवार की उसने दुर्भिक्ष के समय मदद की थी। इस उपकार का स्मरण करके केवल विश्वामित्र ने ही उसका पुरोहित बनना स्वीकार किया। विश्वामित्र द्वारा रचित इस यज्ञ में देवताओं का भी आवाहन किया गया किन्तु देवता लोग अपना अपना यज्ञभाग ग्रहण करने नहीं आये। इस कारण उसे स्वर्ग जाने योग्य दूसरा शरीर नहीं प्राप्त हुआ। इससे विश्वामित्र ने कुपित होकर अपनी शक्ति से इसी पार्थिव शरीर के साथ ही त्रिशङ्कु को स्वर्ग भेज दिया। तब वह आकाशमण्डल में उड़ता चला गया किन्तु इन्द्रादि देवताओं ने उसे सिर के बल नीचे ढकेल दिया। नीचे आते हुए उसे विश्वामित्र ने 'त्रिशङ्कु तुम वहीं ठहरो' कहकर आकाश में ही स्थिर कर दिया। परिणामतः वह वहीं और नक्षत्रों के साथ टिक गया फिर उन्होंने उसके लिए एक और दूसरा स्वर्ग बनाना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु ब्रह्मादि देवताओं की प्रार्थना से उसे बनाना बन्द कर दिया।

अथवा–

अंशुकानि प्रवालानि पुष्पं हारादिभूषणम्।
फलं मधूनि हर्म्याणि शाखा नन्दनशाखिनाम्।।38।।

अयं चाद्भुतो विस्मयप्रकृतिकत्वात्।

भयानको यथा–

गर्वग्रन्थिलगूर्जरज्वरकरः कर्णाटकर्णाटवी–
दावाग्निर्द्रविडेन्द्रदर्पदलनो गौडेन्द्रनिद्राहरः।
हम्मीरप्रमदामदालसलसद्भ्रूनर्तनस्तम्भनः
प्रस्थाने तव कर्ण डिण्डिमडमत्कारः समुज्जृम्भते।।39।।

अयं च भयप्रकृतिकत्वाद् भयानकः

बीभत्सो यथा–

अथवा (अद्भुत रस का दूसरा और उदाहरण)

(स्वर्गवासियों के) नन्दनवन के वृक्षों के कोमल पत्ते वस्त्र हैं और फूल हार आदि आभूषण हैं। फल मिष्टान्न हैं और शाखायें (उनके) भवन हैं।।38।।

विस्मय (स्थायिभाव से उत्पन्न होने) के कारण होने से यह अद्भुत रस है।

6. भयानक (रस का उदाहरण) जैसे–

हे कर्ण! आपके युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय, गर्व से परिपूर्ण गुर्जर देशवासी राजाओं के ज्वर को पैदा करने वाला, कर्णाट देश के राजाओं के कान रूपी जंगलों के लिए दावाग्नि रूप, द्रविड़ राजाओं के अभिमान को चूर चूर करने वाला, गौड़ राजा की नींद को हरने वाला, और हम्मीरवंशीय राजाओं की सुन्दरियों के मद से आलस्ययुक्त (अचपल) एवं सुशोभित भौंहों के नर्तन को रोकने वाला रणदुन्दुभि का यह डम डम (ध्वनि वाला) शब्द वृद्धि को प्राप्त कर रहा है।।39।।

यह भय से उत्पन्न होने के कारण भयानक रस है।

7. बीभत्स (रस का उदाहरण) जैसे–

एभिः[1] कङ्कालकूटैरतिविकटतरां कण्ठमालां दधाना
मज्जासृक्पानमत्ता रसदशिवशिवाभैरवं क्रन्दमाना।
वेगादामोदकण्ठं फलमिव मृदुलं मुण्डमास्ये क्षिपन्ती
क्षोणीमाकम्पयन्ती क्षयरजनिसमा राक्षसी प्रादुरासीत्।। 40।।

यथा वा–

पायं पायं तवारीणां शोणितं पाणिसम्पुटैः।
कौणपाः सह नृत्यन्ति कबन्धैरन्त्रभूषणाः।। 41।।

अयं च जुगुप्साप्रकृतिकत्वाद् बीभत्स इत्यभिधीयते।

हास्यो यथा–

स्थाने यस्य चरन्ति भैक्ष्यमनिशं स्नेहेन युष्मादृशाः
स स्यादच्युतमूर्त्तिसेवनवशाद् धन्यः पवित्रालयः।

इन (नरगजादियों) के कङ्कालों (अस्थिपंजरों) के समूहों से बनी हुई और बहुत अधिक भयङ्कर, कण्ठ में पहनी जाने वाली माला को धारण करती हुई, चर्बी और रुधिर को पीने से मस्त और पागल बनी हुई, चिल्लाती हुई और अमङ्गलस्वरूपिणी गीदड़ियों के भयङ्कर शब्द के समान शब्द करती हुई, हर्षकण्ठ होकर अर्थात् हर्षित कण्ठध्वनि के साथ फल के समान कोमल (सिर) को अपने मुख में तेज़ी के साथ डालती हुई, पृथिवी को कँपाती हुई और प्रलयकाल की रात्रि के समान (काली और भयङ्कर) राक्षसी प्रकट हुई।। 40।।

अथवा (बीभत्स रस का दूसरा उदाहरण) जैसे–

अंतड़ियों के आभूषणों वाले राक्षस अपनी अंजलियों से तुम्हारे शत्रुओं के खून को बार बार पीकर कबन्धों (शिर से रहित प्राणयुक्त धड़ों वाले राक्षसों) के साथ नाच रहे हैं।। 41।।

और यह जुगुप्सा (नामक स्थायिभाव से उत्पन्न होने के) कारण होने से बीभत्स रस कहलाता है।

8. हास्य (रस का उदाहरण) जैसे–

जिस (देवालय की) प्राङ्गण भूमि में तुम्हारे जैसे लोग रात दिन प्रेमपूर्वक भिक्षान्न का भक्षण करते हैं, भगवान् विष्णु की मूर्ति की आराधना (या

---

1. अ, ऐभैः ज त

किन्त्वस्मत्प्रतिवेशिविप्रवनिताभ्रातृप्रसक्ताङ्गना-
दूती सप्रसवेति सूतकमिति स्थानान्तरं गम्यताम्।। 42।।

अयं च हासप्रकृतिकत्वाद् हास्यः।

स्नेहप्रकृतिः प्रेयान् सङ्गतिशीलार्यनायको भवति।
स्नेहस्तु[1] साहचर्यात् प्रकृतेरुपकारसम्बन्धात्।। 35।।

पूजा) होने से वह पवित्र मन्दिर (अब भी पहले की तरह ही) धन्य बना रहता। किन्तु हमारे पड़ोसी ब्राह्मण की पत्नी के भाई में फँसी हुई (प्रेमासक्त) सुन्दरी दूती ने सन्तानोत्पन्न की है इस कारण यहां (मन्दिर में भी) क्योंकि सूतक (अपवित्र स्थान) है इसलिए आप (यहां से) किसी दूसरी जगह तशरीफ ले जाइए।। 42।।

टि०–यहाँ यह हास्य ध्वनि निकलती है कि यह देवमन्दिर तुम्हारे जैसे निठल्ले, मूर्ख और अनाज बिगाड़ने वाले व्यक्तियों से पहले ही अधन्य था। अच्युतमूर्ति सेवन के कारण तुम भी (अच्युत के तीन अर्थ 1. विष्णु 2. नपुंसक 3. ब्रह्मचारी) नपुंसक या ब्रह्मचारी बने रहे और रतिमुख से वञ्चित ही रहे किन्तु इस तरह मूर्खों की भाँति रहने पर भी तुम किसी प्रकार की बदनामी न होने से अब तक सुरक्षित रहे हो। किन्तु यहाँ पर अब स्त्रियों ने अवैध सन्तानों को पैदा करना शुरु कर दिया है इस कारण मन्दिर को सूतक स्थान (यद्यपि यह सार्वजनिक स्थान होने के कारण सूतक गृह नहीं है) अर्थात् अपवित्र स्थान समझकर तुम यहां से भाग जाओ। अन्यथा इन कुलीन और नीच व्यभिचारिणी स्त्रियों के साथ लोग तुम्हारा सम्बन्ध जोड़ने लग जायेंगे और तुम्हें इनसे उत्पन्न बच्चों का अवैध पिता बतलाने लगेंगे। अतः अपनी झूठी बदनामी से यदि बचना चाहते हो तो दण्ड कमण्डल उठाकर जल्दी ही दूसरी जगह चले जाओ। अन्यथा यहां रहने पर (नपुंसक अथवा ब्रह्मचारी रहने के कारण स्त्री प्रसंग न करने पर भी) व्यर्थ की बदनामी के अलावा और कुछ हाथ नहीं आयेगा। बदनाम हो जाने पर तो पहले मिलने वाली यह भिक्षा भी नहीं मिलेगी। यहाँ पर वक्ता मज़ाक के लहज़ें में किसी सीधे सच्चे साधु से यह सब कह रहा है।

और यह हास (स्थायिभाव से उत्पन्न होने के) कारण होने से हास्यरस का उदाहरण है।

प्रेयान् रस स्नेह (नामक स्थायिभाव) से उत्पन्न होता है। इस रस को निष्पन्न करने में सबके साथ मिल जुलकर रहने वाला आर्य अर्थात् उत्तम कुल में उत्पन्न विद्यादिगुणों से भूषित श्रेष्ठ नायक (प्रयुक्त) होता है।

---

1 ज अ; स्नेहेन त

निर्व्याजमनोवृत्तिः सनर्मसद्भावपेशलालापः।
अन्योऽन्यं प्रति सुहृदोर्व्यवहारोऽयं समस्तत्र।। 36।।
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रुः सुस्निग्धस्फारलोचनालोकः।
आर्द्रान्तःकरणतया स्नेहादयं भवति सर्वत्र।। 37।।

यथा–

कृष्ण त्वं नवयौवनोऽसि चपलाः प्रायेण गोपाङ्गनाः
कंसो भूपतिरब्जनालमृदुलग्रीवा वयं गोदुहः।
तद्याचेऽञ्जलिना भवन्तमधुना वृन्दावनं मद्विना
मा यासीरिति नन्दगोपवचसा क्रीतो[1] हरिः पातु वः।। 43।।

इकट्ठे रहने के कारण, निसर्गतः (स्वाभाविक रूप से अर्थात् निष्कामभाव से) उपकार के साथ सम्बन्ध करने के कारण निश्छल मन की भावना और शिष्ट शृङ्गार की चेष्टाओं से युक्त एवं सद्व्यवहार से स्निग्ध वार्तालाप ही स्नेह कहलाता है। उसमें अर्थात् स्नेह के होने पर दो मित्रों (शुभ चिन्तकों) में एक दूसरे के प्रति समान (बराबरी का) व्यवहार होता है।। 35-36।।

मन के द्रवित (गीले) होने से हर्ष के बहते हुए आँसुओं से युक्त अत्यधिक स्नेहपूर्ण एवं फैले हुए नेत्रों वाली दृष्टि यह (सारा व्यवहार) स्नेह के कारण सभी स्थानों में (सभी प्रेमियों के बीच) होता है (यह सब स्नेह के अनुभाव हैं)।। 37।।

टि०–रुद्रटकृत काव्यालंकार (15, 17, 19) से यह तीनों कारिकायें ली गई हैं।

9. प्रेयान् (रस का उदाहरण) जैसे–

हे कृष्ण! तुम नवयुवक हो (तुम भोले और अबोध हो) और अधिकांश गोप पत्नियाँ (बहुत) चञ्चल हैं। कंस (क्रूर) राजा है और हम ग्वाले कमल के समान कोमल गर्दन वाले अर्थात् अत्यन्त कमज़ोर हैं। इसलिए मैं हाथ जोड़कर तुमसे यह प्रार्थना करता हूँ कि मुझे साथ लिये बिना तुम वृन्दावन मत जाओ। इस प्रकार (अपने पिता) नन्दगोप के वचन से बिके हुए अर्थात् नन्दगोप के अधीन रहने वाले कृष्ण भगवान् आपकी रक्षा करें।। 43।।

---

1. ज अ, ह्रीणो त

अयं च स्नेहप्रकृतिकत्वात् प्रेयान्।

तदुक्तम्–

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति।।

शान्तो यथा–

माने म्लानिनि खण्डिते च वसुनि व्यर्थं प्रयातेऽर्थिनि
क्षीणे बन्धुजने गते परिजने भ्रष्टे शनैर्यौवने।
युष्माकं बलमेतदेव सुधियो यज्जह्नुकन्यापयः-
पूतग्रावगिरीन्द्रदन्तुरदरीकुञ्जे निवासः क्वचित्।।44।।

अयं च निर्वेदस्थायिभावः शान्तो रसः। अन्ये पुनरस्य धृतिप्रकृतिकत्वमामनन्ति। सापि निर्वेदविशेष एवेत्यवधेयम्।

और स्नेह स्थायिभाव से उत्पन्न होने के कारण यह प्रेयान् रस का उदाहरण है।

इस विषय में (उत्तररामचरित में) ऐसा कहा गया है–

जो बिना किसी कारण पक्षपात (प्रेम) होता है उसका कोई विनिमय नहीं है अर्थात् उसके बदले में कुछ भी नहीं दिया जा सकता। (इस कारण वह अमूल्य निधि है।) निश्चय से ही स्नेह स्वरूप वाला वह धागा अन्दर ही अन्दर (प्रेमियों के हृदयों के) मर्मस्थलों को सी देता है।

10. शान्त (रस का उदाहरण) जैसे–

घमण्ड के थक जाने पर, धन के नष्ट होने पर, याचक के व्यर्थ ही अर्थात् बिना कुछ लिये ही लौट जाने पर, अपने सम्बन्धियों के कमज़ोर हो जाने पर, नौकर चाकर अथवा परिवार के लोगों के चले जाने पर और जवानी के धीरे धीरे समाप्त हो जाने पर हे बुद्धिमान् व्यक्तियो! आपके लिए यही एक पराक्रम (भरा कार्य) है कि आप गङ्गा के जल से पवित्र पत्थरों वाले हिमालय की ऊँची नीची गुफाओं के कुञ्ज में (जाकर) कहीं निवास करें।।44।।

यह निर्वेद (नामक) स्थायिभाव वाला शान्त रस है। किन्तु दूसरे कुछ आचार्य इसे धृति कारण (स्थायिभाव) से उत्पन्न होने वाला मानते हैं। वह धृति भी निर्वेद का ही एक भेद है ऐसा समझना चाहिए।

रुद्रटादयस्तु–

सम्यग्ज्ञानप्रकृतिः शान्तो विगतेच्छनायको भवति।
सम्यग्ज्ञानं विषये तमसो रागस्य चापगमात्।।

इति तत्त्वज्ञानप्रकृतिकत्वमङ्गीकुर्वन्ति।

दान्तो यथा–

साधारणो निरातङ्कः कन्यामन्योऽपि याचते।
किं पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः।।45।।

अत्र रामस्योदात्तप्रकृतेर्मतिर्नाकृत्यविषये प्रवर्तते। प्रवृत्ता च नोपरमते। सा च सीतेयं मम स्वीकारयोग्येत्येवंरूपेण प्रवृत्ता रावणप्रार्थनालक्ष्मणप्रोत्साहनाभ्यामुद्दीप्यमाना

रुद्रट आदि आचार्य तो (काव्यालङ्कार 15, 15) में ऐसा कहते हैं–

शान्त रस का कारण (स्थायिभाव) सम्यक्ज्ञान (विवेक ज्ञान) है। इसका नायक निरभिलाष अर्थात् वैराग्यवान् व्यक्ति होता है। तमोगुण और सांसारिक विषयों के प्रति आसक्ति के हट जाने से यह तत्त्वज्ञान होता है।

इस प्रकार ये आचार्य शान्त रस को तत्त्वज्ञान कारण (से उत्पन्न होने) वाला मानते हैं अर्थात् इनके मत में इस रस का तत्त्वज्ञान स्थायिभाव है।

11. दान्त (रस का उदाहरण) जैसे–

साधारण (मामूली) और निरुपद्रवी दूसरा कोई पुरुष भी कन्या को (निर्भीक होकर) माँग लेता है। फिर सारे संसार को जीतने वाले एवं ब्रह्मा के प्रपौत्र रावण की तो बात ही क्या है?।।45।।

टि०–सीता स्वयंवर के समय रावण जब अपने लिये सीता की अभ्यर्थना करता है तो रामचन्द्र को यह बात अप्रिय लगती है। क्योंकि उनकी सीता के साथ आत्मीयता हो गयी है। किन्तु वे रावण की याचना को उदात्तप्रकृतिवान् होने के कारण चुपचाप सह लेते हैं। लक्ष्मण उन्हें विरोध के लिये भड़का रहे हैं कि रावण को सीता माँगने की जुर्रत नहीं करनी चाहिये थी। तब राम ने लक्ष्मण को समझाते हुए उपर्युक्त वचन कहा है और उसकी सीताविषयक याचना को स्वाभाविक ठहराया है। रावण के वचनों से यद्यपि उन्हें ईर्ष्या होनी चाहिए थी किन्तु वह नहीं हुई। क्योंकि उन्हें अपने मन को संयत रखने का अभ्यास था।

यहाँ उदात्त स्वभाव वाले राम की बुद्धि पहले तो अनुचित विषय की ओर

समुपजायमानव्रीडावहित्थास्मृत्यादिभिः कालोचितोत्तरानुमीयमानैश्च विवेकचातुर्य-धैर्यादिभिः संसृज्यमाना दान्तरूपेण निष्पद्यते। अयं धैर्यस्थायिभावाख्यो दान्तो रसः।

उद्धतो यथा-

क्षुद्राः सन्त्रासमेतं विजहत हरयः क्षुण्णशक्रेभकुम्भा
युष्मद्देहेषु लज्जां दधति परममी सायका निष्पतन्तः।
सौमित्रे! तिष्ठ पात्रं त्वमसि न हि रुषां नन्वहं मेघनादः
किञ्चिद्भ्रूभङ्गलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि।। 46।।

अयं च गर्वप्रकृतिकत्वादुद्धतो रसः। अथैषां स्थायिभावाः-

जाती ही नहीं है (इसी कारण वह रावण के लिये किसी प्रकार का दुर्वचन नहीं बोलते) और यदि न करने योग्य विषय की ओर चली भी जाती है तो उसमें आसक्त नहीं होती (इस प्रकार उनकी मनोवृत्ति थोड़ी सी अमर्यादित होकर भी फिर से मर्यादित हो जाती है)। और यह सीता मेरे ही स्वीकार (वरण) करने योग्य है इस रूप में उत्पन्न हुई राम की वह (धैर्य) बुद्धि रावण की याचना और लक्ष्मण के प्रोत्साहन (भड़काने) से उद्दीप्त होकर (राम के) उत्पन्न हुए लज्जा, अवहित्था (आकारगोपन) स्मृति आदि व्यभिचारिभावों और समयानुरूप दिये गये उत्तरों से अनुमान किये जाते हुए विवेक, चतुरता, धृति आदि व्यभिचारिभावों से पुष्ट होती हुई दान्त रस के रूप में निष्पन्न होती है। यह धैर्य स्थायिभाव वाला नामक दान्त रस है।

12. उद्धत (रस का उदाहरण) जैसे-

हे तुच्छ वानरो! इस भय को छोड़ो। इन्द्र के हाथी ऐरावत के गण्डस्थलों को फोड़ने वाले मेरे ये बाण तुम्हारे शरीरों पर गिरते हुए बहुत अधिक लज्जा को धारण कर रहे हैं। हे लक्ष्मण! तुम भी ठहरे रहो! तुम निश्चित रूप से (मेरे) क्रोधों के पात्र नहीं हो। क्योंकि मैं मेघनाद (अर्थात् मेघों के समान भयङ्कर गर्जना करने वाला परम वीर) हूँ और थोड़ी सी भौंहों को चढ़ाने मात्र खेल से ही समुद्र को नियन्त्रित करने वाले (अत एव समुद्रविजयी) राम को खोज रहा हूँ।। 46।।

टि०-काव्यप्रकाश (4, 40) में यही वीररस का उदाहरण बताया है।

और यह गर्वाख्यस्थायिभाव (से उत्पन्न होने) के कारण उद्धत रस है। इसके बाद इन रसों के स्थायिभावों को बताते हैं-

रतिरुत्साहशोकौ च क्रोधाश्चर्ये भयं तथा।
जुगुप्साहासवात्सल्या निर्वेदो धैर्यमेव च।। 38।।
द्वादशस्थायिभावास्ते गर्वान्ताः परिकीर्त्तिताः।

क्रमेण लक्षणोदाहरणानि।

मनोऽनुकूलेष्वर्थेषु सुखसंवेदनं रतिः।। 39।।
विभावाद्यैरभिव्यक्ता सैव शृङ्गारतां गता।

तद्रूपेण निष्पत्तिर्यथा–

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।। 47।।

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।। 40।।

---

1. रति, 2. उत्साह, 3. शोक, 4. क्रोध, 5. आश्चर्य, 6. भय, 7. जुगुप्सा, 8. हास, 9. वात्सल्य, 10. निर्वेद, 11. धैर्य तथा 12. गर्व पर्यन्त ये बारह स्थायिभाव कहे जाते हैं।। 38।।

क्रम से लक्षण और उदाहरण दिये जाते हैं–

(1. रति) मन को अच्छे लगने वाले पदार्थों में सुखानुभव रति कहलाता है।। 39।।

विभावादियों से अभिव्यक्त होकर वही शृङ्गार रस के रूप में परिणत हो जाती है।

टि०–रत्यादिस्थायिभावों के ये लक्षण ग्रन्थकार ने साहित्यदर्पण, दशरूपक आदि ग्रन्थों में से या तो ज्यों के त्यों अथवा कुछ परिवर्तन के साथ लिये हैं।

शृङ्गार रस के रूप में परिणत रति की अभिव्यक्ति (का उदाहरण) जैसे–

चन्द्रमा के उदय के आरम्भ में समुद्र (के उद्वेलित हो उठने) के समान कुछ धैर्य को छोड़ने वाले (अधीर) शिव ने बिम्बफल के सदृश (रक्तवर्ण) अधरोष्ठ से युक्त पार्वती के मुख पर अपनी (तीनों) आँखें गड़ा दीं।। 47।।

टि०–यहाँ पूर्णिमा की रात में ज्वार आने से क्षुब्ध समुद्र के साथ महादेव की तुलना की गई है।

2. (उत्साह) कार्यों के आरम्भ करने के समय स्थिरता (अधिक टिकाऊ)

तद्रूपेण रसनिष्पत्तिर्यथा–

मूर्ध्ना जाम्बवतोऽभिवाद्य चरणावापृच्छ्य सेनापती-
नाश्वास्याश्रुमुखान् मुहुः प्रियसखान् प्रेष्यान् समादिश्य च।
आरम्भं जगृहे महेन्द्रशिखरादम्भोनिधेर्लङ्घने
रंहस्वी रघुनाथपादरजसामुच्चैः स्मरन्मारुतिः।।48।।

शोकश्चित्तस्य वैधुर्यमभीष्टविरहादिभिः।

यथा–

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्ग्या रुजाकरी।
साधिशेते कथं देवी हुताशनवतीं चिताम्।।49।।

प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्य प्रबोधः क्रोध उच्यते।।41।।

उद्योग को उत्साह कहा जाता है। (वही उत्साह विभावादियों के द्वारा अभिव्यक्त होकर वीर रस के स्वरूप को प्राप्त होता है)।।40।।

(वीर) रस के रूप में परिणत उत्साह की अभिव्यक्ति (का उदाहरण) जैसे–

सिर से अर्थात् सिर झुका कर जाम्बवान् के चरणों को प्रणाम करके, सेनापतियों से विदा माँगकर, आँसुओं से भरे मुख वाले प्यारे मित्रों को बार बार (मैं शीघ्र सकुशल लौट आऊँगा इत्यादि वचन कहते हुए) सान्त्वना देकर और नौकरों को (तरह तरह के कार्य करने की) आज्ञा देकर इन सब कामों को करके श्री रामचन्द्र के पैरों की धूलि को (बोल बोल कर) ऊँचे स्वर में याद करते हुए वेगवान् हनुमान् ने समुद्र पार करने के लिये महेन्द्र पर्वत की चोटी से (कूदकर) उद्योग का ग्रहण किया अर्थात् उस पर्वत पर चढ़कर वहां से छलाँग लगाई।।48।।

(3. शोक) इष्ट वस्तु के वियोगादि से चित्त का व्याकुल हो जाना शोक है। जैसे–

जिस कोमल अङ्गों वाली (मेरी) प्रेयसी के लिए पुष्पों की सेज भी पीड़ाप्रद थी वह देवी इस समय इस अग्निप्रदीप्त चिता पर कैसे सो रही है?।।49।।

टि०–अपनी नायिका के मृत शरीर को चिता पर जलते हुए देख कर किसी शोकयुक्त नायक की यह उक्ति है।

(4. क्रोध) मन के विपरीत विषयों में (उनको देख कर) उग्रता की उत्पत्ति को क्रोध कहा जाता है।।41।।

यथा–

मय्येव विस्मरणदारुणचित्तवृत्तौ
वृत्तं रहः प्रणयमप्रतिपद्यमाने।
भेदाद् भ्रुवोः कुटिलयोरतिलोहिताक्ष्या
भग्नं शरासनमिवातिरुषा स्मरस्य।। 50।।

विस्मयश्चित्तविस्तारः पदार्थातिशयादिभिः।

कृष्णेनाद्य गतेन रन्तुमनसा मृद्भक्षिता स्वेच्छया
सत्यं कृष्णक एवमाह मुसली मिथ्याम्ब पश्याननम्।

जैसे–

अत्यन्त (प्रचण्ड) क्रोध के कारण अत्यधिक लाल आँखों वाली इस शकुन्तला ने (इसका) ठीक ठीक स्मरण न आने के कारण ही कठोर हुई मनोवृत्ति से युक्त और एकान्त में किये गये (अपने पूर्व) प्रेम को अस्वीकार करने वाले मेरे ऊपर ही तिरछी भौंहों के टुकड़े करने से (अपनी भौंहें चढ़ाकर मेरी ओर देखकर) मानों कामदेव के धनुष को ही तोड़ दिया है।। 50।।

टि०–यह श्लोक अभिज्ञानशाकुन्तल (5, 23) नाटक का है। जब शकुन्तला दुष्यन्त के सामने खड़ी होकर उसे अपने पूर्वप्रणय के प्रसङ्ग का स्मरण कराती है तो वह उसे पहिचानने से भी मना कर देता है। इससे अपमानित होकर शकुन्तला भौंहें चढ़ाकर अनार्यादि शब्दों को बोलती हुई अपना क्रोध प्रकट करती है। क्रुद्ध शकुन्तला की तनी हुई भौंहों को देखकर दुष्यन्त ने उपर्युक्त श्लोक कहा है। इस श्लोक के उत्तरार्ध में दुष्यन्त ने चढ़ी हुई भौंहों को देखकर शकुन्तला के सम्बन्ध में यह कल्पना की है–शकुन्तला की भौंहें पहले एक दूसरी से जुड़ी हुई थीं किन्तु मेरे ऊपर क्रोध करते समय जब ये ऊपर चढ़ गईं तो तन कर दो टुकड़ों में विभक्त हो गई हैं। पृथक् पृथक् भागों में दिखाई पड़ने वाली ये भौंहें मानों बाण रखकर जोर से खींचने के कारण दो टुकड़ों में टूटे हुए कामदेव के धनुष के समान लग रही हैं।

(5. विस्मय) पदार्थों (वस्तुओं) के अत्यधिक विचित्र होने आदि से चित्त के विस्तार का नाम विस्मय है।

जैसे–

(यशोदा भगवान् कृष्ण को कह रही है) आज घूमने के मन से गये कृष्ण

व्यादेहीति विदारिते च नयने दृष्ट्वा समस्तं जग-
न्माता यस्य जगाम विस्मयवशं पायात्स वः केशवः।। 51।।

भयं चित्तस्य वैक्लव्यं रौद्रादिजनितं विदुः।।42।।

यथा-

मन्त्रान्मृत्युजितो जपद्भिरसकृद् ध्यायद्भिरष्टौ सुरान्
शुष्यत्तालुभिराकुलाकुलपदैर्निर्वाग्भिरुत्कम्पिभिः।
अध्वन्यैरिह जीवितेशमहिषव्याधूतधूमाविला
लङ्घ्यन्ते करिमांसघस्मररणत्कौलेयकाः पल्लयः।। 52।।

ने अपनी मर्जी से मिट्टी खा ली है इस प्रकार मुसलधारी बलराम ने कहा है। हे मेरे नन्हें बेटे कृष्ण! क्या यह बात सच है? (कृष्ण का उत्तर) हे माता! यह बात झूठ है, आप मेरा मुख देख लें। (यशोदा की उक्ति) यदि ऐसी बात है तो मुँह खोल। इस वचन को सुनकर कृष्ण भगवान् के द्वारा मुख खोल देने पर उसमें सारे विश्व को देखकर जिनकी माता विस्मयाधीन (चकित) हो गईं वे भगवान् कृष्ण आपकी रक्षा करें।।51।।

टि०–प्रस्तुत श्लोक में कृष्ण के छोटे से मुख में सारे लोकों को देखकर उनकी माता यशोदा को विस्मय हो रहा है।

(6. भय) रौद्रादि (क्रोध, मारपीट और युद्ध अथवा किसी भयंकर दृश्य) से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता को भय के रूप में (विद्वान्) जानते हैं।। 42।।

जैसे-

महाकालेश्वर शिव के मन्त्रों का बार बार जाप करते हुए, आठ दिग्देवताओं अथवा आठों वसुओं का ध्यान करते हुए, सूखे हुए तालु (कण्ठैकदेश) वाले, अत्यन्त व्याकुल पैरों को रखते हुए, वाणीरहित होकर चुपचाप चलते हुए तथा (डर से) काँपते हुए पथिकों के द्वारा यहाँ पर यमराज के भैंसे के समान हिलने वाले धूओं से युक्त, हाथी के माँस के भक्षक और चिल्लाते हुए कुत्तों से भरी हुई अहीरों की छोटी ग्रामटिकायें लाँघी जा रही हैं।। 52।।

टि०–प्राची आदि आठ दिशाओं के दिग्देवता या दिक्पाल–इन्द्र, वह्नि, पितृपति, नैर्ऋत, वरुण, मरुत्, कुबेर और ईश हैं। आप, ध्रुव, सोम, धर, अनल, अनिल, प्रत्यूष और प्रभास ये आठ वसु माने जाते हैं।

जुगुप्सा गर्हणार्थानां दोषसन्दर्शनादिभिः।

यथा–

तन्मध्यं तदुदरस्तदेव वदनं ते लोचने ते भ्रुवौ
जातं सर्वममेध्यशोणितवसामांसास्थिलालामयम्।
भीरूणां भयदं त्रपास्पदमिदं विद्याविनीतात्मनां
तन्मूढैः क्रियते वृथा विषयिभिर्व्यर्थोऽभिमानग्रहः[1] ।। 53 ।।

अङ्गभङ्गादिभिश्चेतोविकारो हास उच्यते।। 43 ।।

आदिपदाद् विकृतवचनादीनि।

यहाँ अहीरों की कुत्तों से भरी भयानक बस्तियों का वर्णन है।

(7. जुगुप्सा) वस्तुओं के दोष आदि के देखने से उत्पन्न घृणा जुगुप्सा कहलाती है।

जैसे–

वह (दृष्टिहारी एवं मनोमुग्धकारी) मध्यभाग (कटिप्रदेश) वही उदरभाग और वही मुख और वे ही आँखें और वे ही भौहें–वह जो सब का सब (अवस्थान्तर) होने से अपवित्र रुधिर, चर्बी, माँस, हड्डी और लार से ओत प्रोत हो गया है। वह डरपोकों को डराने वाला और विद्या से विनीत स्वभाव वाले विद्वानों के लिए (तत्त्वबोध होने पर) लज्जा का घर है। इसलिए इन विषयों में आसक्ति रखने वाले कामुकों (लम्पटों) के द्वारा व्यर्थ ही (इन कामिनी आदि भोगसामग्री में) अभिमान (गर्व, ममत्वबुद्धि) का ग्रहण किया जाता है।। 53 ।।

टि०–सुन्दर स्त्री आदि व्यर्थ एवं नाशवान् पदार्थों को पाकर कामी जन मिथ्या अभिमान करते हैं। वस्तुतः ये पदार्थ नश्वर एवं घृणास्पद हैं। यह वर्णन किसी सुन्दरी के मृत शरीर के सड़ने या चिता पर जलने की दशा का है।

(8. हास) मुख आदि अङ्गों के तोड़ने मरोड़ने से चित्त में विकार आना हास कहलाता है।। 43 ।।

यहाँ आदि पद से अभिप्राय विकृत वचन (ऊटपटांग बातें) आदि हैं।

---

1. ज अ; व्यर्थाभिमानग्रहः त

यथा–

नास्माकं[1] जननी तथोज्ज्वलकुला सच्छ्रोत्रियाणां[2] पुन-
व्यूँढा काचन कन्यका खलु मया तेनास्मि ताताधिकः।
अस्मच्छ्यालकमित्रमातुलसुता मिथ्याभिशप्ता यतः
सत्सम्पर्कवशान्मया स्वगृहिणी प्रेयस्यपि प्रोज्झिता।। 54।।

(वात्सल्यम्)

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्मर्माणि सीव्यति।।

जैसे–

हमारी माता वैसे (उतने) उज्ज्वल कुल में नहीं पैदा हुई है किन्तु मैंने तो उत्तम वेदपाठी ब्राह्मणों के कुल की अवर्णनीय पण्डिता कन्या से ब्याह किया है। इस कारण मैं (विदुषी पत्नी का पति होने से) अपने पिता से भी बढ़ गया हूँ। क्योंकि हमारे साले के मित्र के मामा की लड़की को लोगों ने झूठमूठ की गाली दी है। इस कारण सज्जन व्यक्तियों के साथ सम्पर्क होने के कारण मुझ खानदानी ने (सीता को छोड़ने वाले कुल और मर्यादाप्रेमी राम आदि की तरह) वह अत्यन्त प्यारी अपनी पत्नी भी छोड़ दी है।।54।।

टि०–कोई वक्ता हँसी में कहता है कि हम तो शिक्षिता पत्नी के पति होने से अपने पिता से भी आगे बढ़ गये हैं क्योंकि पिता ने मूर्ख कन्या से विवाह किया था और हमने पढ़ी लिखी के साथ। क्योंकि बहुत बहुत दूर के रिश्ते की हमारी बहिन को लोगों ने गाली दे दी है इसलिए अपनी नाक को ऊँची रखने के लिए हमने अपनी पत्नी को छोड़ दिया है क्योंकि साले के मित्र के मामा की लड़की की बदनामी से साले की बदनामी हुई है और साले की बदनामी से हमारी पत्नी का अपयश हुआ है।

(9. वात्सल्य) जो (किसी का किसी के प्रति) निष्कारण प्रेम व्यवहार है उसका कोई निर्वर्तक हेतु नहीं हुआ करता (वह किसी प्रकार के स्वार्थ और अन्य किसी कारण से पैदा नहीं होता, वह स्वयं ही हो जाता है)। स्नेह से उत्पन्न होने वाला वह प्रेमतन्तु निश्चय ही प्राणियों के कोमल आन्तरिक

---

1. ज अ; अस्माकं त
2. त; सच्छोत्रिणी ज अ

यथा–

यस्य त्वया व्रणविरोपणमिङ्गुदीनां
तैलं न्यषिच्यत मुखे कुशसूचिविद्धे।
श्यामाकमुष्टिपरिवर्धितको जहाति
सोऽयं न पुत्रकृतकः पदवीं मृगस्ते।। 55।।

यथा वा–

पातुं न प्रथमं व्यवस्यति जलं युष्मास्वपीतेषु[1] या
नादत्ते प्रियमण्डनापि भवतां स्नेहेन या पल्लवम्।
आद्ये वः कुसुमप्रसूतिसमये यस्या भवत्युत्सवः
सेयं याति शकुन्तला पतिगृहं[2] सर्वैरनुज्ञायताम्।। 56।।

हृदय के स्थानों को सी देता है (एक के हृदय को दूसरे के हृदय से जोड़ देता है)।

टि०–उत्तररामचरित (5, 17) में सुमन्त्र द्वारा बोले गये इस श्लोक को ही यहाँ ग्रन्थकार ने वात्सल्य स्थायिभाव का वैशिष्ट्य बताने के लिए ले लिया है।

जैसे–

कुशाओं के अग्रभाग से घायल हुए जिस हरिण के मुख में जख्म को पूरा भरने वाले इङ्गुदी (हिंगोट) के तेल को तुमने लगाया था, श्यामाक नामक जंगली धानों की मुट्ठियों (अर्थात् मुट्ठियों में भरे धानों के खिलाने) से बढ़ा हुआ वह यह गोद लिया हुआ बेटा बना हरिण तुम्हारा रास्ता नहीं छोड़ रहा है।। 55।।

टि०–अभिज्ञानशाकुन्तल (4, 13) में यह श्लोक शकुन्तला को सम्बोधित करते हुए महर्षि कण्व ने कहा है।

अथवा जैसे–

जो तुम्हारे द्वारा जल न पीने पर तुमसे पहले पानी पीने की चेष्टा नहीं करती है, जो आभूषणप्रिय होते हुए भी स्नेह के कारण आपके पत्ते को (तोड़कर) नहीं लेती है और आपके ऊपर प्रारम्भिक पुष्पोत्पत्ति को देखने के समय

---

1. त; युष्मास्वसिक्तेषु ज अ
2. ज त; गृहे अ

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वापमाननम्।

यथा–

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं पश्यता-
मानन्दाश्रुजलं पिबन्ति शकुना निःशङ्कमङ्केशयाः।
अस्माकं तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतटे
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परं क्षीयते।। 57।।

विवेकः स्मृतिचातुर्यधैर्यव्रीडादिभिर्यदा।। 44।।
जायते विदुषां स्थैर्यं विदुस्तद्धि विवेचनम्।

यथा–

जिसको प्रसन्नता होती है वह यह शकुन्तला आज पतिगृह जा रही है। तुम सब मिलकर इसे जाने की अनुमति दो।। 56।।

टि०–यह श्लोक अभिज्ञानशाकुन्तल (4, 8) में शकुन्तला की विदाई के अवसर पर महर्षि कण्व ने तपोवन के वृक्षों को सम्बोधित करते हुए कहा है।

(10 निर्वेद) विवेकज्ञान, आपत्ति और आन्तरिक द्वेष आदि से अपना तिरस्कार निर्वेद कहलाता है।

टि०–यह कारिका दशरूपक (4, 9) में भी मिलती है। स्वापमाननम् के स्थान पर वहाँ स्वावमाननम् पाठ है। इसी प्रकार साहित्यदर्पण (3,142) में भी यह कारिका है। दोनों ही जगह स्वावमाननम् पाठ है।

जैसे–

बिना चिन्ता किये हुए अतएव निडर होकर गोदियों में बैठे हुए पक्षिगण–पहाड़ की गुफा में रहने वाले और महती ज्योति अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करने वाले सौभाग्यशाली योगियों के (समाधि लगाने से उत्पन्न) हर्ष के आँसुओं को पीते हैं। परन्तु बड़ी बड़ी आशाओं को रखकर बनाये हुए महलों और बावड़ियों के तट पर और क्रीडोपवन में खेलने का कुतूहल रखने वाले हम लोगों की उमर तो (व्यर्थ होकर) नष्ट हो रही है।। 57।।

(11. धैर्य)–स्मरण, चतुरता, धृति और लज्जा आदि से जब विद्वानों को विवेक (अच्छे बुरे का ज्ञान) होता है तब वह विवेचन उनके द्वारा स्थैर्य (धैर्य) माना जाता है।

जैसे–

आनीतैव मया सीता किं नानीतं पुरो द्विषः।
स चेदायाति लङ्कायां न जाने किं करिष्यति।। 58।।

निन्दादितः परावज्ञा गर्वोऽसूयादिकृद् भवेत्।। 45।।

यथा–

अपकर्त्ता[1]ऽहमस्मीति मा ते मनसि भूद् भयम्।
विमुखेषु न मे खड्गः प्रहर्तुं जातु वाञ्छति।। 59।।

वस्तुतस्तु शृङ्गारहास्यवीराद्भुताश्चत्वारो[2] रसाः। तथाहि–

अब मैं सीता को ले ही आया हूँ तो मैं शत्रु के सामने से क्या नहीं ले आया हूँ? अर्थात् उसका सर्वस्व ले आया हूँ। यदि वह लङ्का आ जायेगा तो नहीं मालूम वह क्या क्या करेगा?।। 58।।

टि०–यह सीताहरणोपरान्त रावण की उक्ति है–'आनीतैव मया सीता' यह अंश स्मरण, 'किं नानीतं पुरो द्विषः' यह अंश चातुर्यपूर्ण है। और स चेदायाति लङ्कायां न जाने किं करिष्यति' इस उत्तरार्ध में धैर्य और व्रीडा है। रावण अपने मन को सब कुछ सहन करने के लिए पक्का कर रहा है। उसका कहना है कि जब मैंने शत्रु का सर्वस्व ही छीन लिया है तो मुझे भी बदले में सब कुछ सहने के लिए तैयार रहना चाहिए। इसके प्रतिकार के लिए राम की ओर से जो कुछ भी किया जायेगा थोड़ा होगा।

(12. गर्व) निन्दा इत्यादि से दूसरे की अवहेलना करना गर्व होता है और वह दूसरे के गुणों को असहन करने से होता है।

जैसे–

मैं तुम्हारा अनिष्ट करने वाला शत्रु हूँ इस बात को समझ कर तुम्हारे मन में भय नहीं होना चाहिए। क्योंकि मेरी तलवार युद्ध से विमुख (भागे हुए अथवा शरणागत) व्यक्तियों के ऊपर कभी भी प्रहार करना नहीं जानती।। 59।।

टि०–यह किसी विजयी व्यक्ति की हारे हुए शत्रु को लक्ष्य करके कही गई गर्वोक्ति है।

वास्तव में तो शृङ्गार, हास्य, वीर, अद्भुत यही चार रस हैं। इनकी (यहाँ विस्तृत) व्याख्या करते हैं।

---

1. अ ज;–हर्ता त
2. त; चत्वारः ज अ

इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोक उच्यते।
रौद्रशक्त्या तु जनितं वैक्लव्यं मनसो भयम्।।
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सेति निगद्यते।
तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वापमाननम्।।

इत्यादिनिरुक्तशोकादिप्रकृतिकानां[1] करुणादीनां रसत्वे विरोधात्। न च तेषां तथाभूतत्वेऽपि अभिव्यक्तानन्दांशचिदात्मना सहाभिव्यक्तानां रसत्वमिति वाच्यम्, एवमपि स्थाय्यंशे रसत्वे विरोधात्। अथालौकिकविभावाद्यभिव्यक्तानां तेषां रसत्वमुचितं

टि०–ग्रन्थकार ने यहाँ चार रसों के सिद्धान्त की युक्तिपूर्वक स्थापना की है और बताया है कि और रसों और उनके स्थायिभावों का इन्हीं चार रसों और इनके चार स्थायिभावों के भीतर अन्तर्भाव हो जाता है।

1. प्रिय व्यक्ति और वस्तु के नाश आदि से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता शोक कही जाती है।
2. क्रोध और भयङ्कर वस्तुओं की शक्ति से उत्पन्न मन की बेचैनी को भय कहा जाता है।
3. दोषों को देखने आदि से उत्पन्न घृणा को जुगुप्सा नाम से कहा जाता है।
4. अच्छे बुरे का ज्ञान, आपत्ति और ईर्ष्या आदि से उत्पन्न अपने अपमान को निर्वेद कहते हैं।

इत्यादि परिभाषाओं में बताये गये शोक आदि (शोक, भय, जुगुप्सा और निर्वेद) स्थायिभावमूलक (स्थायिभावरूप कारण वाले) करुणादि रसों के (दुःखमूलक होने से) रस होने में (क्योंकि) विरोध आता है (इसलिए इन्हें रस नहीं मानना चाहिए)।

टि०–ग्रन्थकार का अभिप्राय है कि शृङ्गारादि ये चार रस ही सुखमय और प्रकाशमय होने से रस कहे जा सकते हैं किन्तु करुण, भयानक, बीभत्स, शान्त, और रौद्रादि रस दुःखात्मक होने के कारण रस नहीं माने जा सकते।

और क्योंकि उन (शोकादिमूलक करुणादि) रसों के वैसे (दुःखमय) होने पर भी आनन्दांश की अभिव्यक्ति से युक्त चेतन आत्मा के साथ अभिव्यक्त होने वाले उन (रसों) में रसत्व (सुखत्व और आह्लादकत्व) धर्म रहता है (यदि पूर्वपक्षी ऐसा कहे)

---

1. ज त; प्रकृतीनां अ

सुरते दन्तादिघातस्यास्वाद्यत्ववदिति चेत्[1], [न] एवं हि क्षुधापिपासादि-नानाविधदु:खहेतुजनितचेतोवैक्लव्यस्यापि रसान्तरत्वापत्तेः। सुरते दन्तादिघातस्य बलवत्कामसम्भवदु:खनाशकत्वेन भारापगमे सुखिनः संवृत्ताः स्म इतिवदुपादेयत्वम्।

टि०–पूर्वपक्षी का आशय है कि लोक में वनवासादि दु:खकारणों से उत्पन्न शोकादिमूलक करुण आदि रस यद्यपि दु:खमय होते हैं तथापि काव्य और नाट्य में ये शोकादिस्थायिभाव और तन्निष्पन्न करुणादि रस चिदात्मा के साथ अभिव्यक्त होते हैं। इस कारण उसके साथ सम्पर्क हो जाने से ये सुखस्वरूप ही होते हैं।

(सिद्धान्ती) तो ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि ऐसा मानने पर भी इनके स्थायिभावों के अंशभूत (दु:खमय होने के कारण सुखात्मा) रस के होने में विरोध आता है (चेतन आत्मा के साथ सम्बन्ध हो जाने पर भी शोक, भयादि स्थायिभाव दु:ख रूप ही बने रहते हैं। और उनसे सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती)। और (शोक आदि स्थायिभाव चिदात्मा के साथ मिलकर भी सुखजनक ही होते हैं क्योंकि) अलौकिक विभावादि से अभिव्यक्त हुए उन शोकादियों का रसत्व उचित ही है। सुरत में जैसे दन्तक्षतादि सुखोत्पादक होते हैं वैसे ही अलौकिक विभावादियों से अभिव्यक्त इन करुणादि रसों के भीतर रसत्व (आनन्दमयत्व) मानना उचित है यदि ऐसा (पूर्वपक्षी की ओर से) कहा जाय।

टि०–अभिप्राय यह है कि जैसे सुरतातिरिक्त स्थलों में दन्तादिघात दु:खमय ही होते हैं किन्तु सुरत में वह सुखमय ही प्रतीत होते हैं वैसे ही शोकादि से उत्पन्न करुणादि लोक में दु:खमय होते हुए भी काव्य और नाट्य में सुखजनक ही होते हैं।

(तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि) इस प्रकार तो भूख प्यास आदि अनेक प्रकार के दु:ख के कारणों से उत्पन्न चित्त की व्याकुलता को भी और एक रस होने की प्राप्ति होगी अर्थात् नया रस मानना पड़ेगा।

टि०–सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि चिदात्मा के साथ रहते हुए भी दु:खजनक करुणादिकों को रस नहीं माना जा सकता क्योंकि जैसे दु:ख के कारणभूत भूख प्यास आदि चेतन आत्मा के साथ रहकर भी चित्त के भीतर व्याकुलता को ही उत्पन्न करते हैं उसी प्रकार दु:खजनक करुणादि (अथवा शोकादि) चिदात्मा के साथ रहते हुए भी चित्त के भीतर उद्वेग (दु:ख) को ही पैदा करते हैं। अतः चित्त में उद्वेग उत्पन्न करने के कारण इनको रस नहीं कहा जा सकता।

---

1. अ त; स्वाद्यवदिति चेत् ज

किं च शोकादिहेतवस्तावदानन्दविरोधिनः कथं परमानन्दरूपं रसं व्यञ्जयन्तु। यत्तु शोकादयोऽपि रत्यादिवत्स्वप्रकाशज्ञानसुखात्मका इति तदुन्मत्तप्रलपितम्। किं च सामाजिकेषु मृतकलत्रपुत्रादिकानां विभावादीनां शोकादिस्थायिभावस्य च वर्णनीयेनाज-

---

यदि इस क्षुधापिपासादिनानाविधदुःखजनितचेतोवैक्लव्य को भी दुर्जनतोषन्याय से एक नया रस माना जाय तो यह शास्त्रविरुद्ध हो जायेगा और इसको रस मानने में अजीब तरह की कल्पना करनी पड़ेगी। भूखे होने पर चित्त की व्याकुलता को स्थायिभाव, भूख प्यास को विभाव, मुंह का फीका फीका दीखना आदि अनुभाव और थाली आदि की ओर उत्कण्ठापूर्वक देखना आदि व्यभिचारिभाव मानने पड़ेंगे। इसके अतिरिक्त ये भूख प्यास आदि किसी प्रकार के आनन्द को पैदा नहीं करती हैं। यह सहृदय के प्रत्यक्षानुभव से सिद्ध है।

(और सुरत में दन्तादिघातों से आनन्द प्राप्त होता है यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि) रमणकाल में दन्तनखक्षत आदि की उत्कट काम से उत्पन्न दुःख के नाशक के रूप में वैसी ही उपयोगिता होती है जैसी (भार से पीड़ित होने पर) भार के उतर जाने पर हम सुखी हो गये हैं इस प्रकार की अनुभूति की उपयोगिता हुआ करती है।

टि०–अभिप्राय यह है कि दन्तक्षतादिजन्य सुख वास्तविक सुख नहीं होता किन्तु वह उत्कटकामजन्यदुःखाभावस्वरूप है। जैसे भार से पीड़ित भारवाहक को भार के छोड़ने पर मैं सुखी हो गया हूँ- इस रूप में होने वाला सुख का अनुभव वास्तविक सुख नहीं होता है किन्तु भारजन्य दुःखाभाव रूप होता है वैसे ही सुरत में दन्तघातादिजन्य सुख भी कामनिवृत्ति से उत्पन्न होने के कारण वास्तविक सुख नहीं है।

और इसके अतिरिक्त शोकादिस्थायिभाव तो आनन्द के प्रतिकूल होते हैं वह परमसुखस्वरूप रस को कैसे अभिव्यक्त कर सकते हैं? इसी कारण शोकादिभाव रत्यादिभावों की तरह स्वतः प्रकाशमान ज्ञान और सुख स्वरूप हैं यह जो कहा जाता है वह पागलों की बड़बड़ाहट है (कारणगुणा हि कार्यगुणानारभन्ते इस नियम से दुःखजनक कारण सुख रूप कार्य को पैदा नहीं कर सकते)।

और इसके अलावा सामाजिकों में मरी हुई स्त्री और पुत्रादि आलम्बनविभावों और शोकादि स्थायिभावों का वर्णनीय अज आदि राजाओं के साथ

महीपालादिना सह साधारण्यमश्रुपातादिदर्शनाच्च वर्णनीयतन्मयीभवनं चापेक्षितमिति कथं ब्रह्मानन्दसहोदरो रसोद्बोधः कथं वा नामाङ्गल्यम्?

अत एव केचिदजविलापादिकं न पठन्ति। बीभत्से तु पूयाद्युपस्थित्या वान्तनिष्ठीवनादिकं यन्न भवेत् तदेवाश्चर्यं कुतः परमानन्दरूपरसोद्बोध[1] इति। एवं भयेऽपि। तथा शान्तस्य त्यक्तसर्ववासनेषु कथञ्चिद् भवतु रसत्वम्। विषयिषु पुनः सर्वविषयोपरमोपस्थित्या कथं रसत्वम्?

साधारणीकरण हो जाता है अर्थात् जब सामाजिक अपने आपको अज समझने लगते हैं तो उनमें भी अश्रुपातादि देखा जाता है। इस प्रकिया में वर्ण्य अजादि के साथ तादात्म्य अपेक्षित होता है। इस कारण जब सामाजिक अपने आपको अज के समान ही दुःखी समझता है तभी उसकी अश्रुपातादि क्रियायें होती हैं। दुःखी व्यक्ति को ब्रह्मास्वादतुल्य रसप्रतीति कैसे हो सकती है? और इस सब व्यापार को अमङ्गलकारी क्यों नहीं माना जाना चाहिए (साधारणीकरण व्यापार से जब अज आदि के साथ तादात्म्य भावना हो जाती है तो उसके दुःख से सामाजिक दुःखी भी हो जाता है और इन्दुमती में आरोपित मृतपत्नीभाव के कारण स्वयं को दुःखी समझता है और उसकी मृत्यु से अपने को अमङ्गलग्रस्त मानने लगता है)।

इसी कारण अर्थात् अमङ्गलकारी होने के कारण कुछ लोग अज विलाप आदि प्रसङ्गों को नहीं पढ़ते हैं। बीभत्स रस में तो पीब, मवाद आदि की उपस्थिति से उल्टी और थूकना आदि नहीं होता यही आश्चर्य की बात है (इस कारण वह भी दुःखोत्पादक ही है) परम आनन्दस्वरूप रस की प्रतीति तो उससे कैसे हो सकती है? यह कहा जा सकता है। यही बात भय के विषय में भी लागू होती है (वह भी कष्ट कारी है) और सब प्रकार की विषयवासना से शून्य सामाजिकों में तो जैसे तैसे शान्त रस की आनन्दानुभूति हो सकती है किन्तु विषयवासनायुक्त व्यक्तियों में तो सारे विषयों में रमण (भोग) करने की अभिलाषा की उपस्थिति होने से रसता (रस से उत्पन्न आनन्दप्रदता) कैसे रह सकती है?

---

1. अ ज; परमानन्दरसोद्बोधः त

तदुक्तम्–

न यत्र दुखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः प्रशान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु शमप्रधानः।।

एवं रौद्रोद्धतौ वीरादभिन्नौ विभावादिसाम्यात्। न च स्थायी भेदकः तस्यापि नियामकप्रेक्षिततत्वात्।[1]

यत्तु रक्तास्यनेत्रता रौद्रे युद्धवीरात्तु भेदिनी, तन्न। वीरे उद्धते च तथासम्भवेन भेदकत्वानुपपत्तेः। न चाविवेकत्वादिभेदकमिति वाच्यम्, क्रोधसञ्चारिणि[2] वीरादावपि

ऐसा कहा (भी) है–

जिसमें न दुःख है, न सुख है, न फिक्र है और न ही नफरत और प्रेम है तथा कोई अभिलाषा भी नहीं है। उस रस को श्रेष्ठ काव्यशास्त्रज्ञ मुनियों ने प्रशान्त (शान्त) रस कहा है और सारे स्थायिभावों में (शान्त के स्थायिभाव) शम को प्रधान माना है।

इसी प्रकार रौद्र रस और अद्भुत रस भी वीररस से भिन्न (अतिरिक्त) नहीं हैं क्योंकि इन दोनों रसों के विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारिभाव वीर रस के समान ही हैं।

और इन तीनों रसों में प्रत्येक का स्थायिभाव अलग अलग है इस कारण इनमें आपस में भेद है। रौद्र का क्रोध, अद्भुत का विस्मय और वीर का उत्साह) स्थायिभाव है। यह ठीक नहीं है क्योंकि इस वीर रस को इनके नियामक रूप में भी देखा जाता है अर्थात् उत्साह स्थायिभाव वाले वीर रस के अन्दर रौद्र और अद्भुत का अन्तर्भाव हो जाता है।

रौद्र रस में मुख और नेत्रों का लाल होना पाया जाता है। यही विशेषता इस रस को युद्धवीर से पृथक् करती है–यह जो कहना है वह ठीक नहीं है क्योंकि वीर और उद्धत दोनों रसों में वैसी ही विशेषता होने से (लाल मुख तथा लाल नेत्र हो जाने से) इस प्रकार का भेद करना असङ्गत हो जाता है। और अविवेक का होना आदि धर्म इन रौद्र और उद्धत को वीररस से अलग करते हैं यह भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि क्रोध सञ्चारिभाव वाले वीरादि रसों में भी अविवेक का होना पाया जाता है।

टि०–साहित्यदर्पण में लिखा है–रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः (सा०

1. ज; नियामकमुखप्रेक्षिततत्वात् अ त
2. ज, व्यभिचारिणि अ त

अविवेचकत्वसम्भवात्। एवं दानवीरादीनां भावत्वेनैव गतार्थत्वात्। एवं दान्तवात्सल्यौ न रसौ, भावत्वेनैव गतार्थत्वात्। ननु कथं तर्हि[1] अजविलापादिकं कविभिर्वर्ण्यते[2] इति चेत्। उच्यते।

अजमहीपप्रभृतीनां स्वस्वप्रियानुरागप्रकर्षप्रतिपत्त्यर्थम्। अतएवाजमहीपतेरिन्दुमतीमुद्दिश्य देहत्यागोऽपि कालिदासेनैव वर्णितः। यथा–

द० 3, 231) रौद्र रस में वर्तमान मुख और नेत्रों की लालिमा युद्धवीर से उसे अलग करती है अर्थात् रौद्र रस में मुख और नेत्र लाल होते हैं परन्तु वीररस में नहीं। सिद्धान्ती का कहना है कि कभी कभी वीर में भी यह धर्म पाया जाता है। इस कारण रक्तास्यनेत्रता को भेदक धर्म नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार इन दोनों में ही अविवेक भी समान रूप से रहता है।

इसी प्रकार दानवीर आदि (दयावीर और धर्मवीर) इन तीनों को ही उत्साह स्थायिभाव के रूप में ही समझा जाता है (और वह रसरूपता को नहीं प्राप्त करता। केवल युद्धवीर में ही उत्साहस्थायिभाव रस रूप में परिणत हो जाता है।) इसी प्रकार दान्त और वात्सल्य भी रस नहीं हैं। उन दोनों की भी भाव रूप में जानकारी हुआ करती है। अर्थात् इनका भावध्वनि में ही अन्तर्भाव होता है क्योंकि ये रसरूपता को नहीं प्राप्त करते (जैसे देवादिविषयक रति भाव ही बनी रहती है वैसे ही दानवीरादिगत उत्साह भी भाव ही बना रहता है)।

(शङ्का) तो फिर कवियों ने अज के विलापादि का वर्णन क्यों किया है?

टि०–पूर्वपक्षी का अभिप्राय यह है–यदि दान्त को रस नहीं मानते तो रघुवंश में महाकवि कालिदास ने धीरोदात्त नायक अज का इन्दुमतीविषयक विलाप वर्णन क्यों किया है? दान्त रस में तो धैर्य स्थायिभाव होने के कारण विलाप की गुंजाइश ही नहीं होती क्योंकि विलाप करना धीरोदात्त नायक की प्रकृति के विरुद्ध है। इसीलिए अजविलाप का वर्णन सर्वथा अनुचित है।

सि०–यदि ऐसा कहा जाय तो इसके उत्तर में यह कहना है–

अज आदि राजाओं का अपनी अपनी प्रेयसियों के साथ अधिकाधिक अनुराग दिखाने के लिए कवियों ने (वहां ऐसे विलापादि का) वर्णन किया है। इसीलिए इन्दुमती को लक्ष्य बनाकर अज राजा के शरीर छोड़ने का वर्णन उसी कालिदास ने ही (रघुवंश 9, 95) में इस प्रकार किया है। उदाहरण के रूप में यह श्लोक है–

---

1. ज त; तर्ह्य ज अ 2. ज त; वर्ण्यत इति अ

तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वो-
देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकतररुचा सङ्गतः कान्तयासौ
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु।। 60।।

एवं शान्तस्यापि वर्णनं मुमुक्षूणां[1] वैराग्यातिशयप्राप्तये।

एवं भयानकस्यापि वर्णनं तत्तद्व्यक्तीनां मार्दवप्रतिपादनाय। वस्तुतस्तु कविभिः स्वशक्तिप्रदर्शनार्थमेव पद्मबन्धादिनिर्माणवत् तत्र तत्र तत्तद्वर्ण्यत इत्युपरम्यते।

सात्त्विकभावानाह-

अज ने गङ्गा और सरयू के पानी के मिश्रण से उत्पन्न सङ्गम बने तीर्थस्थल पर शरीर छोड़ देने के कारण तत्काल ही देवताओं की गिनती में अपने नामोल्लेख को प्राप्त कर लिया। तदनन्तर पहले आकार से भी अधिक सुन्दर कान्ति वाली प्रिया इन्दुमती से मिलकर वह अज नन्दनवन के भीतर क्रीडागृहों में फिर रमण करने लगा।। 60।।

इसी प्रकार शान्त रस का निरूपण भी मोक्ष चाहने वाले व्यक्तियों को अत्यधिक वैराग्य को प्राप्त कराने के लिए होता है।

टि०–अभिप्राय यह है कि शान्तरसप्रधान नाटकों का निर्माण इस दृष्टि से किया जाता है कि मोक्षाभिलाषी जन उन्हें देखकर ज्यादा जोश के साथ वैराग्य मार्ग का अनुसरण करने लगें।

इसी प्रकार भयानक रस का भी वर्णन उन उन (कोमल हृदय) व्यक्तियों की कोमलता (भीरुता) का प्रदर्शन करने के लिए होता है। वास्तव में तो जैसे कवियों के द्वारा काव्यनिर्माण करने की अपनी प्रतिभा (शक्ति) का प्रदर्शन करने के लिए पद्मबन्ध, (मुरजबन्ध आदि) चित्र काव्यों का निर्माण किया जाता है वैसे ही उन उन स्थलविशेषों में कविगण उन उन विलापादियों का वर्णन करुणादि रसों का निरूपण काव्यनिर्माण-शक्तिप्रदर्शनार्थ ही करते हैं। (इन युक्तियों के आधार पर केवल शृङ्गार आदि चार रस मानते हुए हम करुण, भयानकादि रसों को रस नहीं मानते हैं) इस प्रकार यहीं यह प्रकरण समाप्त करके रुक जाते हैं।

सात्त्विकभावों को बतलाते हैं–

---

1. अ ज; मुमुक्षुणः त

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः।। 46।।

क्रमेण लक्षणोदाहरणानि।

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो हर्षाश्चर्यभयादिभिः।

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
निर्क्षेपणाय पदमुद्धृतमावहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।। 61।।

वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभिः।। 47।।

---

1. स्तम्भ 2. स्वेद 3. रोमाञ्च 4. स्वरभङ्ग 5. वेपथु (कम्पन) 6. वैवर्ण्य 7. अश्रु और 8. प्रलय यह आठ सात्त्विक भाव माने जाते हैं।

क्रम से इनके लक्षण और उदाहरण दिये जाते हैं।

1. स्तम्भ–हर्ष, आश्चर्य और भय आदि से (हस्तपाद आदि की) क्रियाओं का रुक जाना स्तम्भ (खम्भे की तरह जड़ होना) कहलाता है।

(जैसे–)

उन महादेव शिव को देखकर काँपती हुई, सरस और सुन्दर शरीर वाली पार्वती (आगे की ओर) रखने के लिए अपने पैर को ऊपर उठाये हुई थीं। रास्ते में आये हुए पहाड़ के टकराने से (निरुद्ध हो जाने के कारण) क्षुब्ध हुई नदी की तरह वे पर्वतराजपुत्री पार्वती न तो आगे चल सकीं और न ही खड़ी रह सकीं।। 61।।

टि०–यह श्लोक महाकवि कालिदासकृत कुमारसम्भव (5,85) से लिया गया है। जब वटुवेषधारी शिव पार्वती के सामने छद्म रूप को छोड़कर असली रूप प्रकट कर देते हैं तो वे हक्की बक्की होकर एक ही स्थान पर खड़ी रहती हैं।

2. स्वेद–रति, गर्मी या धूप और परिश्रम आदि के कारण शरीर से निकले हुए जल को स्वेद (पसीना) कहते हैं।

यथा–

हिमव्यपायाद् विशदाधराणामापाण्डरीभूतमुखच्छवीनाम्।
स्वेदोद्गमः किम्पुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु।। 62।।

यथा–

श्रीरेषा पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः।। 63।।

हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया।

यथा–

सा बाढं भवतेक्षितेति निविडं संयम्य बाहू स्रजा
भूयो द्रक्ष्यसि तां शठेति सततं सन्तर्ज्य सन्तर्ज्य च।
आलीनां पुर एव निह्नुतिपरः कोपाद्रणन्नूपुरं
मानिन्या चरणप्रहारविधिना प्रेयानशोकीकृतः।। 64।।

जैसे–

सर्दी के हट जाने से निर्मल अधरों वाली कुछ कुछ पीले पड़े मुख शोभा वाली किन्नरों की वधुओं की पत्ररचना और तिलकों पर पसीना आने लग गया।। 62।।

अथवा जैसे–

यह सागरिका साक्षात् लक्ष्मी है और इसका हाथ पारिजात वृक्ष का नया पत्ता है, नहीं तो पसीने के बहाने यह अमृत द्रव (रस) कहाँ से टपकता (बहता)।। 63।।

टि०–यह रत्नावली नाटिका में राजा उदयन की उक्ति है।

3. रोमाञ्च–हर्ष, आश्चर्य और भय आदि से रोमों में विकार उत्पन्न होने (रोंगटों के खड़े होने) को रोमाञ्च कहा जाता है।

जैसे–

(पति के अपराध से दुःखी कोई नायिका उसे झिड़कती हुई कह रही है) वहाँ आपने वह खूब अच्छी तरह देख ली इस प्रकार भुजाओं (दोनों हाथों की कलाइयों) को मजबूती के साथ माला से बाँध कर–अरे धूर्त! क्या तुम उसे फिर देखोगे–यह कहते हुए लगातार डाँटा। सखियों के सामने ही क्रोधपूर्वक पायजेबों को बजाते हुए पादाघात (पैर से मारने) के तरीके से

मदप्रमदपीडादेर्वैस्वर्यं गद्‌गदं विदुः।।48।।

यथा–

भ भ भ्रमति मेदिनी ल ल लम्बते चन्द्रमाः।
कृ कृ कृष्णवदद्भुतं ह ह हसन्ति किं वृष्णयः।।65।।
सि सीधु दद देहि मे पप पानपात्रे मुहुः।
मदस्खलितमालपन् हलधरः श्रियं[1] वः क्रियात्।।66।।

यथा वा–

पिपि प्रिय स स स्वयं मु मुखासवं देहि मे।
त त त्यज दुदु द्रुतं भभ भाजनकाञ्चनम्।।67।।
इति स्खलितजल्पितं मदवशात् कुरङ्गीदृशः।
प्रगे हसितहेतवे सहचरीभिरध्यैयत।।68।।

(प्रेम के) छिपाने में तत्पर अपने प्रिय को उस नायिका ने शोक रहित कर दिया।।64।।

टि०–यहाँ पति के अपराध से दुःखी कोई नायिका उसे झिड़क कर और क्रोध में भरकर उसके ऊपर चरणप्रहार कर रही है। पति उसके चरण का स्पर्श पाकर शोकरहित तथा रोमाञ्चित हो जाता है। स्त्रियों के पादाघात से अशोक विकसित हो जाता है यह कविसमयख्याति है। अशोकीकृतः का श्लेष से अशोकवृक्ष बना दिया यह अर्थ भी है।

4. स्वरभङ्ग (वैस्वर्य)–नशे, हर्ष और पीड़ा आदि से गद्‌गद (गला भर जाने को) को वैस्वर्य (कण्ठ के स्वर का बदल जाना विद्वान्) समझते हैं।

जैसे–

पृथ्वी घूम रही है, चन्द्रमा लटक रहा है। क्या कृष्ण की भाँति विलक्षण ढंग से वृष्णिवंश के लोग हंस रहे हैं।।65।।

'मुझे प्याले में शराब दो।' इस प्रकार बार बार नशे में लड़खड़ाती हुई आवाज़ में बोलने वाले बलराम जी आपको सम्पदा प्रदान करें।।66।।

अथवा जैसे–

हे प्यारे! स्वयं मुझे अपने मुँह में भरी शराब दो। सोने के बरतन पानपात्र को जल्दी छोड़ दो (पात्र में शराब न देकर मुख की शराब दे दो)। नशे के

---

1. अ ज; प्रियं त

रागरोषभयादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः।

यथा–

मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता खलु मञ्जरीति।
अन्यापि किं न सखि भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद् भवति वेपथुरन्तरायः।। 69।।

विषादमदरोषादेर्वर्णान्यत्वं विवर्णता।। 49।।

कारण लड़खड़ाती हुई मृगनयनी की इस वाणी का हँसी उड़ाने के लिए सहचरियों ने (अगले दिन) प्रातःकाल अध्ययन किया अर्थात् उसकी नकल करके आपस में हँसी उड़ाई।। 67-68।।

5. वेपथु-अनुराग, क्रोध और भय आदि से शरीर का काँप उठना वेपथु कहलाता है।

जैसे–

(एक नायिका अपनी सहेली से कह रही है) पति के अपने हाथ से सजाई गई मञ्जरी (बौर) का चित्र मेरे गालों पर शोभित है इस प्रकार सोचकर अभिमान को मत धारण करो। हे सखी! क्या कोई दूसरी भी इस प्रकार की मञ्जरियों का पात्र नहीं बन सकती थी यदि (उसका) शत्रुभूत शरीर का कम्पन विघ्न न बनता?।। 69।।

टि०–यहां व्यञ्जना से यह अर्थ प्रतीत हो रहा है–सखी के पति ने जब मञ्जरी को उसके गाल पर बनाया तो उस समय न तो उसमें ही किसी प्रकार का रत्युद्रेक हुआ और न ही नायिका की सहेली में किसी प्रकार की प्रतिक्रिया हुई। इसको देखकर नायिका सुना रही है कि मेरे कपोल पर तो मञ्जरी बनाते समय मैं और मेरा प्रेमी–हम दोनों ही वेपथु नामक सात्त्विकभाव से आनन्दविभोर हो जाते हैं और वह काम बीच में ही छूट जाता है। अतः मञ्जरी नहीं बन पाती। इस कारण वस्तुतः तुम लोग तो अधन्य हो और हम धन्य हैं क्योंकि हम तो मिलते ही आनन्दमग्न हो जाते हैं।

6. वैवर्ण्य–दुःख, नशे और क्रोध आदि के कारण मुखादि का रङ्ग बदल जाना वैवर्ण्य या विवर्णता कहा जाता है।

यथा–

मृषाविषादाभिनयादयं क्वचि-
ज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम्।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागता-
विभावनाच्चापललाप पाण्डुताम्।। 70।।

अश्रु नेत्रोद्गमं वारि दुःखशोकप्रकर्षजम्।

यथा–

उत्पक्ष्मणोर्नयनयोरुपरुद्धवृत्तिं
वाष्पं कुरु स्थिरतया विरतानुबन्धम्।
अस्मिन्नलक्षितनतोन्नतभूमिभागे
मार्गे पदानि खलु ते विषमीभवन्ति।। 71।।

जैसे–

(दमयन्ती के) वियोग से उत्पन्न लम्बे लम्बे सासों की परम्परा को यह राजा नल (मुझे चोट लग गई है इत्यादि) झूठे दुःख के अभिनयों से कहीं लोगों के बीच में छिपाता था। चन्दनादि के लेप में सफेद कपूर की अधिक मात्रा की कल्पित बात बतलाने से (अपने मुंह के) पीलेपन को झुठलाता था।। 70।।

टि०–नैषधीयचरित (1, 51) के इस श्लोक में नल की विरहावस्था दिखाई गई है।

7. अश्रु–दुःख और शोक के आधिक्य से उत्पन्न नेत्रों से निकलने वाला पानी अश्रु (आंसू) कहलाता है।

जैसे–

ऊपर उठी हुई (खुली) पलकों वाले नेत्रों के दर्शनव्यापार को रोकने वाले इस आँसू को स्थिर करके रुके हुए प्रवाह की परम्परा वाला करो। क्योंकि न देखे गये ऊंचे नीचे भूमिभाग वाले इस मार्ग में तुम्हारे पैर ऊँचे नीचे हो रहे हैं (लड़खड़ा रहे हैं)।। 71।।

टि०–अभिज्ञानशाकुन्तलनाटक (4,15) में विदा के अवसर पर रोती हुई शकुन्तला के प्रति यह कण्व ऋषि की उक्ति है। वे कह रहे हैं कि तुम्हारे नेत्रों की पलकें तो ऊपर उठी हैं किन्तु जब आँसू आ जाते हैं तो दृष्टि भी बन्द हो जाती है। इसलिए तुम रोना बन्द करो जिससे अश्रुप्रवाह भी रुक जाए।

अत्र वाष्पशब्देन लोचनाश्रयमश्रूच्यते न कण्ठाद्याश्रयो दु:खावेश:।

प्रलयस्तीव्रदु:खादेरिन्द्रियास्तमयो मत:।। 50।।

यथा–

तीव्राभिषङ्गप्रभवेन वृत्तिं मोहेन संस्तभयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव।। 72।।

अत्र प्रलयशब्देन मूर्च्छोच्यते। न तु मरणमन्यथा आलम्बनोच्छेदेन सात्त्विकत्वानुपपत्ते:।

अथैषां व्यभिचारिभावा:–

स्मृतिर्वितर्क उत्कण्ठा चिन्ता चपलता मति:।

यहाँ वाष्प शब्द से आँखों में रहने वाला आँसू (अर्थ) बताया जा रहा है न कि कण्ठादि में रहने वाला दु:ख का आवेग।

टि०–कण्ठ के भीतर दु:खावेग से भाप सी बन जाती है। उससे वक्ता बोलने में असमर्थ हो जाता है। किन्तु नेत्रों में उत्पन्न अश्रुधारा से आंखों को दीखना बन्द हो जाता है। इस कारण यहाँ वाष्प का अर्थ अश्रु जल है, भाप नहीं।

8. प्रलय–तीव्र दु:ख आदि के कारण इन्द्रियों का विलय अर्थात् उनका ज्ञानशून्य हो जाना प्रलय कहलाता है।

जैसे–

(पतिमरण की) अत्यधिक उग्र (दु:खप्रद) घटना से उत्पन्न हुए और इन्द्रियों के व्यापार को रोकने वाले मोह (मूर्छा) से थोड़ी देर के लिए पति की मृत्यु की आपत्ति को भूल जाने वाली कामदेव की पत्नी रति उस (मूर्छा) से उपकृत सी हो गई।। 72।।

टि०–यह श्लोक कुमारसम्भव (1,7) से लिया गया है। इसमें बताया गया कि महादेव शिव ने जब कामदेव को अपने तृतीय नेत्र से भस्मावशेष कर दिया तो रति को मूर्छा आ गई और वह कुछ समय के लिए अपने दु:ख को भूल गई।

यहाँ पर प्रलय शब्द का अर्थ मूर्छा बताया गया है न कि मृत्यु है। नहीं तो आलम्बन के नष्ट हो जाने से तन्निष्ठ सात्त्विकभाव भी उत्पन्न नहीं हो सकता।

इसके बाद इन रसों के व्यभिचारिभाव कहे जाते हैं–

गर्वः स्नेहो धृतिर्व्रीडावहित्थं मूढता मदः।। 51।।

हर्षामर्षावसूयेर्ष्या विषादो दैन्यमुग्रता।

त्रासः शङ्का गदो ग्लानिरुन्मादः सम्भ्रमः श्रमः।। 52।।

निर्वेदो जाड्यमालस्यं निद्रा सुप्तं प्रबुद्धता।

इति भावास्त्रयस्त्रिंशद् विज्ञेया व्यभिचारिणः।। 53।।

क्रमेण लक्षणोदाहरणानि–

स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते।

यथा–

तन्नेत्रान्ततरङ्गितं मृगदृशस्तत्कर्णकण्डूयनं
सा वक्रोक्तिपरम्परा प्रियसखीहस्तावलम्बोऽपि सः।
यावन्न हृदयात्प्रयाति सहसा तावद् द्विरेफावली-
झङ्कारप्रणयोपदेशरसिको जातो वसन्तोदयः।। 73।।

---

1. स्मृति 2. वितर्क 3. उत्कण्ठा 4. चिन्ता 5. चपलता 6. मति 7. गर्व 8. स्नेह 9. धृति 10. व्रीड़ा 11. अवहित्था 12. मूढता 13. मद 14. हर्ष 15. अमर्ष 16. असूया 17. ईर्ष्या 18. विषाद 19. दैन्य 20. उग्रता 21. त्रास 22. शङ्का 23. गद 24. ग्लानि 25. उन्माद 26. सम्भ्रम 27. श्रम 28. निर्वेद 29. जाड्य 30. आलस्य 31. निद्रा 32. सुप्त, और 33. प्रबुद्धता। इस प्रकार यह तेतीस व्यभिचारिभाव जानने चाहिए।

क्रम से लक्षण और उदाहरण दिये जाते हैं।

1. **स्मृति**–पहले अनुभव की हुई वस्तु से सम्बद्ध ज्ञान को स्मृति कहते हैं। जैसे–

(उस मेरी) मृगनयनी प्रेमिका के नेत्रप्रान्त में पैदा हुई वह कटाक्षों की लहर, वह कान खुजलाना, वह वक्रोक्ति (समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा गर्भित अन्योक्ति और चतुर लोगों की तरह बोलने के अन्दाज़) की परम्परा (झड़ी) और वह प्रिय सखी के हाथ का सहारा लेना यह सब बातें जब तक मेरे हृदय से निकली भी नहीं हैं कि इतने में ही अचानक भ्रमरपङ्क्ति की झङ्कार से प्रेम का उपदेश देने का शौकीन यह वसन्त का आविर्भाव होने लगा है।। 73।।

यथा वा–

सा रथ्या स पदन्यासस्तत्परावृत्य वीक्षितम्।
अन्योक्तिगर्भं तद् वाक्यं हृदयान्नापसर्पति।। 73।।

ऊहो वितर्क इत्युक्तः पदार्थेषु यथामति।। 54।।

यथा–

विधायापूर्वपूर्णेन्दुमस्या मुखमभूद् ध्रुवम्।
धाता निजासनाम्भोजविनिमीलनदु:स्थित:।। 74।।

उत्कण्ठेष्टानवाप्तौ योऽभिलाषः स्यात्तदाप्तये।

टि०–प्रिया के विरह से दु:खी किसी नायक की यह उक्ति है। उसका कहना है कि मैं तो पहले ही प्रेयसी के हाव भाव की स्मृति से दु:खी था अब ऊपर से वियोगियों के कष्ट को बढ़ाने वाली यह वसन्त ऋतु भी आ पहुँची है। न जाने अब मुझ पर और क्या क्या बीतेगी?

अथवा और जैसे–

वह गली, उस प्रकार से पैरों को रखना और वह लौट लौट कर देखना और अन्योक्तियों से भरा वाक्य (वे सब के सब) हृदय से नहीं निकलते हैं।। 73।।

टि०–अन्य को लक्ष्य करके अन्यविषयक कथन को अन्योक्ति कहा जाता है।

2. वितर्क–बुद्धि के अनुसार पदार्थों के सम्बन्ध में सोच विचार वितर्क कहलाता है।। 54।।

जैसे–

अभूतपूर्व पूर्ण चन्द्रमा के समान इस सुन्दरी के मुख को बनाकर ब्रह्मा निश्चित रूप से अपने आसन बने हुए कमल के सङ्कुचित हो जाने से बड़ी मुश्किल से बैठ सके होंगे।। 74।।

टि०–अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा का उदय होने पर कमल बन्द हो जाते हैं। अपने द्वारा बनाये नायिका के मुखरूपी चन्द्रमा के उदित होने पर ब्रह्मा का कमलासन भी बन्द हो गया और वे कैद हो गये।

3. उत्कण्ठा–अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति न होने पर उसकी प्राप्ति के लिये जो इच्छा होती है वह उत्कण्ठा है।

यथा–

पुनरपि मिलनं यदा कदाचित्
प्रियतमया कृपया भवेद् विधातुः।
हर इव करवै तनोरभिन्नां
हरिरिव किं तनवै तनुप्रतिष्ठाम्।। 75।।

प्रयत्नपूर्विकार्थेषु स्मृतिश्चिन्तेति कथ्यते।। 55।।

यथा–

आस्तां तावद् वचनरचनाभाजनत्वं विदूरे
दूरे चास्तां तव तनुपरीरम्भसम्भावनापि।
भूयो भूयः प्रणतिभिरहं किन्तु याचे विधेया
स्मारं स्मारं स्वजनगणने कापि रेखा मदीया।। 76।।

आत्मप्रकाशनपरा चेष्टा चपलतोच्यते।

जैसे–

दैव (भाग्य) या ब्रह्मा की कृपा से जब कभी दुबारा अपनी प्रेयसी से मिलना होगा तो क्या महादेव की तरह मैं उसे अपने शरीर का ही अङ्ग बना लूँगा अर्थात् अर्धनारीश्वर शिव ने जैसे अपने शरीर में ही पार्वती को रमा लिया था उसी प्रकार मैं भी उसे अपने समीप रखूँगा और विष्णु की तरह (उसके सान्निध्य से) क्या (कभी) अपने शरीर की शोभा बढ़ाऊँगा? (विष्णु जैसे लक्ष्मी से शोभा पाते हैं वैसे ही मैं भी क्या उसके साहचर्य से शोभित होऊँगा?) (हरि=शिव, विष्णु)।। 75।।

4. चिन्ता–वस्तुओं अथवा घटित घटनाओं की प्रयत्नपूर्वक की गई याद को चिन्ता कहते हैं।। 55।।

जैसे–

तुम्हारे वचनविन्यास अर्थात् तुम्हारे सम्भाषणसुख का पात्र होना तो बहुत दूर रहा और तुम्हारे शरीर के आलिङ्गन की कल्पना भी बहुत दूर की बात है। किन्तु बार बार प्रणामों के साथ मैं तुमसे यह प्रार्थना करता हूं कि बार बार याद करके की जाने वाली अपने आदमियों की गिनती में कोई मेरी भी लकीर खींच लेना (अर्थात् मेरा नाम भी याद कर लेना)।। 76।।

5. चपलता–अपने को प्रकट करने वाली चेष्टा चपलता कहलाती है।

यथा–

कश्चित्कराभ्यामुपगूढनालमालोलपत्राभिहतद्विरेफम् ।
रजोभिरन्तःपरिवेषशोभि लीलारविन्दं भ्रमयाञ्चकार।। 77।।

शास्त्रोक्तार्थानुसन्धानादर्थनिर्धारणं मतिः।।56।।

यथा–

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।। 78।।

निन्दादितः परावज्ञा गर्वोऽसूयादिकृद् भवेत्।

यथा–

धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः।
यद् वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत्केन सेत्स्यति।। 79।।

जैसे–

कोई नायक हाथों से पकड़े गये नाल (कमलदण्ड) वाले, चञ्चल पत्तों से प्रताड़ित भौरों वाले और परागों से युक्त (पंखुड़ियों के) भीतर स्थित कर्णिका (गोले-वृत्त) से शोभित होने वाले लीलाकमल को घुमा रहा था।। 77।।

6. मति–शास्त्रों में कहे गए अर्थ (वचन) को खोजकर किसी बात का निर्णय कर लेना मति है।। 56।।

जैसे–

निश्चित रूप से यह शकुन्तला क्षत्रिय की पत्नी होने योग्य है क्योंकि मेरा सरल (निर्दोष-शुद्ध) मन इसकी इच्छा कर (इस पर रीझ) रहा है। सन्दिग्ध बातों में सज्जनों की मन की प्रवृत्तियां (अन्तरात्मा की आवाज़ें) प्रमाण (पथप्रदर्शक) हुआ करती हैं।। 78।।

टि०–अभिज्ञानशाकुन्तल (1, 20) में यह दुष्यन्त की उक्ति है। वह शकुन्तला के विषय में शास्त्र में बताई हुई इस बात को सच्चे ज्ञान का साधन मान रहा है कि जहाँ संशय हो वहाँ अपनी आत्मा या मन से पूछकर उस बात के सही या गलत होने का निर्णय कर लेना चाहिए।

7. गर्व–निन्दा (बुराई करने) आदि से दूसरे की उपेक्षा (अपमान) करना गर्व कहलाता है और वह दूसरे के गुणों में दोषाविष्करणादि से होता है।

जैसे–

अहेतुः पक्षपातो यः स स्नेहः कथितो बुधैः।। 57।।

यथा–

अनेन कस्यापि कुलाङ्कुरेण
स्पृष्टेन गात्रेषु सुखं ममैतत्।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्याद्
यस्यायमङ्गात् कृतिनः प्ररूढः।। 80।।

अभीष्टार्थस्य सम्प्राप्तौ स्पृहापर्याप्तता धृतिः।

यथा–

क्षोणीराज्यं सपदि विहितं कान्तया सार्द्धमुच्चै-
र्देवी तुष्टाप्यजनि भगिनीलाभमासाद्य सद्यः।
स्फीता कीर्तिः सपदि रचिता चन्द्रवंशस्य तस्मात्
कस्मिन्निष्टे पुनरपि सखे कर्तुमीहा तवास्ते।। 81।।

जब मैं अस्त्रों को धारण कर चुका हूँ तो फिर दूसरे (लोगों के द्वारा) अस्त्रों को उठाने का क्या लाभ? जो बात मेरे अस्त्रों से नहीं सिद्ध होगी वह किससे सिद्ध होगी अर्थात् मेरे अस्त्रों से ही दुर्योधन को विजय की प्राप्ति होगी और किसी के हथियारों से नहीं।। 79।।

टि०–यह उक्ति वेणीसंहार (3, 46) में अश्वत्थामा के द्वारा कही जा रही है।

8. स्नेह–जो बिना किसी कारण किसी के प्रति पक्षपात (चित्त का झुकाव) होता है उसे विद्वान् स्नेह कहते हैं।।57।।

जैसे–

किसी के भी कुल के अङ्कुर इस शिशु के अङ्गों का स्पर्श करने से मुझे यह सुख प्राप्त हुआ है (किन्तु) जिस सौभाग्यशाली के शरीर से यह उत्पन्न हुआ है उसके चित्त में कैसे (कितने अनिर्वचनीय) आनन्द को उत्पन्न करता होगा?।। 80।।

9. (धृति–अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति होने पर इच्छा की पूर्ति धृति कहलाती है।

जैसे–

प्रिया (पत्नी) दिलाने के साथ बड़ा भारी पृथिवी का राज्य तुमने प्राप्त करा दिया है। तुरन्त ही (छोटी) बहिन का लाभ प्राप्त करके महारानी (बड़ी रानी) भी सन्तुष्ट हो गयी है और तुमने एकदम ही चन्द्रवंश की बड़ी

चेतोनिमीलनं व्रीडा वैवर्ण्याधोमुखत्वकृत्।। 58।।
दृश्यते क्वचिदेवेयमनुरागस्तवादिभिः।

यथा–

दिल्लीशो द्वारदेशे नमति गजपतिस्तत्परस्तादुपास्ते
गौडेन्द्रो नम्रमूर्धा तदनु नरपतिर्गुर्जराधीश्वरोऽपि।
श्रुत्वैवं वन्दिवृन्दादवनतवदनो गौरवं तत्र कुर्वन्
वीरश्रीवीरभानो रचयसि पुलकं वीरलक्ष्मीकपोले।। 82।।

अवहित्थं तु लज्जाद्यैर्हर्षाद्याकारगोपनम्।। 59।।

विस्तृत कीर्ति फैला दी है। इस कारण हे मित्र! फिर भी (अब) तुम्हारी और कौन से मेरे प्रिय (कार्य) को करने में अभिलाषा रह गई है।। 81।।

टि०–यह श्लोक किसी नाटक के भरतवाक्य से पहले का है जिसमें उदात्तकुलप्रसूत सन्तुष्ट राजा की (सभी बड़ी बड़ी वस्तुओं को प्राप्त कराने वाले अपने शुभचिन्तक सहायक के प्रति) कृतज्ञतापूर्ण उक्ति है।

10. व्रीडा–चित्त का सङ्कुचित हो जाना व्रीडा है और यह विवर्णता (मुखादि का फीका पड़ जाना) और नीचे की ओर मुख कराने वाली है।। 58।।

कहीं कहीं ही यह प्रेम और स्तुति आदि कारणों से उत्पन्न होती दिखाई देती है।

जैसे–

दिल्ली का स्वामी (राजा) तुम्हारे दरवाज़े की जगह पर (खड़े होकर) नमस्कार कर रहा है और हाथियों के देश का राजा उसके पीछे ही स्थित होकर तुम्हारी स्तुति कर रहा है। सिर झुकाए हुए गौड देश का अधिपति (भी उपस्थित) है और उसके पीछे गुर्जर देश का शासक राजा भी चल रहा है। इस प्रकार चारणसमूह के मुख से ऐसी ये बातें सुनकर झुके हुए सिर वाले (अतएव अपने) गौरव को वहाँ उस (राजदरबार) में बढ़ाते हुए वीरों की शोभा रूप (वीरश्रेष्ठ) हे राजा वीरभानु! तुम विजयलक्ष्मी के गाल पर रोमाञ्च उत्पन्न कर रहे हो।। 82।।

टि०–प्रस्तुत श्लोक में चारणों के द्वारा की गई अपनी स्तुति को सुनकर राजा ने अपना मुख झुका लिया है। इससे उसकी लज्जा प्रकट हो रही है।

11. अवहित्थ–लज्जा आदि के कारण हर्ष, चिन्ता आदि से युक्त अपनी मुखाकृति को छिपाना अवहित्थ कहलाता है।। 59।।

यथा–

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती।।83।।

सुखदुःखादिजनितो मोहश्चित्तस्य मूढता।

कान्ते तल्पमुपागते विगलिता नीवी स्वयं बन्धनाद्
वासश्च श्लथमेखलागुणधृतं किञ्चिन्नितम्बे स्थितम्।
एतावत्सखि वेद्मि साम्प्रतमहं तस्याङ्गसङ्गात् पुनः
कोऽसौ काऽस्मि रतं नु किं कथमिति स्वल्पापि मे न स्मृतिः।।84।।

सम्मोहानन्दसम्भेदो मदिरादिकृतो मदः।।60।।

जैसे–

देवर्षि नारद के ऐसा कहने पर पिता के पास बैठी हुई पार्वती क्रीडाकमल की पंखुड़ियों को गिनने लगीं।।83।।

टि०–प्रस्तुत श्लोक कुमारसम्भव (6, 84) से लिया गया है। पिता हिमालय के पास आकर जब देवर्षि नारद पार्वती के सामने ही शिव के साथ उसका विवाह कर देने का आग्रह करते हैं तो पार्वती अपनी लज्जा को छिपाने के लिए कमलपुष्प की पंखुड़ियाँ गिनना शुरु कर देती हैं।

12. मूढता–सुखदुःखादि से उत्पन्न चित्त का मोह मूढ़ता कहलाता है।

जैसे–

सेज (शय्या) पर प्रिय के आ जाने पर नाड़ा स्वयं गाँठ (बन्धन) से खुल गया और ढीली हुई तगड़ी के सूत्र से अटका हुआ कपड़ा नितम्बस्थल पर थोड़ा सा (ही) फँसा रहा। हे सखि! मैं (नीवी बन्धनादि का खुलना आदि) इतना तो अब भी जानती हूँ परन्तु फिर उसके शरीर के सम्पर्क में आने के बाद तो 'वह कौन है? मैं कौन हूँ? अथवा रति (क्रिया) क्या है और वह कैसे हुई? इस सब के बारे में मुझे थोड़ी सी भी याद नहीं रह गई है।।84।।

13. मद–शराब आदि के पीने से उत्पन्न मूर्च्छा और आनन्द का (मिश्रित) ज्ञान (अनुभूति) मद कहलाता है।।60।।

यथा–

अर्वागभ्येति गर्वादिव सरिद्वरा नेय[1]मित्युद्दिधीर्षो:
कालिन्दीकोपवेगाकलितहलदृढोत्क्षेपिण:क्षेमहेतु:।
तालाङ्कस्यास्तु हालारसविवशहृद:[2] स्रंसदंसोत्तरीयं
तिर्यङ्न्यस्ताङ्घ्रिभूयस्स्खलितमथ लघूत्थानमाधावनं तत्।।85।।

मन:प्रसादो हर्ष: स्यादिष्टावाप्तिस्तवादिभि:।

यथा–

राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्त: समस्तो भर:
सम्यक्पालनलालिता: प्रशमिताशेषोपसर्गा: प्रजा:।

जैसे–

यह श्रेष्ठ नदी मानो अभिमान के कारण इस ओर (हमारी ओर) नहीं आ रही है इस प्रकार सोचकर (उसे) उठाकर (खींचकर) लाने की इच्छा वाले (अतएव) यमुना के ऊपर (किए गए) कोप के कारण फुर्ती से धारण किए हुए हल (के फाल) को दृढ़ता के साथ फेंकने वाले, शराब के आनन्द के अधीन हृदय वाले, ताल के वृक्ष (को उखाड़कर) अपनी गोद में रखने वाले बलराम के कन्धे के वस्त्र को खिसकाने वाला टेढ़े मेढ़े पड़ते हुए पैरों वाला, बार बार होने वाला वह स्खलन (लड़खड़ाकर पृथिवी पर होने वाला पतन) फिर जल्दी ही वह उठ जाना और वह (अत्यन्त अद्भुत) दौड़ पड़ना आप (सब सामाजिकों) के लिए कल्याण का कारण होवे।।85।।

टि०–सेयम् पाठ होने पर यह श्रेष्ठ नदी अभिमान के कारण हमारी ओर न आकर इस ओर जा रही है यह अर्थ हो जायेगा। यहाँ शराब के नशे में चूर बलराम की मदावस्था का वर्णन है।

14. हर्ष–अभिलषित पदार्थ की प्राप्ति एवं अपनी स्तुति आदि से उत्पन्न मन की प्रसन्नता हर्ष कहलाती है।

जैसे–

राज्य जीते गये शत्रु वाला अर्थात् निष्कण्टक है, योग्य मन्त्री पर सारा कार्यभार सौंप दिया गया है, सब प्रजाओं की रक्षा और पोषण अच्छे ढंग से हुआ है तथा उनकी सारी विपत्तियाँ शान्त हैं। प्रद्योतसेन की सुपुत्री वासवदत्ता

---

1. ज अ; सेयं त
2. ज अ, दृश: त

प्रद्योतस्य सुता वसन्तसमयस्त्वं चेति नाम्ना धृतिं
काम: काममुपैत्वयं मम पुनर्मन्ये महानुत्सवः।।86।।

क्रोधः कृतापराधेषु स्थिरोऽमर्षत्वमश्नुते।।61।।

यथा–

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहत्य।
आकृष्टपाण्डववधूपरिधानकेशाः
स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः?।।87।।

यथा वा–

मिल गई है। अब वसन्त का समय है और तुम भी (मुझे मिले हुए) हो। इस प्रकार (मदनमहोत्सव' इस नाम के कारण) कामदेव भले ही (इसे अपना उत्सव मान कर) सन्तोष को प्राप्त करता फिरे, मेरे विचार से तो यह महान् उत्सव मेरे लिए (ही उदयनोत्सव के रूप में) है।।86।।

टि०–सब प्रकार की मनोवाञ्छित वस्तुओं को प्राप्त करने वाले उदयन की यह विदूषक के प्रति कही उक्ति रत्नावली (1, 9) से ली गई है। अभिप्राय यह है कि इस मदनमहोत्सव नामक उत्सव का कामदेव के साथ तो नाममात्र का सम्बन्ध है किन्तु असली सम्बन्ध तो इसका मेरे ही साथ मानना चाहिए क्योंकि सब कुछ तो मुझे ही मिल रहा है।

15. अमर्ष–अपराध करने वाले व्यक्तियों पर स्थायी (देर तक टिकने वाला) क्रोध अमर्षता (इस नाम को) प्राप्त करता है अर्थात् अमर्ष कहलाता है।।61।।

जैसे–

लाख के द्वारा बनाये गए घर की अग्नि (में जलाने) विषाक्त भोजन (को खिलाने) और द्यूतसभा में प्रवेश करने से हमारे प्राणों तथा धनराशियों पर प्रहार करके, पाण्डवों की स्त्री द्रौपदी के वस्त्र और बालों को खींचकर भी क्या मेरे जिन्दा रहते हुए धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि स्वस्थ रहेंगे?।।87।।

टि०–भीमसेन की यह अमर्षोक्ति वेणीसंहार नाटक (1, 8) से ली गयी है।

अथवा और जैसे–

तस्मै दुष्प्रतिपत्तिदूषितहृदा येनैष दत्तो मणि:
संचूर्णं करवाणि चण्डमहसस्तस्याप्यदो मण्डलम्।
भित्त्वा द्राक्कुशलं विपक्वफलवन्निष्पात्य भूमितले
केनाच्छिन्नमहो चराचरमिदं निर्वासरं वर्तताम्।। 88।।

असूयान्यगुणर्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।

यथा-

निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात् किं मे तवेवायुधं
सम्प्रत्येव भयाद् विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा।

दुर्बुद्धि के कारण मलिन हृदय वाले जिस (सूर्य) ने (परम्परासम्बन्ध से) उस (कृष्ण) को यह स्यमन्तक मणि दी है, प्रचण्ड तेज वाले उस (सूर्य) के भी इस वृत्त (रूप गोलाकार शरीर) को मैं चकनाचूर कर दूँगा। शीघ्र ही उसकी सारी कुशलता (मङ्गल) को नष्ट करके और उसे पृथिवीतल पर पूरे पके हुए फल की तरह गिराकर और अहो! इस संसार को (सूर्य को) किसने ढक लिया है? इस प्रकार के आश्चर्य से युक्त कर दूँगा। यह जड़ चेतन जगत् (उस सूर्य के अभाव में) दिनरहित (अतएव अन्धकार पूर्ण) हो जाय।। 88।।

टि०–भागवतपुराण की कथा के अनुसार सूर्य ने अपने भक्त राजा सत्राजित् को अपनी स्यमन्तकमणि प्रदान की थी। सत्राजित् से यह प्रसेनजित् के पास और प्रसेनजित् से जाम्बवान् के पास पहुँच गई। जाम्बवान् ने भी अपनी कन्या जाम्बवती के विवाह के अवसर पर दहेज के साथ भगवान् श्रीकृष्ण को दे दी। इस प्रकार यह परम्परासम्बन्ध से कृष्ण भगवान् को प्राप्त हो गई। श्रीकृष्ण के विरोधी शतधन्वा की यह सूर्य के प्रति अमर्ष से भरी उक्ति है। क्योंकि सूर्य ही उस मणि के प्रथम दाता थे। शतधन्वा श्रीकृष्ण से इस मणि को छीनना चाहता था।

16. असूया–दूसरों की गुणसम्पत्तियों को उद्दण्डता के कारण न सहन कर पाना असूया कहलाता है।

जैसे-

क्या तुम्हारे शस्त्र की तरह मेरा भी शस्त्र गुरु परशुराम के शापवचन के कारण शक्तिहीन अर्थात् व्यर्थ है? भय के कारण तुम्हारी तरह क्या मैं भी इसी समय युद्ध को छोड़कर आया हूँ? क्या मैं स्तुति और वंशपरम्परावर्णन

जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां किं सारथीनां कुले
क्षुद्रारातिकृताप्रिये प्रतिकरोम्यस्त्रेण नास्त्रेण किम्।।89।।

सपत्नीसङ्गते कान्ते कोप ईर्ष्यासमुद्भवः।।62।।

यथा–

वक्षोजचिह्नितमुरो दयितस्य वीक्ष्य
दीर्घानिलं श्वसिति जल्पति नैव किञ्चित्।
प्रातर्जलेन वदनं परिमार्जयन्ती
बाला विलोचनजलानि तिरोदधाति।।90।।

करने (के प्रकार) को जानने वाले सारथियों के कुल में पैदा हुआ हूँ? नीच शत्रुओं के द्वारा किए गए (पितृवध रूप) अप्रिय कार्य का क्या मैं आँसुओं से ही बदला लूँगा? और अस्त्र से (प्रतिशोध) नहीं लूँगा? अर्थात् मैं अस्त्र से ही अवश्य बदला लूँगा।।89।।

टि०–कर्ण के सेनापति होने की बात को न सहन करने वाले अश्वत्थामा की क्रोध और असूया से भरी हुई यह उक्ति वेणीसंहार नाटक (1, 35) से ली गई है।

17. ईर्ष्या–सौत (अन्य नायिका) में प्रिय के अनुरक्त हो जाने पर उत्पन्न होने वाला क्रोध ईर्ष्या कहलाता है।।62।।

टि०–ईर्ष्याविप्रलम्भ के प्रसङ्ग में यह कारिका (3, 31) पहले आ चुकी है।

जैसे–

अपने प्रिय (पति अथवा प्रेमी) के वक्षःस्थल को दूसरी नायिका के स्तनों के चिह्नों से अङ्कित देखकर वह अल्पवयस्का भोली नायिका लम्बे लम्बे साँस ले रही है, कुछ भी नहीं बोल रही है और प्रातःकाल जल से अपने मुँह को धोती हुई अश्रुजलों को (हाथ में लिए पानी के साथ मिलाकर) छिपा रही है।।90।।

टि०–यहाँ पति की अन्य नायिका में आसक्ति जानकर उसकी पत्नी को क्रोध आ रहा है और जब वह उसके आवेग को नहीं सहन कर पाती है तो उसके नेत्रों से अश्रुधारा बह निकली है। किन्तु पति के सामने अपनी इस व्यथा को प्रकट करना नहीं चाहती। इस कारण वह मुँह धोने के बहाने अपने आँसुओं को छिपाना चाहती है।

विषादश्चेतसो ग्लानिरभीष्टविरहादिभिः।

यथा-

कथं नु तं बन्धुरकोमलाङ्गुलिं
करं विहायासि निमग्नमम्भसि।
अचेतनं नाम गुणं न लक्षये-
न्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया।। 91।।

सत्त्वत्यागादनुत्कर्षो वाक्यादेर्दैन्यमुच्यते।। 63।।

यथा-

वृद्धोऽन्धः[1] पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं
कालोऽभ्यर्णजलागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो।

---

18. विषाद-प्रिय के विरह आदि के कारण उत्पन्न चित्त की उदासी विषाद कहलाती है।

जैसे-

अरी ओ अँगूठी! उस सुन्दर और मुलायम अंगुलियों वाले हाथ को छोड़ कर तू क्यों जल में डूब गई? (ऐसा होना कुछ स्वाभाविक भी है क्योंकि) जड़ वस्तु तो गुण को नहीं देख पाती। परन्तु (चेतन होते हुए भी) मेरे ही द्वारा प्रिया शकुन्तला की अवहेलना क्यों की गई?।। 91।।

टि०-यह श्लोक अभिज्ञानशाकुन्तल (6, 13) से लिया गया हैं। इसमें विदूषक के साथ बातचीत करते हुए राजा दुष्यन्त अँगूठी को सम्बोधित करते हुए शकुन्तला के परित्याग के विषय में पश्चाताप प्रकट कर रहा है।

19. दैन्य-बल (धीरता) के परित्याग के कारण वाक्य, वेशभूषादि में हीनता का पाया जाना दैन्य कहलाता है।। 63।।

जैसे-

यह पति अन्धा है और बूढ़ा है और (क्षीण होने से) चारपाई पर पड़ा हुआ है, घर अब एक थूणी (आधारस्तम्भ) के रूप में ही बाकी है, वर्षा ऋतु का समय पास है, विदेश गए बेटे की भी कोई कुशलता से भरी खबर नहीं

---

1. ज अ, वृद्धोऽयं त

यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति।।92।।

यथा वा–

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्याप्यखण्डम्।
तुल्यः कामं भवति भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्थाः सपदि विमुखो मन्दभाग्ये मयीत्थम्।।93।।

अधिक्षेपापमानादेश्चेतश्चण्डत्वमुग्रता।

आई। बड़े यत्न से एक एक बूँद करके जोड़े हुए तेल की हँडिया भी फूट गई। इस प्रकार घर की दशा और गर्भभार से थकी हुई अपनी पुत्रवधू को देखकर व्याकुल हुई सास बहुत देर तक रोती रही है।।92।।

टि०–यह उदाहरण साहित्यदर्पण (3, 145) और दशरूपक (4, 14) में है। यहाँ सास की धीरता का परित्याग होने से दैन्य है।

अथवा और जैसे–

(हे कृष्ण के बड़े भाई बलराम! आपने) सम्बन्धियों के (अनुरूप) प्रेम को मन में नहीं रखा है अर्थात् आपके बहनोई अर्जुन के भीमसेन बड़े भाई हैं इस बात का ध्यान नहीं रखा; (धर्मपूर्वक लड़ने के) क्षत्रियों के नियम का पालन भी नहीं किया (क्योंकि आपने युद्धनियम के विपरीत भीमसेन को मारने के लिए दुर्योधन को गुप्तसंकेत किया है)। आपके छोटे भाई कृष्ण की मेरे छोटे भाई अर्जुन के साथ जो प्रसिद्ध मित्रता थी उसको भी आपने ध्यान में नहीं रखा। आपका दोनों शिष्यों के ऊपर पर्याप्त मात्रा में समान ही प्रेम व्यवहार होना चाहिए किन्तु (भीमसेन को मरवा कर) कौन सा यह आपका रास्ता है जो आप मुझ अभागे पर इस रूप में विपरीत हो गए हो?।।93।।

टि०–मुनिवेषधारी राक्षस ने जब 'बलराम के गुप्त सङ्केत को पाकर दुर्योधन ने भीमसेन ही को मार डाला है' यह झूठी सूचना युधिष्ठिर को सुनाई तो वे बलराम की अनुपस्थिति में उन्हें उलाहना देते हुए इस प्रकार के वचन कह रहे हैं।

20. उग्रता–गाली, दोषारोपण और अपमान आदि से चित्त का कठोर हो जाना उग्रता कहलाता है।

यथा–

कृत्वा त्रि:सप्तकृत्व: समिति विशसनं पूर्वमूर्वीपतीनां
कृत्वान्यत्सप्तकृत्व: पुनरपि कदनं दुर्मदानां नृपाणाम्।
निर्माय क्ष्मापतीनां प्रतिसमरहृतैरुत्तमैरुत्तमाङ्गै:
कापालीमक्षमालां झटिति भगवतो भैरवस्यार्पयामि।।94।।

त्रासश्चित्तचमत्कार आकस्मिकभयादिभि:।।64।।

यथा–

लङ्काधामनि वीरभानुनृपते: प्रेक्ष्य प्रतापोदयं
प्रत्यागारमधीरनीरजदृशो भूयो हुताशभ्रमात्।
क्षुभ्यद्वाणि विधूतपाणिविगलन्मुक्तावलिप्रस्खलद्
वाष्पश्रेणि विलोलवेणि दयितं कण्ठस्थले बिभ्रति।।95।।

जैसे–

युद्ध में पहली बार क्षत्रिय राजाओं की 21 बार हत्या करके और फिर दोबारा भी इन दुरभिमानी नरपतियों का 7 बार संहार करके और प्रत्येक सङ्ग्राम में लाए हुए बहुत बढ़िया सिरों से कपालनिर्मित अक्षमाला को जल्दी बनाकर [उसे मैं] भगवान् भैरव को अर्पित करूँगा।।94।।

टि०–यह क्षत्रियसंहारक परशुराम की उक्ति है। इससे चित्त की कठोरता प्रतीत हो रही है।

21. त्रास–अचानक आये हुए भय आदि से चित्त का चमत्कार (आश्चर्यान्वित हो जाना) त्रास कहलाता है।। 64।।

जैसे–

लङ्काप्रदेश में वीरभानु राजा के पराक्रम के आविर्भाव को देखकर प्रत्येक भवन में कमल के सदृश सुन्दर नेत्रों वाली अधीर सुन्दरियाँ दोबारा अग्नि के भय से (पहली बार तो हनुमान् जी ने आग लगाई थी, उसके बाद की अबकी आग को देखकर) स्खलित वाणी (हकलाई हुई) हो गई हैं और हिलते हुए हाथों में टूटती मोतियों की माला को लेते हुए, गिरते हुए आँसुओं की झड़ी लगाकर तथा बिखरे हुए केशबन्ध वाली होकर प्रेमी पति को गले लगा रही हैं।। 95।।

अनिष्टाभ्यागमोत्प्रेक्षां शङ्कामाचक्षते बुधाः।

यथा–

आनीतैव मया सीता किं नानीतं पुरो द्विषः।
स चेदायाति लङ्कायां न जाने किं भविष्यति।।96।।

विरहादेर्मनस्तापः शरीरान्तकरो गदः।।65।।

यथा–

स्थितमुरसि विशालं पद्मिनीपत्रमेतत्
कथयति न तथान्तर्मन्मथोत्थामवस्थाम्।
अतिशयपरितापम्लापिताभ्यां यथास्याः
स्तनयुगपरिणाहं मण्डलाभ्यां ब्रवीति।।97।।

---

22. शङ्का–विपत्ति के आगमन की आशङ्का (अनुमान, अटकल) को बुद्धिमानों ने शङ्का कहा है।

जैसे–

मैं सीता को ले तो आया हूँ, इस प्रकार शत्रु के नगर से मैं क्या नहीं लाया हूँ? अर्थात् मैं उसके सर्वस्व को ले आया हूँ। वह यदि लङ्का में आ जायेगा तो न मालूम क्या होगा।। 96।।

टि०–यह सीताहरणोपरान्त रावण की उक्ति है। उसे राम के आक्रमण की आशङ्का हो रही है।

23. गद–वियोग आदि से देह को समाप्त करनेवाला मानसिक सन्ताप गद है।। 65।।

जैसे–

वक्षःस्थल पर पड़ा हुआ यह विस्तृत कमलपत्र बहुत अधिक कामज्वाला से सन्तप्त मण्डलाकार स्तनों (के चिह्नों) से कामवासनाजन्य (आन्तरिक) दशा को उतना नहीं बता रहा है जितना कि यह इस सुन्दरी के दोनों वृत्ताकार स्तनों की विशाल लंबाई चौड़ाई को बतला रहा है।। 97।।

टि०–कमलशय्या के इस सूखे और जले पत्ते से कामदग्ध और मरणासन्न सुन्दरी के मानसिक और अपेक्षाकृत अधिक शारीरिक सन्ताप का अनुमान हो रहा है।

यह श्लोक रत्नावली नाटिका (2, 14) से लिया गया है। उदयन सागरिका की कमलशय्या के सम्बन्ध में विदूषक से यह बात कह रहा है।

यथा वा–

निःश्वासेषु स्खलति कदलीवीजनं तापसम्पन्
नेत्राम्भोभिः स्थगितपतितैः[1] सूच्यते तत्स्तनान्तः।
तस्याः किञ्चित्सुभग तदभूत्तानवं त्वद्वियोगाद्
येनाकस्माद् वलयपदवीमङ्गुलीयं प्रयाति।। 98।।

बलस्यापचयो ग्लानिराधिव्याधिप्रकर्षभूः।

यथा–

किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद् विप्रलूनं
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्रम्।। 99।।

अथवा और जैसे–

उसके लम्बे लम्बे साँसों के लेने पर केले के पत्ते का पंखा हिलता है और स्तनों के ऊपर रुक रुक कर गिरे हुए नेत्रजलों (अश्रुओं) से उसके सन्तापातिशय की सूचना मिल रही है। हे सुन्दर नायक! तुम्हारे वियोग से (उसे) वह कुछ ऐसी कृशता हो गई है कि अचानक उसकी अँगूठी कंगन का स्थान प्राप्त कर रही है।। 98।।

टि०–अभिप्राय यह है कि आसन्नमरणा नायिका इतनी कमज़ोर हो गई है कि उसकी कृश कलाई में अँगूठी पूरी आने लगी है। यह भी नायिका के मन की बेचैनी का वर्णन है।

24. ग्लानि–शारीरिक रोग और मानसिक व्यथा के अतिरेक से होने वाली बल की हानि ग्लानि कहलाती है।

जैसे–

जैसे शरत्कालीन धूप केवड़े की भीतरी पंखुड़ी को सुखा देती है वैसे ही हृदय रूपी पुष्प को सुखा देने वाला भयङ्कर (वियोगजन्य) यह लम्बी अवधि का शोक डण्ठल से अलग किये गए सुन्दर नये पत्ते के समान पीले और कृश इसके शरीर को सुखा रहा है।। 99।।

---

1. जत; स्थगितिपतितैः अ

उत्कण्ठाहर्षशोकादेरुन्मादश्चित्तविप्लवः[1] ।।66।।

यथा[2]–

किञ्चिद् वक्ति करोति हासमसकृन्निर्याति सन्तिष्ठते
वाष्पं मुञ्चति किञ्च रोषकलितः शोणां विधत्ते दृशम्।
बालेति प्रणमत्यकाण्डकुपितेत्याभाषते निष्ठुरे-
त्यालिङ्गत्यधुना स मन्मथशरैर्नीतः परां दुर्दशाम्।। 100।।

आदरातिशयाच्चेतस्यावेगः सम्भ्रमो मतः।

टि०–यह श्लोक उत्तररामचरित (3, 5) से लिया गया है। इसमें मुरला नदी अपनी सखी तमसा को वियोगिनी सीता की स्थिति बता रही है।

25. उन्माद– हर्ष, शोक आदि से उत्पन्न होने वाली उत्कण्ठा (अलब्ध को पाने की लालसा) चित्त की उथलपुथल (व्याकुलता) उन्माद कहलाती है।। 66।।

जैसे–

कुछ कुछ बोलता है (थोड़ा थोड़ा अधूरे रूप में बोलता है), बार बार हँसता है, बाहर निकल जाता है, सामने आकर खड़ा हो जाता है, आँसू बहाने लगता है और इसके अतिरिक्त गुस्से में आकर आँख लाल कर लेता है। (सामने आई हुई किसी नारी को तुम मेरी) 'नवयुवती प्रेमिका हो' यह कहकर प्रणाम करता है, 'बिना बात तुम मुझसे नाराज हो गई हो' यह कहने लगता है और फिर तुम (वही) निष्ठुर हो' ऐसा कहते हुए आलिङ्गन करने लगता है। (इस भाँति) इस समय वह कामदेव के बाणों द्वारा (बींधा जाकर) बहुत अधिक बुरी हालत में पहुँचा दिया गया है।। 100।।

26. सम्भ्रम–बहुत अधिक आदर के कारण चित्त में उत्तेजना (बेचैनी) का पाया जाना सम्भ्रम कहलाता है।

---

1. ज अ; विस्तरः त
2. त; ज अ में नहीं

यथा–

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते
त्वरितमिह विमुञ्च[1] त्वं लतापाशमेनम्।
सपदि मयि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं निधेहि।। 101।।

मनःशरीरयोः खेदः क्रियातिशयतः श्रमः।। 67।।

यथा–

स्खलयति वचनं ते संश्रयत्यङ्गमङ्गं
जनयति मुखचन्द्रोद्भासिनः स्वेदबिन्दून्।
मुकुलयति च नेत्रे सर्वथा सुभ्रु खेद-
स्त्वयि विलसति तुल्यं वल्लभालोकनेन।। 102।।

जैसे–

हे सागरिके! तुम इतने बड़े इस साहस को मत करो। अरी! तुम शीघ्र ही यहाँ इस लतानिर्मित फन्दे को छोड़ दो। हे प्राणेश्वरि! जाने के लिए तैयार इन प्राणों को रोकने के लिए क्षण भर के लिए मेरे गले में अपने भुजबन्धन को डाल दो।। 101।।

टि०–रत्नावली नाटिका (3, 17) में सागरिका के प्रति उदयन की यह घबराहट भरी उक्ति है।

27. श्रम–बहुत काम करने से मन और शरीर के भीतर थकावट का हो जाना श्रम कहलाता है।। 67।।

जैसे–

हे सुन्दर भौंहों वाली रूपसी! (अत्यन्त परिश्रम से उत्पन्न) यह तुम्हारी वाणी की लड़खड़ाहट को कर रहा है, अङ्ग अङ्ग का आश्रय ले (उन्हें शिथिल कर) रहा है, मुखचन्द्र के ऊपर सुशोभित होने वाले पसीने के बिन्दुओं को पैदा कर रहा है तथा नेत्रों को अधमुंदे बना रहा है। इस प्रकार प्रियतम के दर्शन (से उत्पन्न प्रतिक्रिया) के समान खेद (थकावट) भी तुम्हारे अन्दर शोभा पा रहा है।। 102।।

टि०–इस रतिजन्य खेद से तुम्हारी वही स्थिति हो रही है जो प्रियतम के साथ अचानक भेंट होने पर होती है।

---

1. त; विनिमुञ्च ज अ

चित्तस्य खेदो निर्वेदस्तत्त्वज्ञानोदयादिभिः।

यथा–

जरामरणदौर्गत्यव्याधयस्तावदासताम्।
मन्ये जन्मैव धीराणां भूयोभूयस्त्रपाकरम्[1]।। 103।।

क्रियास्वपाटवं जाड्यं चिन्तोत्कण्ठाभयादिभिः।।68।।

यथा–

न नमयितुमधिज्यमस्मि शक्तो
धनुरिदमाहितसायकं मृगेषु।
सहवसतिमुपेत्य यैः प्रियायाः
कृत इव मुग्धविलोकितोपदेशः।। 104।।

---

28. निर्वेद–तत्त्वज्ञान (विवेकख्याति) के आविर्भाव आदि के कारण चित्त में विरक्ति का होना निर्वेद कहलाता है।

जैसे–

बुढ़ापा, मृत्यु, दुर्गति और व्याधि की बात तो जाने दो। मैं मानता हूँ कि बार बार का जन्म लेना ही (तत्त्वज्ञानी) धीरों के लिए लज्जाकारी होता है।। 103।।

टि०–अभिप्राय यह है कि तत्त्ववेत्ता बुद्धिमान् योगी और ध्यानी बार बार के जन्म मरण के चक्कर में पड़ना पसन्द नहीं करते।

29. जाड्य–चिन्ता, उत्कण्ठा और भय आदि से कार्य में अदक्षता (अनिपुणता) जाड्य कहलाता है।। 68।।

जैसे–

चढ़ी हुई धनुष की डोरी वाले और चढ़ाये हुए बाण से युक्त इस धनुष को मैं उन हरिणों के ऊपर झुकाने में अर्थात् धनुष खींचकर बाणप्रहार करने में असमर्थ हूँ जिन्होंने (मेरी) प्रिया शकुन्तला के साथ साथ रहने (के अवसर) को पाकर उसे मानो सुन्दर रूप में देखने (की विद्या) का उपदेश किया है।। 104।।

टि०–यह श्लोक अभिज्ञानशाकुन्तल (2, 3) से लिया गया है। शकुन्तला के सम्बन्ध में दुष्यन्त सोच रहा है कि उस शकुन्तला को हरिणों ने ही सुन्दर अवलोकन

---

1. ज अ; त्रपाकृतम् त

क्रियाविद्वेष आलस्यं सुखसङ्गमदादिभिः।

यथा–

घूर्णत्पाटलनेत्रपालिविगलन्मुक्तावलि प्रस्खल-
न्मैरेयासृतसृक्किणि क्वणदलिव्यादष्टदन्तच्छदम्।
क्षौमोद्वीजनखिन्नरेवति हलव्यालम्बिदोर्वल्लरि
भ्रंश्यत्कुन्तलि लोलकुण्डलि नुमस्तालाङ्कमाद्यं महः।। 105।।

निद्रा व्यापारवैमुख्यमिन्द्रियाणां श्रमादिभिः।। 69।।

यथा–

मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमाक्ते
कान्तापयोधरयुगे रतिखेदखिन्नः।

की शिक्षा दी है क्योंकि बिना इनसे सीखे तपोवासिनी होने के कारण शकुन्तला हाव भाव भरी दृष्टि से देखने की कला में दक्ष नहीं हो सकती थी। इस प्रकार यहाँ दुष्यन्त के क्रियाशून्य हो जाने से उसका जाड्य परिलक्षित होता है।

30. आलस्य–सुख के सम्पर्क और मद आदि के कारण कर्म करने से द्वेष करना अर्थात् अकर्मण्य हो जाना आलस्य कहलाता है।

जैसे–

घूमते हुए रक्त नेत्रों के प्रान्त (सतह) से युक्त होते हुए मोतियों की टूटी माला वाले, लड़खड़ाते हुए, टपकती हुई शराब से भरे हुए मुखप्रान्त वाले, शब्द करने वाले भौंरों से काटे गए ओठों से युक्त, रेशमी वस्त्र से हवा करवाने के कारण अपनी पत्नी रेवती को थका देनेवाले, हल पर लटकती हुई भुजाओं से संवलित, बिखरे केशों से समन्वित और चञ्चल कुण्डलों के धारक बलराम रूपी आदिम तेज को हम नमस्कार करते हैं।। 105।।

31. निद्रा–परिश्रम आदि के कारण इन्द्रियों की व्यापारविमुखता अर्थात् उनका किसी कार्य को न कर पाना निद्रा है।। 69।।

जैसे–

मतवाले हाथी के गण्डस्थल के समान विस्तीर्ण आकार वाले कुङ्कुम (द्रव) से युक्त, (अपनी) प्रिया के दोनों स्तनों पर (अपनी) छाती को रखकर प्रिया की दोनों भुजाओं के पिंजरे के बीच में पड़ा हुआ, थोड़े समय

वक्षो निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती
धन्यः क्षपां क्षपयति क्षणलब्धनिद्रः।। 106।।

निद्रादिजनितं सुप्तमिन्द्रियाणां निमीलनम्।

यथा–

प्रहरकमुपनीय त्वं निनिद्रासतोच्चैः
प्रतिपलमुपहूतः केनचिज्जागृहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
दददपि गिरमुच्चैर्बुध्यते नो मनुष्यः।। 107।।

यथा च–

यत्रैव तत्रैव यथा तथैव येनैव तेनैव कृतोपधानाः।
दुकूलतल्पेष्विव भूतलेषु सुखेन निद्रान्ति नितम्बवत्यः।। 108।।

के लिए निद्रा प्राप्त करने वाला एवं रतिश्रम से थका (कोई) सौभाग्यशाली (ही नवयुवक) रात बिताता है।। 106।।

32. सुप्त–नींद आदि से उत्पन्न अपने अपने विषयों से इन्द्रियों का विरत हो जाना सुप्त कहलाता है।

जैसे–

रात्रि में अपने पहरे की बारी को बिता कर फिर स्वयं सोने की इच्छा वाले किसी प्रहरी के द्वारा ऊँचे स्वर में तुम अब जाग जाओ (और मेरी बारी खत्म हुई अब तुम पहरा दो) इस प्रकार प्रत्येक क्षण (बार बार) बुलाया गया, और नींद के कारण अस्पष्ट वर्णों वाली सूनी सूनी (अर्थात् अर्थशून्य और निरभिप्राय) वाणी को बार बार जोर से बोलता हुआ भी मनुष्य जाग नहीं रहा है।। 107।।

टि०–यहाँ गाढ़ निद्रा में सोने के कारण न जागने वाले मनुष्य का वर्णन है।

और (दूसरा उदाहरण) जैसे–

जहाँ तहाँ ही, जैसे तैसे ही जो कोई भी वस्तु मिल जाये उसी से ही बने हुए सिरहाने वाली और सुन्दर नितम्बों से युक्त सुन्दरियाँ रेशमी वस्त्रों से ढकी हुई शय्या के समान (सुखकारी) भूतलों (नंगी ज़मीनों) पर सुख के साथ सो रही हैं।। 108।।

निद्रापगमहेतुभ्यः प्रबोधश्चेतनागमः।। 70।।

यथा–

इति विरचितवाग्भिर्वन्दिपुत्रैः कुमारः
सपदि विगतनिद्रस्तल्पमुज्झाञ्चकार।
मदपटुनिनदद्भिर्बोधितो राजहंसैः
सुरगज इव गाङ्गं सैकतं सुप्रतीकः।। 109।।

उक्ता भावादिभेदेन तेऽमी रत्यादयो रसाः।

रसाभासादीनामुदाहरणानि स्वयमूहनीयानि। अयं चासंलक्ष्यक्रमः।

---

33. प्रबोध-निद्रा को हटानेवाले कारणों से चेतना का आ जाना अर्थात् होश में आ जाना प्रबोध कहलाता है।। 70।।

जैसे–

इस प्रकार बनाये गये स्तुतिवचनों (का उच्चारण करने वाले) चारणों के द्वारा (जगाए हुए) उस राजकुमार अज ने तुरन्त नींद छोड़कर वैसे ही शय्या का परित्याग किया, जैसे मद के कारण ज़ोर से बोलने वाले राजहंसों से जगाया हुआ सुन्दर आकृति से सुशोभित देवताओं का हाथी गङ्गा के पुलिनप्रदेश (की शय्या) को छोड़ देता है।। 109।।

भावादियों (अपने विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभावों) के भेद के कारण ये रत्यादिभाव अलग अलग रस कहलाते है।

टि०–अभिप्राय यह है कि वास्तव में रस एक है किन्तु विभावादियों की उपाधियों की भिन्नता से वह भिन्न भिन्न शृङ्गार, वीर आदि रसों के रूप में परिणत हुआ करता है। जब दुष्यन्त, शकुन्तलादि आलम्बनविभाव, इनकी चेष्टादि अनुभाव और चिन्ता, हर्ष आदि व्यभिचारिभाव होते हैं तो यह अखण्ड रस शृङ्गाररस के रूप को धारण कर लेता है और जब किसी दूसरे रस के अनुकूल पात्र होते हैं तो इसका नाम वीरादि रसों में बदल जाता है।

रसाभासादियों के उदाहरण स्वयं समझ लेने चाहिएं।

टि०–ग्रन्थकार ने शृङ्गारादि रसों के उदाहरणों को तो ऊपर दिखा दिया है किन्तु वे रसाभासादि के लक्षणों और उदाहरणों को दिखाने और समझाने की आवश्यकता नहीं समझते। इसीलिए उनका कहना है कि इनके उदाहरण काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों से पढ़कर स्वयं समझ लेने चाहिएँ।

वाच्यव्यङ्ग्यक्रमज्ञाने ध्वनि र्यः परिकीर्तितः।।71।।
शब्दार्थोभयभूस्तस्मात् त्रिविधः कथ्यते बुधैः।

वस्त्वलङ्कृतिध्वन्योः क्रमः संलक्ष्यते रसभावादिषु क्रमो न संलक्ष्यते इत्यत्र सामाजिका एव प्रष्टव्याः।

काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने भाव और रसाभास की परिभाषा बताई हैं और उनके उदाहरणों को भी चतुर्थ उल्लास में समझाया है। काव्यप्रकाश (4, 35-36) में भाव की परिभाषा बताने के बाद रसाभास और भावाभास की परिभाषा बताई गई हैं। इसके बाद भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता के नाम गिनाये हैं। इनमें से प्रत्येक के उदाहरण भी वहीं दिये हुए हैं।

और यह (रसादि रूप ध्वनि) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि कहलाती है।

टि०–रसादिध्वनि में विभावादि की प्रतीति 'उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत्' इतनी शीघ्रता से होती है कि इसमें पौर्वापर्य का ज्ञान नहीं हो पाता। इसलिए इस रसादिध्वनि को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि कहते हैं। उत्पलपत्रशतव्यतिभेदवत् का अभिप्राय यह है–यदि ऊपर नीचे रखे हुए कमल के सौ पत्तों के ढेर को क्षुरिका (चाकू) के एक ही आघात से एकदम बींधा जाय तो इस कार्य में पौर्वापर्य अवश्य रहता है। पहला पत्ता पहले बिंधता है और बाद वाले पत्ते उसी क्रम से बाद में बिद्ध होते हैं। किन्तु क्रिया के शीघ्र होने के कारण पौर्वापर्यक्रम का ज्ञान नहीं होता है। ठीक इसी तरह रसप्रतीति में भी पहले आलम्बन और उद्दीपन विभावों का ज्ञान होता है फिर अनुभावों की प्रतीति होती है और इनके ज्ञान में सञ्चारिभाव बीच बीच में आकर सहायता करते हैं। इन सभी के साधारणीभूत सम्मिलित ज्ञान का सामाजिकनिष्ठ स्थायिभाव के साथ जब सम्पर्क होता है तो रसप्रतीति रूप कार्य होता है। इस प्रकार विभावादियों का ज्ञान और रसास्वाद का अनुभव होता तो एक क्रमविशेष से है किन्तु शीघ्र शीघ्र और साथ साथ होते चले जाने से इस क्रम का ज्ञान नहीं होता है। जैसे कमलपत्रों के बेधन में क्रम होते हुए भी उसका ज्ञान नहीं होता है वैसे ही रसादिध्वनि में भी क्रम का ज्ञान नहीं होता है।

जो वाच्य और व्यङ्ग्य (अर्थों) के कमिक ज्ञान के होने पर (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) ध्वनि बताई गई है।।71।।

वह शब्द, अर्थ और इन दोनों से होने वाली अर्थात् शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ होती है। इस कारण बुद्धिमानों ने उसे तीन प्रकार की बताया है।

संलक्ष्यक्रम: शब्दशक्त्युद्भवोऽर्थशक्त्युद्भव उभयशक्तिमूलश्चेति त्रिविध:। यत्र शब्दा: परिवृत्तिं न सहन्ते स शब्दशक्त्युद्भव:, तदन्योऽर्थशक्त्युद्भव:। यत्र परिवृत्तिरपरिवृत्तिश्च शब्दानां स उभयशक्तिमूल:।

वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि में क्रम दिखाई पड़ता है और रसभावादि ध्वनियों में क्रम नहीं दिखाई पड़ता-इस विषय में सामाजिकों से ही पूछना चाहिए।

टि०–अभिप्राय यह है कि वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि में रणन के बाद प्रतीत होने वाले अनुरणन के क्रम की तरह सहृदयों को क्रम दीखता है और रसध्वनि में नहीं दीखता। इस बात में किसी प्रकार के शास्त्रीय प्रमाण को देने की आवश्यकता नहीं है। 'भ्रम धार्मिक विस्रब्ध:' (ध्वन्या० 4, 4 वृत्ति) जैसे वस्तु-ध्वनि के उदाहरणों में पहले वाच्यार्थ की प्रतीति होती है और उसके बाद व्यङ्ग्यार्थ (गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणायोग्यम्) का अवगम होता है और 'शून्यं वासगृहम्' (सा०द० 1, 3 वृत्ति) जैसे उदाहरणों में वाच्यार्थ और सम्भोगशृङ्गारध्वनि की प्रतीति के झटपट होने से इन दोनों के क्रम का ज्ञान नहीं प्रतीत होता है यह अनुभव सहृदयसंवेद्य है। सामान्यत: आनन्दवर्धन और मम्मटादि प्राचीन आचार्यों की ओर से असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि का इसी रूप में भेद बताया गया है और ऐसा ही माना जाता है। किन्तु वास्तव में यहाँ ग्रन्थकार ने पण्डितराज जगन्नाथ की तरह व्यङ्ग्यात्मक रीति से इस ओर इङ्गित किया है कि इन दोनों ही प्रकार की ध्वनियों में वस्तुत: क्रम लक्षित नहीं होता है। इस बात में भी प्रमाण सामाजिक का हृदय ही है।

I संलक्ष्यक्रमध्वनि–1. शब्दशक्त्युद्भव 2. अर्थशक्त्युद्भव और 3. उभयशक्त्युद्भव होती है इस कारण तीन प्रकार की है। जहाँ शब्द परिवर्तन को नहीं सहते हैं वह शब्दशक्ति से उत्पन्न होने वाली है (इस कारण शब्दशक्त्युद्भव कहलाती है और उससे भिन्न प्रकार की अर्थशक्ति से उत्पन्न होने वाली है अर्थात् उसमें शब्दों को बदला भी जाय तो भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती है। जहाँ पर शब्दों का परिवर्तन और अपरिवर्तन दोनों बातें पाई जायें वह उभयशक्तिमूल (उभयशक्त्युद्भव) है।

तत्र–

अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते।।72।।
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनिः।

यथा–

विद्राणे रणचत्वरादरिगणे त्रस्ते समस्ते पुनः
कोपात् कोऽपि निवर्तते यदि भटः कीर्त्या जगत्युद्भवः।
आगच्छन्नपि सम्मुखं विमुखतामेवाधिगच्छत्यसौ
द्रागेतच्छुरिकारयेण ठणिति छिन्नापसर्पच्छिराः।।110।।

अत्र शब्दशक्त्युद्भवो विरोधाभासः।

इन (भेदों) में–

जहाँ अलङ्कार और वस्तुमात्र ही प्रधान रूप से शब्द के द्वारा प्रतीत हों उन्हें शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि समझना चाहिए।।।72।।

जैसे–

रणाङ्गण से समस्त शत्रुओं के डर कर भाग जाने पर फिर यदि कोई भी महावीर उनको हराकर क्रोध में भरकर लौटता है तो संसार में उसकी कीर्ति की उत्पत्ति होती है। शीघ्र ही इस योद्धा की तलवार के वेग से ठण् ठण् की आवाज़ के साथ कटे हुए और फड़कते हुए सिर वाला वह (शत्रु) इसके मुख के सामने आता हुआ भी इसके मुख के पीछे ही चले जाने की स्थिति को प्राप्त हो जाता है (यह विरोध है क्योंकि जो मुँह के सामने आता है वह मुँह के पीछे कैसे जा सकता है? इसका परिहार यह है कि शत्रु सामने आकर युद्ध में हारकर पराङ्मुख होकर भाग जाता है अथवा मरकर मुखहीन हो जाता है।।110।।

यहाँ शब्दों की शक्ति से उत्पन्न होने से शब्दशक्त्युद्भव विरोधाभास है।

टि०–इस श्लोक में 'आगच्छन्नपि सम्मुखं विमुखताम्' के स्थान पर यदि और शब्द बदल कर रख दिये जायें तो यहाँ विरोधाभास अलङ्कार नहीं रहेगा। अतः यह शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि का उदाहरण है। इस तरङ्ग के आरम्भ (3, 21-23) में ध्वनि के निम्न चार भेद ग्रन्थकार पहले दिखा चुके हैं–

वस्तुमात्रं यथा–

शनिरशनिश्च तमुच्चै र्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम्।
यत्र प्रसीदति पुनः स भात्युदारोऽनुदारश्च।।111।।

अत्र विरुद्धा अपि त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरुत इति वस्तु ध्वन्यते।

अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः।।73।।

ध्वनि

- 1. अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल)
  - 1. अर्थान्तरसंङ्क्रमितवाच्य
  - 2. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य
- 2. विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल)
  - 3. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य
  - 4. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य

यहाँ पुनः इस ध्वनि के प्रसङ्ग को उठाया गया है अविवक्षितवाच्यध्वनि के भेदों का नाम गिनाकर विवक्षितान्यपरवाच्य के असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि इन दो भेदों की यहाँ चर्चा की है।

केवल वस्तुध्वनि (का उदाहरण) जैसे–

हे राजन्! आप जिस पर नाराज़ होते हैं उसको शनि ग्रह और वज्र दोनों नष्ट कर देते हैं और जिस पर आपकी कृपादृष्टि हो जाती है वह महान् दाता (उदार) और स्त्रियों से युक्त (अनुदार–दाराओं स्त्रियों से अनुगत) होकर शोभित होता है।।111।।

यहाँ विरुद्ध (स्वभाव वाले शनि तथा शनिभिन्न अशनि) पदार्थ तुम्हारी प्रसन्नता के लिए (तुम्हारे कोपभाजन व्यक्ति के हननरूप) एक कार्य को करते हैं यह वस्तुमात्र अर्थ ध्वनित होता है।

टि०–यह उदाहरण काव्यप्रकाश (4, 59) में दिया हुआ है। अगली दोनों कारिकायें भी वहीं (4, 39-41) से ली गई हैं।

अर्थशक्त्युद्भव व्यञ्जक अर्थ भी–1. स्वतःसम्भवी अर्थात् लोक में पाया जाने वाला, 2. (केवल) कवि की प्रौढोक्तिमात्र से सिद्ध (लोक में न पाये जाने पर भी केवल कवि की कल्पनामात्र से काव्य में वर्णित) अथवा उस

प्रौढोक्तिमात्रात् सिद्धो वा कवेस्तेनोत्तम्भितस्य वा।
वस्तु वाऽलङ् कृति र्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत्।। 74।।
वस्त्वलङ्कारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः।

तदयं विवेकः–अविवक्षितवाच्यस्य द्वौ भेदौ–अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यौ। विवक्षितान्यपरवाच्यासंलक्ष्यक्रमो रसादिरेको भेदः। तस्यैव संलक्ष्यक्रमस्य शब्दशक्तिमूलौ अलङ्कारवस्तुध्वनी। अर्थशक्त्युद्भवस्य द्वादश। एकः शब्दार्थोभयभूः। इत्यष्यादश वाक्यस्य व्यञ्जकत्वे भेदाः। पदस्य व्यञ्जकत्वे

(कवि) के द्वारा निबद्ध किसी वक्ता के वचनों पर टिका होता है। इस प्रकार (तीन प्रकार का) वह वस्तु तथा अलङ्कार रूप (दो प्रकार का होने से 3×2=6) छः प्रकार का होता है और क्योंकि वह वस्तु अथवा अलङ्कार (दोनों को भी) व्यक्त करता है।। 73-74।।

इसलिए वह अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि (6×2=12) बारह प्रकार का होता है।

यह (विशेष) विभाग इस प्रकार है–अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के दो भेद हैं–1. अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और 2. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि) का रसादि (रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता) 1 भेद है। उस (विवक्षितान्यपरवाच्य) के ही संलक्ष्यक्रमध्वनि (नामक दूसरे भेद) के ही शब्दशक्तिमूल (शब्दशक्त्युद्भव) अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि नामक दो भेद हैं। अर्थशक्त्युद्भवध्वनि (नामक दूसरे भेद) के 12 भेद हैं। शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव (नामक तीसरे भेद) का एक ही प्रकार है। इस प्रकार वाक्य के व्यञ्जक होने पर ये 18 भेद हैं।

टि०–1. वाक्यगत ध्वनि के 18 भेद इस प्रकार हैं–

वाक्यगतध्वनि

- 1. अविवक्षितवाच्यध्वनि (लक्षणामूल ध्वनि)
  - 1. अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्य
  - 2. अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य (2 भेद)
- 2. विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (अभिधामूलध्वनि)
  - 1. असंलक्ष्यक्रम-ध्वनि (1 भेद)
  - 2. संलक्ष्यक्रम-ध्वनि

अग्रिम पृष्ठ पर

तूभयशक्त्युद्‌भवध्वन्यभावात् सप्तदश। इति पञ्चत्रिंशत्। प्रबन्धेऽप्यर्थशक्त्युद्भवस्य

---

1. शब्दशक्त्युद्भव
   1. अलङ्कारध्वनि
   2. वस्तुध्वनि (2 भेद)
2. अर्थशक्त्युद्भव (12 भेद)
3. शब्दार्थोभयशक्त्युद्भव (1 भेद)

अर्थशक्त्युद्भव के 12 भेदों का विवरण इस प्रकार है–

अर्थशक्त्युद्भव

1. स्वतः सम्भवी	2. कविप्रौढोक्तिसिद्ध	3. कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध
1. वस्तु से वस्तु	1. वस्तु से वस्तु	1. वस्तु से वस्तु
2. वस्तु से अलङ्कार	2. वस्तु से अलङ्कार	2. वस्तु से अलङ्कार
3. अलङ्कार से वस्तु	3. अलङ्कार से वस्तु	3. अलङ्कार से वस्तु
4. अलङ्कार से अलङ्कार	4. अलङ्कार से अलङ्कार	4. अलङ्कार से अलङ्कार

इस प्रकार वाक्यगतध्वनि के अन्तर्गत विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि (अभिधा-मूलध्वनि) के 1+2+12+1=16 भेद हैं। अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूलध्वनि के पहले अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक दो भेद हैं। इन 16 भेदों को दो भेदों के साथ मिलाकर वाक्यगत ध्वनि के 18 भेद हो जाते हैं।

पद के व्यञ्जक होने पर तो उभयशक्त्युद्‌भवध्वनि न होने के कारण उसके 17 भेद ही होते हैं।

टि०–वाक्य में ही उभयशक्त्युद्भव ध्वनि होती है क्योंकि उभयशक्त्युद्भव का अर्थ है शब्दशक्ति और अर्थशक्ति दोनों से उत्पन्न अर्थों की मिली जुली ध्वनि। फलतः कुछ शब्द परिवर्तन को सहने वाले होते हैं और कुछ परिवर्तन को सहन नहीं कर पाते हैं। यह स्थिति अकेले एक पद में किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है इसलिए यह उभयशक्त्युद्‌भवध्वनि अनेक पदसमूह रूप वाक्य में होती है।

द्वादश भेदाः। इति सप्तचत्वारिंशद् भेदाः। अलक्ष्यक्रमस्य प्रबन्धपदैकदेशरचनावर्णानां व्यञ्जकत्वे चत्वारो भेदास्तस्माच्छुद्धा एकपञ्चाशद् ध्वनिभेदाः।

---

2. पदगत ध्वनि के 17 भेद इस प्रकार हैं–

पदगत ध्वनि

- 1. अविवक्षितवाच्यध्वनि (लक्षणामूलध्वनि)
  - 1. अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य
  - 2. अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य (2 भेद)
- 2. विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (अभिधामूलध्वनि)
  - 1. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनि (1.भेद)
  - 2. संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि
    - 1. शब्दशक्त्युद्भव
      - 1. वस्तुध्वनि
      - 2. अलङ्कारध्वनि (2 भेद)
    - 2. अर्थशक्त्युद्भव (12 भेद)

इस प्रकार पदगतध्वनि के अन्तर्गत विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूलध्वनि) के 1+2+12=15 भेद हैं। अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूलध्वनि) के अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक दो भेद हैं। इन 15 भेदों को इन दो भेदों के साथ मिलाकर पदगतध्वनि के 17 भेद हो जाते हैं।

इस प्रकार (वाक्यगत 18 भेदों में पदगत 17 भेदों को मिलाकर) अब तक ध्वनि के 35 भेद हो जाते हैं। अर्थशक्त्युद्भवध्वनि के 12 भेद प्रबन्धगत भी होते हैं। इन 12 भेदों को मिलाकर (35+12=) 47 भेद हो जायेंगे। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि (रसादि ध्वनि) के 1. प्रबन्ध 2. पदैकदेश 3. रचना और 4. वर्ण की व्यञ्जकता होने पर 4 भेद और हो जाते हैं। इस भाँति ध्वनि के 51 शुद्ध भेद हैं।

टि०–प्रबन्ध (महावाक्य) में केवल विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधा- मूलध्वनि) के संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेद के अर्थशक्त्युद्भव वाले 12 भेद ही होते हैं। इस प्रबन्धगतध्वनि में अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के दोनों भेद और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि के शब्दशक्त्युद्भव तथा शब्दार्थशक्त्युद्भव ये दोनों भेद सम्भव नहीं हैं, क्योंकि लक्षणाव्यापार किसी एक वाक्य की अनुपयुक्ततामात्र नहीं होता है। सम्पूर्ण महाकाव्य अथवा कोई एक प्रकरण इस लक्षणाव्यापार का

उदाहरणं स्वयमूहनीयम्। ग्रन्थगौरवभयादत्यन्तमनुपयुक्तत्वाच्च नेह प्रदर्शितम्। वस्तुतस्तु अविवक्षितवाच्यस्य भेदद्वयम्। एको रसादि:। संलक्ष्यक्रमस्य शब्दशक्तिमूलावलङ्कारवस्तुरूपौ द्वौ। अर्थश्च द्विविध:। स्वत:सम्भवी प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न इति अन्यत्तु सर्वं स्वबुद्धिसौष्ठवप्रकटनम्।

विषय नहीं हो सकता। शब्दशक्त्युद्भव और शब्दार्थशक्त्युद्भव भेदों की भी यही स्थिति है। फलत: इसके 12 भेद ही माने जाते हैं।

वाक्य, पद और प्रबन्ध के इन भेदों के अतिरिक्त असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रस) ध्वनि के निम्न 4 भेद किए जाते हैं–

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि (रसध्वनि)

1. प्रबन्ध 2. पदैकदेश 3. रचना 4. वर्ण

पिछले 47 भेदों में इन 4 भेदों को मिलाकर ध्वनि के कुल 51 भेद हो जाते हैं। ये भेद (किसी दूसरे भेद के साथ मिश्रण न होने से) अपने शुद्ध रूप में होने के कारण शुद्ध ध्वनिभेद कहलाते हैं।

उपर्युक्त इन चार भागों में विभक्त ध्वनि के भेदों को इस प्रकार दिखाया जा सकता है–

ध्वनि

1. वाक्यगत 2. पदगत 3. प्रबन्धगत 4. असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनिगत

18 + 17 + 12 + 4

= 51 कुल शुद्ध ध्वनिभेद

(इन 51 भेदों में से प्रत्येक भेद के) उदाहरण स्वयं (देखकर) समझ लेने चाहिएँ। यहाँ पर ग्रन्थ के बढ़ जाने के भय से तथा (इन भेदों के सभी उदाहरणों के) अत्यन्त अनुपयोगी (व्यर्थ) होने से उन्हें यहाँ नहीं दिखाया है। वास्तव में तो अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनि के दो ही (अर्थान्तरसङ्क्रमित और अत्यन्ततिरस्कृत नामक) भेद हैं। (विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि का असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूप) एक भेद रसादि है। विवक्षितान्यपरवाच्य के दूसरे भेद) संलक्ष्यक्रम के शब्दशक्तिमूल

तत्र स्वतःसम्भवी अर्थो यथा–

आयातासि विमुञ्च वेपथुभरं दृष्यसि केनापि नो
नीलं चोलममुं च मुञ्च हरतु स्वेदं निशीथानिलः।

अलङ्कार और शब्दशक्तिमूल वस्तु–ये दो भेद हैं। (इसी संलक्ष्यक्रमध्वनि के अर्थशक्तिमूल भेद में) अर्थ इन दो प्रकारों का होता है–1. स्वतःसम्भवी (लोक में पाया जानेवाला) और 2. कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्न (कवियों की ऊँची कल्पनामात्र से पैदा होने वाला)। बाकी और जितने भेद हैं, वे सब तो (मम्मटादि आचार्यों ने) अपनी बुद्धि की श्रेष्ठता को बताने के लिए किए हैं।

टि०–ये संक्षिप्त 7 भेद इस प्रकार हैं–

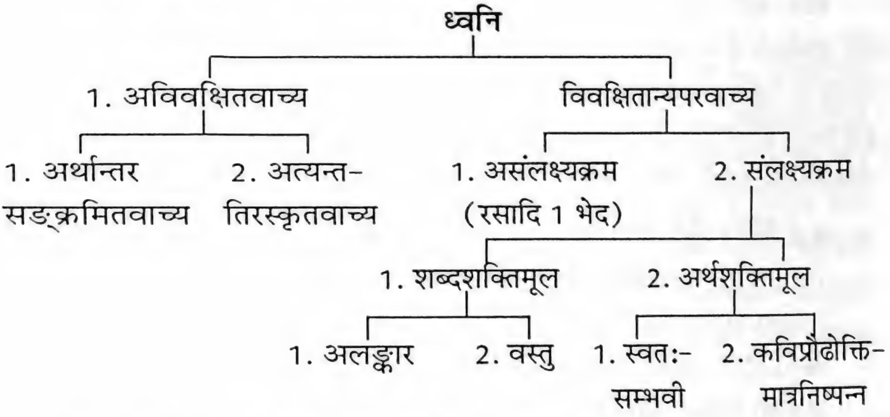

इस प्रकार अविवक्षितवाच्यध्वनि (2 भेद) और विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि (1+2+2+=5 भेद) के 7 भेद हैं।

इन (भेदों) में से 1. स्वतःसम्भवी (अर्थशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण) जैसे–

तुम यहाँ आ गई हो (यह बहुत अच्छी बात है और अब निश्चिन्त होकर बैठो) कम्पनातिशय अर्थात् थरथर काँपने को छोड़ो क्योंकि तुम्हें किसी ने देखा नहीं है। इस नीले चोगे (जिससे अपने आपको ढाँप कर तुम यहाँ अभिसरणार्थ आई हो) को उतार दो (जिससे यह) आधी रात की हवा तुम्हारे पसीने को दूर करे। (अपने प्रेमी के इन वचनों को सुनती हुई) शय्या पर बैठी हुई, डरी हुई अतएव अत्यधिक भय के कारण भरे हुए गले

अत्यन्तभयसन्नकण्ठमसकृद् यामीति तल्पं गता
त्रस्यन्ती परिरभ्यते सुकृतिभिः स्वैरं न च स्वैरिणी।। 112।।

प्रौढोक्तिनिष्पन्नो यथा–

कैलासः प्राक् शरीरं फणफलकमुडुग्रामणीर्नागराजः
पश्चार्द्धं यस्य सोऽयं तव जयति यशोराशिराशीविषेन्द्रः।
त्वत्तेजस्युज्जिहानं विधिरपि च रविं प्रोञ्छति व्यर्थमानी
जानीमस्तावकीनासमसमरसमुद्धतधूलीसदम्भात् ।। 113।।

से मैं जा रही हूँ, इन वचनों को बार बार कहती हुई स्वच्छन्द विहार करने वाली नायिका क्या पुण्यशाली व्यक्तियों के द्वारा यथेच्छ आलिङ्गनबद्ध नहीं होती? (अपितु आलिङ्गित हुआ ही करती है) ।। 112।।

टि०–इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में अभिसरण के लिए आई हुई अभिसारिका के प्रति उसके प्रेमी के द्वारा कहे गये वचन हैं। 'सुकृतिभिः स्वैरं न परिरभ्यते' इस निषेध वाक्य से 'परिरभ्यते एव' इस विध्यर्थक वाक्यार्थ की प्रतीति व्यञ्जना से हो रही है। इस प्रकार के व्यवहार के उदाहरण लोक में पाये जाते हैं। इस कारण यह स्वतःसम्भवी अर्थशक्तिमूलध्वनि का उदाहरण है।

2 (कवि) प्रौढोक्तिनिष्पन्न (अर्थशक्तिमूलक ध्वनि का उदाहरण) जैसे–
(हे राजन्!) जिसका कैलास पर्वत पहला आधा शरीर (सिर की ओर का उपरला आधा) भाग है, सितारों का मुखिया चन्द्रमा फणाभोग (फैली हुई फन) है (पुराणों में प्रसिद्ध) नाग नामक पर्वतराज अथवा पातालवासी शेषनाग पिछला आधा (पूँछ की ओर का निचला आधा) भाग है ऐसा वह यह तुम्हारा लोकप्रसिद्ध यशःसमूह रूप सर्पराज (सर्वातिशायी होने से) विजय प्राप्त करे और (इसके अतिरिक्त) तुम्हारे तेज के रहते हुए उदित होने वाले इस सूर्य को व्यर्थ मानता हुआ विधाता (इसको) पोंछकर मिटा रहा है यह बात तुम्हारे अद्वितीय (निरुपम) युद्ध से उत्पन्न हुई (उड़ाई गई) धूलि के घमण्डी होने के कारण धुँधले सूर्य को देखकर हमें प्रतीत हो रही है।। 113।।

टि०–इस श्लोक में श्वेत रङ्गों वाले कैलास पर्वत, चन्द्रमा और नाग पर्वत या शेष नाग को राजा के यशरूपी सर्पराज का अङ्ग बताया है। इन विभिन्न पदार्थों से निर्मित होने के कारण राजा का यश अलौकिक है और वह आकाश, मर्त्यलोक और पाताल तक पहुँचा हुआ है–यह अर्थ व्यञ्जना से प्रतीत हो रहा है। इन पदार्थों से बने

एते प्रोक्ताः शुद्धभेदास्तेषामन्योन्ययोजनम्।। 75।।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।

तेषां ध्वनीनाम्। संशयास्पदत्वेनानुग्राह्यानुग्राहकतया एकव्यञ्जकानुप्रवेशेन चेति त्रिविधेन सङ्करेण परस्परनिरपेक्षया चैकरूपया संसृष्ट्या एकत्र काव्ये संसर्गरूपया योजनमपि।

यश रूपी आशीविषेन्द्र के होने तथा सूर्यबिम्ब के विधाता के हाथों से पोंछे जाने की लोक में सत्ता नहीं है, यह केवल कविकल्पनाप्रसूत बात है। इस कारण यहाँ कविप्रौढोक्तिनिष्पन्न ध्वनि है।

ध्वनि के ये 51 भेद शुद्धभेद कहे गये हैं।। 75।।

उन सभी ध्वनियों का त्रिविध सङ्कर और एक प्रकार की संसृष्टि से आपस में एक दूसरे के साथ मेल हो जाता है।

यहाँ 'तेषाम्' का अभिप्राय (51 प्रकार की) ध्वनियों से है। सन्देहास्पद होने से (सन्देहसङ्कर), अनुग्राह्यानुग्राहक रूप होने से (अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर) और एकव्यञ्जक में अनुप्रवेश होने से (एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर) इस प्रकार (नीरक्षीरन्याय से होने वाले) तीन तरह के सङ्कर और परस्परनिरपेक्ष (अर्थात् एक दूसरे की आवश्यकता न रखने वाली) ध्वनियों वाली (अतएव तिलतण्डुलन्याय से) संसर्ग (अर्थात् सम्मिश्रण) से युक्त एक प्रकार की संसृष्टि के कारण काव्य में (इन ध्वनियों का) एक स्थान पर मेल भी हो जाता है।

टि०–काव्यप्रकाश में यही कारिका थोड़े से भिन्न रूप में है और वहाँ पर ध्वनि के भेद भी गिनाये हुए हैं। यहाँ ग्रन्थकार ने उन्हीं पङ्क्तियों से सहायता ली है।

भेदास्तदेकपञ्चाशत् तेषां चान्योन्ययोजने।।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया।
वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (1-0-4-0-4)

शुद्धभेदैः सह–

शरेषुयुगखेन्दवः (1-0-4-5-5)।। काव्यप्रकाश (4, 43-44)

ध्वनि के अपने शुद्ध 51 भेदों के साथ यही 51 भेद जब मिल जाते हैं तो इनकी सङ्ख्या 51×51=2601 हो जाती हैं। यह भेद चतुर्विध सङ्कर और संसृष्टि के रूप में

जब आपस में मिलते हैं तो (2601×4=10404) भेद हो जाते हैं। इनमें शुद्ध 51 भेद मिलकर कुल ध्वनिभेद (10404+51) =10455 हो जाते हैं।

सङ्कर का लक्षण विद्यानाथ के प्रतापरुद्रयशोभूषण में इस प्रकार मिलता है–

नीरक्षीरनयाद् यत्र सम्बन्धः स्यात्परस्परम्।
अलङ्कृतीनामेतासां सङ्करः स उदाहृतः।।

इसके अनुसार जहाँ किन्हीं अलङ्कारों की नीरक्षीरन्याय से एकत्र स्थिति होती है वहाँ सङ्कर होता है। जैसे दूध और पानी के मिल जाने पर उन दोनों की पृथक् स्थिति नहीं रहती और वे एकाकार हो जाते हैं उसी प्रकार जब दो या दो से अधिक अलङ्कार परस्पर मिल जाने के बाद पृथक् पृथक् प्रतीत न हों तो उनका वहाँ सङ्करालङ्कार नाम हो जाता है। किन्तु जहाँ दो या दो से अधिक अलङ्कार मिलकर स्वतन्त्र रूप से 'तिलतण्डुलन्याय' से पड़े होते हैं वहाँ संसृष्टि होती है। जैसे सूखे तिल और चावलों को मिला देने पर भी वे अलग अलग दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार संसृष्टि में अलङ्कारों की पृथक् पृथक् स्थिति होती है। काव्यप्रकाश में आचार्य मम्मट ने संसृष्टि का यह लक्षण बताया है–

सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः।। काव्यप्रकाश 10, 129

जो इन अलङ्कारों की परस्परनिरपेक्ष (स्वतन्त्र) रूप से काव्य में स्थिति होती है वह संसृष्टि कहलाती है।

कुवलयानन्द में भी अप्पयदीक्षित ने सङ्कर और संसृष्टि को इस प्रकार स्पष्ट किया है–अथैतेषामलङ्काराणां यथासम्भवं क्वचिन्मेलने लौकिकालङ्काराणां मेलन इव चारुत्वातिशयोपलम्भान्नरसिंहन्यायेन पृथगलङ्कारावस्थितौ तन्निर्णयः क्रियते। तत्र तिलतण्डुलन्यायेन स्फुटावगम्यभेदालङ्कारमेलने संसृष्टिः। नीरक्षीरन्यायेनास्फुट-भेदालङ्कारमेलने सङ्करः–कुवलयानन्द 171 कारिकान्तर्गत वृत्तिभाग में अथ संसृष्टिसङ्करौ सं० 118

इसका अभिप्राय यह है–जिस प्रकार दो या दो से अधिक लौकिक आभूषणों को मिलाकर एक नई डिज़ाइन बना देने से वे अलङ्कार अधिक चारुता उत्पन्न करते हैं, ठीक वैसे ही ये काव्यगत अलङ्कार भी एक दूसरे से मिलकर काव्य में चारुत्वातिशय पैदा करते हैं। जिस प्रकार मनुष्य तथा सिंह मिलकर नरसिंह बनते हैं और दोनों का समन्वय होते हुए भी एक अलग कोटि में गृहीत होते हैं, इसी प्रकार अनेक अलङ्कारों का समन्वय भी 'नरसिंहन्याय' से पृथक् अलङ्कार के रूप में निर्धारित किया जाता है। जहाँ अनेक अलङ्कार एक दूसरे से इस तरह मिले हों कि वे प्रकट रूप में अलग

यथा–

खण पाहुणि आ दे अर जा आ ए सु ह अ किं पि दे भणिआ[1]

रु अइ पडोहर घरम्मि अणुणि ज्ज उ वराई।। 114।।

अलग दिखाई पड़ते हों (इसको दूसरे शब्दों में कह सकते हैं जहाँ 'तिलतण्डुलन्याय' से मिश्रण हो) वहाँ संसृष्टि नामक अलङ्कार होता है।

यह सङ्कर अलङ्कार तीन प्रकार का है। साहित्यदर्पण में आचार्य विश्वनाथ ने इन भेदों को इस प्रकार बताया है–

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः।।
सा०द० 10, 99

1. जहाँ कई अलङ्कारों में अङ्गाङ्गिभाव हो, वहाँ अङ्गाङ्गिभाव या अनुग्राह्यानुग्राहकभाव सङ्कर होता है। 2. जहाँ एक ही आश्रय (शब्द या अर्थ) में अनेक अलङ्कारों की स्थिति हो वहाँ एकव्यञ्जकानुप्रवेश सङ्कर तथा 3. जहाँ कई अलङ्कारों का सन्देह होता हो वहाँ सन्देहसङ्कर होता है। इनके उदाहरण भी वहीं दिखलाये हुए हैं।

(सन्देहसङ्कर का उदाहरण) जैसे–

संस्कृतच्छाया–

क्षणप्राघुणिका देवर जायया सुभग किमपि ते भणिता।
रोदिति गृहपश्चाद्भागवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी।।

हे सौभाग्यशाली सुन्दर देवर! उत्सव की मेहमान (अर्थात् घर के किसी उत्सव के अवसर पर अतिथि रूप में आई हुई तुम्हारी प्रेमिका) से तुम्हारी पत्नी ने न जाने क्या कुछ (उचित अनुचित रूप में) कह दिया है (जिससे दुःखी होकर अब) वह घर के पिछवाड़े की (एकान्त) अटारी (घर के ऊँचे भाग) के कमरे (बैठी) रो रही है। उस बेचारी को जाकर मना लीजिए।। 114।।

टि०–कोई नायिका किसी विवाहित युवक के प्रति अनुरक्त है। वह अपने प्रेमी के यहाँ होने वाले किसी उत्सव में आई हुई है। उस प्रेमी की पत्नी उनके प्रच्छन्न

1. ज अ; भण आ त

पडोहर शब्दो देशभाषायां[1] गृहपश्चाद्गृहवाची। अत्रानुनय: किमुपभोगलक्षणे अर्थान्तरे सङ्क्रमित: किं वा अनुरणनन्यायेन उपभोग एव व्यङ्ग्ये व्यञ्जक इति सन्देह:।

अनुराग को पहले से ही जानती रही है। अपने पति की अनुपस्थिति में घर पर आई हुई इस प्रेमिका को ईर्ष्याकषायित होकर उसने खरी खोटी सुना दी है जिससे दु:खी होकर वह एकान्त स्थान में जाकर रोने लग गई है। इस सारे रहस्य भरे वृत्तान्त को जानने वाली उस नायक की रिश्ते में भाभी लगने वाली नर्मसखी उस प्रेमी नायक को रमण करने के लिए प्रेरित कर रही है। उसका कहना है कि चुपके से पिछवाड़े की ओर से निकल कर ऊपर एकान्त स्थान पर पहुँच जाओ और अपनी प्रेयसी को प्रसन्न करो।

यहां पर प्रयुक्त 'पडोहर' शब्द देसी भाषा (देहाती बोली, प्रान्तीय भाषा की बोली) में घर के पीछे की ओर बने हुए घर को बताने वाला है। (पडोहर शब्द पिछवाड़े से मिलता जुलता है और इसी अर्थ में इसका प्रयोग हिन्दी में मिलता है) यहाँ क्या (अनुनीयताम् शब्द में विद्यमान) अनुनय पद का उपभोग रूप अर्थ दूसरे अर्थ में सङ्क्रमित (होने से लक्षणामूल अविवक्षितवाच्यध्वनि का भेद) है अथवा क्या अनुरणनन्याय (संलक्ष्यक्रम) की रीति से (रोदननिवर्तन रूप अर्थ अनुनय का वाच्यार्थ है और उससे) उपभोग रूप व्यङ्ग्य में ही व्यञ्जक (होने से अभिधामूलध्वनि) है? यह सन्देह (होने से सन्देहसङ्कर) है।

टि०–अभिप्राय यह है कि 'अनुनीयताम्' शब्द का मुख्यार्थ 'मिन्नतें कीजिए' या 'प्रसन्न कीजिए' है। प्रेमप्रकर्षसूचन रूप प्रयोजन से तात्पर्यानुपपत्तिमूलक लक्षणा द्वारा 'सम्भोग कीजिए' इस लक्ष्यार्थ में पहला अर्थ सङ्क्रान्त हो जाता है। इस विधि से यह अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यरूप अविवक्षितवाच्यध्वनि का उदाहरण बन जाता है। यदि 'अनुनीयताम्' शब्द के 'मना लीजिए' इस मुख्यार्थ की प्रतीति के अनन्तर ही अनुरणनन्याय से व्यञ्जना से ही 'सम्भोग कीजिए' यह अर्थ लिया जाय तो यहाँ विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनि हो जाती है। इस प्रकार इस श्लोक में लक्षणामूल अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अभिधामूल संलक्ष्यक्रम वस्तु से वस्तु रूप व्यङ्ग्यध्वनि इन दोनों ध्वनिभेदों में से कौनसा भेद माना जाए इसका विनिगमक

---

1. संशोधित; देशभाषा ज अ त; पडोहरशब्दो गृहपश्चाद्भागे देशी का० प्र० 4, 111 पर बालमनोरमा टीका

यथा–

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हृदा हा देवि धीरा भव।। 115।।

अत्र लिप्तेति पयोदसुहृदामिति व्यापनपरितोषकारित्वे लक्ष्ये। इत्यत्रा-

---

(साधकबाधकहेतु) न होने से दो ध्वनिभेदों का सन्देहसङ्कर है। (काव्यप्रकाश 4, 111) तथा ध्वन्यालोक (3, 44 वृत्तिभाग) में भी सन्देहसङ्कर के उदाहरण के रूप में इस श्लोक को रखा गया है।

(सङ्कर और संसृष्टि दोनों का सम्मिलित उदाहरण) जैसे–

चिकनी एवं काली चमक से आकाश को व्याप्त करने वाले (शब्दार्थ लीपने वाले), विहार करती (घेरती हुई) बगुलियों से युक्त जलकणों से भरी ठंडी पवनें (भले ही बहें) और मेघों के मित्र मयूरों की आनन्द भरी कूकें भी चाहे कितनी ही सुनाई पड़ें, मैं तो दृढहृदय वाला राम हूँ अतः सब कुछ सह लूँगा। परन्तु (अतिकोमल) हृदय वाली (वियोगिनी) सीता (इस दशा में जीवित) कैसे रहेगी? हाय! हे (उदात्त गुणों से संवलित) देवि सीते! तुम धैर्य रखना।। 115।।

यहाँ पर 'लिप्त' और पयोदसुहृदाम्' यह दोनों पद (अपने अपने वाच्यार्थ में बाधित होकर) व्यापन और आनन्दकारित्व रूप लक्ष्यार्थ में (प्रयुक्त. हैं) इस कारण यहाँ पर व्यापनत्वातिशय तथा परितोषकारित्वातिशय रूप व्यङ्ग्यार्थ को प्रकट करने वाली अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य रूप दो अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनियों की संसृष्टि है।

टि०–यहाँ 'लिप्त' पद का वाच्यार्थ लिपा हुआ है परन्तु लेपन क्रिया के कर्त्ता जड़ मेघ नहीं हो सकते और निर्लेप आकाश को लीपा नहीं जा सकता। इसलिए यह पद अत्यन्ततिरस्कृत होकर व्याप्त अर्थ का बोधन कराता है इसी प्रकार जड़ मेघ मोरों के लिए सुहृत् अर्थात् अच्छे हृदय वाले (मित्र) नहीं हो सकते। क्योंकि सौहार्द चेतन का धर्म है इस कारण पयोदसुहृदाम् का अर्थ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य होकर आनन्दकारी हो जायेगा। इस प्रकार 'लिप्त' तथा पयोदसुहृदाम् इन दोनों पदों में अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यध्वनि परस्परनिरपेक्षभाव से स्थित है अतः उन दोनों भेदों की संसृष्टि है।

त्यन्ततिरस्कृतवाच्ययो: व्यापनत्वातिशयपरितोषकारित्वातिशयध्वन्यो: संसृष्टि:। आभ्यां सह रामोऽस्मीत्यस्यार्थान्तरे दु:खसहिष्णुत्वरूपे सङ्क्रमितवाच्यस्यैतादृशवैयग्रचहेतु-सम्पातेऽपि जीवितत्वरूपदु:खसहनातिशयध्वनेरनुग्राह्यानुग्राहकभावेन रामपदलक्षणैक-व्यञ्जकानुप्रवेशेन चार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य दु:खसहनातिशयध्वने रसध्वनेश्च सङ्कर:। एवमन्यदुदाहर्यम्।

इति श्रीविश्वनाथदेवविरचितसाहित्यसुधासिन्धौ तृतीयस्तरङ्ग:[1]।

(लिप्त एवं पयोदसुहृदाम् इन दोनों पदों से प्रतीयमान) इन (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनियों) के साथ (अत्यन्त) दु:ख को सह लेने के स्वभाव वाले राम रूप दूसरे अर्थ में बदले हुए वाच्यार्थ वाली तथा इस प्रकार की व्याकुलता के कारणों के आ पड़ने पर भी जिन्दा रहने रूप दु:ख को सहन करने की बड़ी भारी शक्ति को बताने वाली 'रामोऽस्मि' से प्रतीयमान इस अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि का अनुग्राह्यानुग्राहकभाव सङ्कर है। इसके अतिरिक्त राम पद रूप एक व्यञ्जक पद में अनुप्रवेश के कारण दु:खसहन करने की अत्यधिक शक्ति रूप अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्य वाली अविवक्षितवाच्यध्वनि और विप्रलम्भशृङ्गाररसध्वनि का (एकाश्रयानुप्रवेश) सङ्कर है। इसी प्रकार (संसृष्टि और सङ्कर के) अन्य उदाहरण भी समझ लेने चाहिएँ अर्थात् जहाँ जहाँ भी ध्वनियों का मेल दिखाई पड़े वहाँ वहाँ उनका इन चार भेदों के अनुसार वर्गीकरण किया जा सकता है।

टि०–रामोऽस्मि में राम पद अत्यन्तदु:खसहिष्णु रूप अर्थान्तर में सङ्क्रमित है। लिप्त तथा पयोदसुहृदाम् पदों की अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनियाँ इस रामोऽस्मि की अर्थान्तरसङ्क्रमितध्वनि की उपकारक हैं। इसलिए यहाँ उपर्युक्त दो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनियों का इस तीसरी अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि के साथ अनुग्राह्यानुग्राहकभाव अथवा अङ्गाङ्गिभाव सङ्कर है। 'रामोऽस्मि' में राम पद अत्यन्तदु:खसहिष्णुत्वविशिष्ट राम का बोधक होने से अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि का उदाहरण तो है ही किन्तु इसी पद के द्वारा व्यञ्जना से राजत्याग, पितृमरण, जटाचीरवल्कलधारण, नारीहरण, सहायान्वेषण आदि कर्मों को करने वाले राम में शोक, आवेश, धैर्य और निर्वेदादि व्यभिचारिभावों से विप्रलम्भशृङ्गाररस भी परिपुष्ट

---

1. ज अ; राम इति साहित्यसुधासिन्धौ तृतीय:तरङ्ग: त

होता है। इसलिए यहाँ राम पद में अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि तथा रसध्वनि का एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर है। इस प्रकार इस श्लोक में दो अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनियों की संसृष्टि तथा इन दोनों का 'रामोऽस्मि' पदों की अर्थान्तरसङ्क्रमितध्वनि के साथ अङ्गाङ्गिभावसङ्कर है। रामोऽस्मि पदान्तर्गत दो ध्वनियों में एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर है।

इस प्रकार श्रीविश्वनाथदेवविरचित साहित्यसुधासिन्धु में तृतीय तरङ्ग समाप्त हुई।

—•—

चतुर्थस्तरङ्गः

अथ प्राचां गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदानाह–

अगूढमपरस्याङ्गं वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।। 76।।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये[1] काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्।
व्यङ्ग्यमेवं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदा मताः।। 77।।

अगूढमिति–सहृदयाहृदयसंवेद्यत्वमिति यावत्। तथा न चमत्कारप्रकर्षः।

अब प्राचीन (मम्मटादि) आचार्यों के (द्वारा किये गये) गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदों को (ग्रन्थकार) बता रहे हैं–

1. अगूढ (व्यङ्ग्य) 2. अपर (दूसरे) का अङ्ग (भूत व्यङ्ग्य अपराङ्गव्यङ्ग्य) 3. वाच्यसिद्धि का अङ्ग (भूत व्यङ्ग्य वाच्य-सिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य) 4. अस्फुट (गूढव्यङ्ग्य) 5. सन्दिग्धप्राधान्य 6. तुल्यप्राधान्य (व्यङ्ग्य) 7. काकु से आक्षिप्त (व्यङ्ग्य) और 8. असुन्दर (व्यङ्ग्य)।। 75।।

इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य (रूप मध्यमकाव्य) के आठ भेद बतलाये गये हैं।। 76-77।।

1. अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य–अगूढ वह व्यङ्ग्य है जिसको सहृदय और असहृदय दोनों ही सुगमता से समझते हों इतना ही अगूढ शब्द का तात्पर्य है। वैसा चमत्कारातिशय इस अगूढव्यङ्ग्य में नहीं पाया जाता (जैसाकि ध्वनि काव्य में हुआ करता)है।

टि०–अभिप्राय यह है कि जो व्यङ्ग्यार्थ सहृदय सामाजिकों को ही समझ में आये वही ध्वनिकाव्य होता है। सहृदयों के अतिरिक्त सामान्य व्यक्ति भी जिस व्यङ्ग्य को सुगमता से ग्रहण कर ले वह अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण वाच्यार्थ के समान हो जाता है। इसलिए उस अगूढ में व्यङ्ग्यार्थ की प्रधानता न रहने के कारण

---

1. ज अ; सन्दिग्धं तुल्यप्राधान्यं त।

उक्तञ्च–

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो
नो गुर्जरीस्तन इवातितरां निगूढः।
अर्थो गिरामपिहितः पिहितश्च कश्चित्
सौरभ्यमेति मरहट्टवधूकुचाभः।।

उसको अगूढ गुणीभूतव्यङ्ग्य माना जाता है। इसी प्रकार जहाँ सहृदयों को भी व्यङ्ग्यार्थ सरलता से न प्रतीत होता हो वहाँ भी व्यङ्ग्य का चमत्कार कम हो जाता है। ऐसे कम चमत्कारयुक्त व्यङ्ग्यार्थ वाले गुणीभूतव्यङ्ग्य को गूढव्यङ्ग्य माना जाता है।

और (इस सम्बन्ध में) यह कहा गया है–

न तो आन्ध्रदेश की सुन्दरियों के स्तनों के समान अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रकाशित होने वाला (अगूढव्यङ्ग्य) शोभा देता है और न ही गुजराती वनिताओं के कुचों के समान अत्यन्त छिपा हुआ (गूढव्यङ्ग्य काव्य) चमत्कार उत्पन्न करता है। (इसके विपरीत) महाराष्ट्री नवयुवती के कुछ खुले हुए और कुछ ढके हुए स्तन के समान वाणियों का स्फुटास्फुट कोई (अनिर्वचनीय) अर्थ ही सुवासित (रुचिकर एवं मनोहर) हुआ करता है।

टि०–इस उक्ति में व्यङ्ग्यार्थ के कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट होने पर ज़ोर दिया गया है। संस्कृतकाव्यशास्त्र में इस श्लोक की भाँति एक और श्लोक में भी ध्वनिकाव्य के लिए स्फुटास्फुट रूप से व्यङ्ग्यार्थयुक्त होने की आवश्यकता पर बल दिया गया है–

अनुद्धृष्टः शब्दैरथ च रचनातः स्फुटरसः
पदानामर्थात्मा जनयति कवीनां बहुमुदम्।
यथा किञ्चित्किञ्चित्पवनचलचेलाञ्चलतया
कुचद्वन्द्वं कान्तिं किरति न तथोद्घाटितमुरः।।

(काव्यप्रकाश 4, 45–46) पादटिप्पण 3, वामनाचार्यझलकीकरकृतटीका)

शब्दों के द्वारा न दबी हुई और (ललितोचित)पदरचना के कारण स्फुट रस वाली तथा पदों के भीतर व्यङ्ग्य अर्थों के स्वरूप वाली (स्फुटास्फुट) ध्वनि ही कवियों को प्रचुर आनन्द प्रदान करती है। मन्द मन्द वायु से हिलने वाले वस्त्र

अगूढ़ं यथा–

अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद् यदि।
तदा दुःखैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः।। 116।।

अत्रावश्यम्भावि भवत्येवेति झटिति एव प्रतीयते।

अपरस्य रसादे रसादिरङ्गमुत्कर्षकम्। तथा वाच्यस्यानुरणनरूपमङ्गम्। केचित्तु वाच्यस्यापि राजानुगतभृत्यविवाहवद्रसादिरङ्गम्। आदिपदग्राह्यं भावादि।

(दुपट्टे) के भीतर कुछ छिपा हुआ और कुछ दीखता हुआ स्तनयुगल जैसी कान्ति बिखेरता है वैसी कान्ति खुला हुआ वक्षःस्थल नहीं पैदा करता।

अगूढ (गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण) जैसे–

निश्चित रूप से होने वाली घटनाओं का यदि प्रत्युपाय (रोकने के लिए किसी प्रकार का तरीका) हो जाया करता तो राजा नल, श्रीरामचन्द्र और (धर्मराज) युधिष्ठिर दुःखों से लिप्त न होते अर्थात् उनको तरह तरह के सङ्कटों का सामना नहीं करना पड़ता।। 116।।

यहाँ अवश्य होने वाली बात निश्चित रूप से होती ही है यह बात झट पट ज्ञात हो ही जाती है (अतएव व्यङ्ग्य के अत्यन्त स्पष्ट होने के कारण यह अगूढ व्यङ्ग्य है)

2. अपराङ्ग गुणीभूतव्यङ्ग्य–दूसरे रस आदि (रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति में से किसी एक) असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि की (जब) रसादि असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि अङ्ग बनती है (तो वह) उत्कर्षकारक (पोषक या चमत्कारवर्धक) होती है। और (जब शब्दशक्त्युद्भव, अर्थशक्त्युद्भव, और उभयशक्त्युद्भव रूप सर्वविध) अनुरणनात्मक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (वस्तुरूप और अलङ्कार रूप) ध्वनि भी वाच्यार्थ का अङ्ग बना करती है (तब वहाँ भी चमत्कार उत्पन्न हो जाता है)। कुछ विद्वान् कहते हैं कि रसादि भी वाच्य का वैसे ही अङ्ग बन जाता है जैसे अपने नौकर के विवाह में राजा (स्वामी) अङ्ग (अप्रधान) हो जाता है (और इस प्रकार वह अपने भृत्य के उत्सव की शोभा बढ़ाता है)।

टि०–अभिप्राय यह है कि रस जहाँ भी होता है वह शिरोमणि (प्रधान) होता है किन्तु वह कहीं कहीं दूसरे रस को पुष्ट करते हुए स्वयं अप्रधान बन जाता है। जब एक रस या रसाभास आदि दूसरे रस अथवा रसाभासादि के अङ्ग बन कर शोभा

यथा–

नयनान्यरुणानि घूर्णयन् वचनानि स्खलयन् पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना।। 117।।

अत्र शृङ्गारोचितनयनघूर्णनादिजनकमदिरारसस्मरणाद् विलासस्मरणाद्

बढ़ाते हैं तो वहाँ रसवद् अलङ्कार होता है। जब कोई भाव किसी का अङ्ग बनता है तो प्रेयोऽलङ्कार और रसाभास या भावाभास के अङ्ग बनने पर ऊर्जस्वी अलङ्कार होता है। इसी प्रकार भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता के अङ्ग बनने पर इन्हीं के नाम के भावोदय आदि अलङ्कार होते हैं। भावशान्ति के अङ्ग बनने पर समाहित अलङ्कार होता है।

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमस्तथा।।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदालङ्कृतयस्तदा।
रसवत्प्रेय उर्जस्वि समाहितमिति क्रमात्।।
भावस्य चोदये सन्धौ मिश्रत्वे च तदाख्यकाः।

साहित्यदर्पण 10, 95-97।।

(राजानुगत० पद में प्रयुक्त) आदि पद भाव, रसाभासादि का ग्राहक है।

I. (एक रस के दूसरे रस का अङ्ग बनने पर अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण) जैसे–

हे कामदेव! लाल लाल नेत्रों के घुमाने को करवाता हुआ, पग पग पर स्खलित (टूटे फूटे असम्बद्ध) वचनों को बुलवाता हुआ तुम्हारी सुन्दर स्त्रियों का यह शराब का नशा अब तुम्हारे न रहने (परलोक गत होने) पर इनके लिए क्लेशकारी और मज़ाक (उपहास) का विषय है।। 117।।

टि०–अभिप्राय यह है कि तुम्हारे जीवनकाल में तो कामिनियाँ शराब पीकर हँसती बोलती थीं किन्तु अब तुम्हारे मर जाने पर वे दुःखी हो जायेंगी और उनको दुःखी देखकर लोग उनका मज़ाक ही बनाते रहेंगे।

यह श्लोक कुमारसम्भव (4, 12) का है। इसमें कामदेव के दग्ध हो जाने पर उसकी पत्नी रति विलाप करते हुए ऐसा कह रही है।

यहाँ शृङ्गाररस के अनुरूप नेत्रों के घुमाने आदि को पैदा करने वाली मदिरा के रस (आनन्द) का स्मरण होने के कारण, हाव भावों के याद आने से और हृदय के द्रवित होने से (इतराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य अर्थात् करुण का

विगलद्धृदयत्वाच्छोकावेगमधिकं जनयति इति रसादे रसादिरङ्गम्।

भावस्यापराङ्गत्वे यथा–

सर्वत्र नो वार्तमवेहि राजन्
नाथे कुतस्त्वय्यशुभं प्रजानाम्।
सूर्ये तपत्यावरणाय दृष्टेः
कल्पेत लोकस्य कथं तमिस्रा।। 118।।

अत्र सूर्यविषयको भावो राजविषयकभावस्य।

अनुरणनरूपस्यालङ्कारस्य वाच्याङ्गत्वं यथा–

शूली जातः कदशनवशाद् भैक्ष्यचर्यात्कपाली
वस्त्राभावाद् गगनवसनस्तैलदोषाज्जटावान्।

अङ्गभूत शृङ्गाररस) अत्यधिक शोक के आवेग (उद्विग्नता) को उत्पन्न कर रहा है (यहाँ विरोधी शृङ्गार के अनुभावों से करुण रस की परापुष्टि ही हो रही है)। इस प्रकार यहाँ रसादि का रसादि अङ्ग बन जाता है। यहाँ रस ही रस का अङ्ग है।

II. (एक भाव के दूसरे भाव का अङ्ग हो जाने पर अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण) जैसे–

हे राजा रघु! सब जगह हमारी कुशलता जानिये (या) इस बात को हमसे जान लीजिए (सुन लीजिए) तुम्हारे जैसे प्रजापालक स्वामी के होते हुए प्रजाओं का अकल्याण कैसे हो सकता है? सूर्य के तपने (प्रकाशित एवं प्रदीप्त होने) पर अंधेरी रात लोगों की दृष्टि को ढकने के लिए कैसे समर्थ हो सकती है?।। 118।।

यहाँ (कविनिष्ठ) सूर्यविषयक रत्याख्यभाव (कविनिष्ठ) राजविषयक रत्याख्यभाव का (अङ्ग) है।

III. अनुरणनात्मक (संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य) अलङ्कारध्वनि की वाच्याङ्गता (का उदाहरण) जैसे–

(हे राजन्! कपाल में पड़े) बुरे भोजन के करने के कारण मैं शूली अर्थात् त्रिशूलधारी महादेव बन गया हूँ, (भिक्षुक पक्ष में उदरशूल अर्थात् पेट की पीड़ा से ग्रस्त हो गया हूँ), भीख माँगने से मैं नरमुण्डधारी शिव बन गया हूँ, (भिक्षुक पक्ष में खप्परधारी–खप्परधारण करके घर घर भीख माँगने

इत्थम्भूतस्त्वदभिसरणादीश्वरत्वं मयाप्त-
मद्यापि त्वमयि नरपते नार्द्धचन्द्रं ददासि।। 119।।

अत्र वाच्यस्य शम्भुत्वारोपस्य शब्दशक्तिमूलं नीयमानमीश्वरेण सह साम्यमुत्कर्षकम्। अनुरणनरूपस्य वस्तुनो वाच्याङ्गत्वोदाहरणं स्वयमूहनीयम्।

वाच्यस्य रसादिरङ्गं यथा-

आगत्य सम्प्रति वियोगविसंष्ठुलाङ्गी-
मम्भोजिनीं क्वचिदपि क्षपितत्रियामः।
एतां प्रसादयति पश्य शनैः प्रभाते
तन्वङ्गि पादपतनेन सहस्त्ररश्मिः।। 120।।

की नौबत आ गई है (कपड़ों की कमी के कारण मैं आकाश (शून्य) रूपी कपड़ेवाला अर्थात् नंग धड़ंग रहने वाला शङ्कर हो गया हूँ (शङ्कर भी नंगे रहने के कारण निर्वस्त्र हैं मैं भिक्षुक भी कपड़ों के अभाव में नंगा हो गया हूँ), तेल (के न मिलने के) दोष से जटाधारी शिव हो गया हूँ। इस प्रकार हे राजन्! तुम्हारी सङ्गति में आने से ऐसा होकर मैंने महेश्वर शिव के और गुणों को तो प्राप्त कर लिया है अब भी आप मुझे अर्द्धचन्द्र को क्यों नहीं दे रहे हो? अर्थात् महादेव जैसे अर्द्धचन्द्र को सिर पर धारण करते हैं वैसे ही मैं अर्द्धचन्द्र को धारण करने का गलहत्था (देकर बाहर निकाल) देने का भी अधिकारी हूँ।। 119।।

टि०-इस उदाहरण में कोई भिक्षुक श्लेष के द्वारा अपनी समता महादेव शङ्कर के साथ कर रहा है। यहाँ उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है।

यहाँ (भिक्षुक के द्वारा अपने ऊपर किये गये) शम्भुत्वारोप रूप वाच्यार्थ का (अनुरणन रूप उपमालङ्कारसंलक्ष्यक्रमध्वनि के कारण) महादेव के साथ (शब्दशक्तिमूलक) प्रतीयमान साम्य (वाच्यार्थ की) शोभा को बढ़ाने वाला है। अनुरणन रूप वस्तुध्वनि की वाच्याङ्गता के उदाहरण (दूसरे ग्रन्थों में देखकर) स्वयं समझ लेने चाहिएँ।

IV. वाच्यार्थ का रसादिध्वनि अङ्ग (होने का उदाहरण) जैसे-

हे तन्वङ्गि! कहीं और (सूर्यपक्ष में लोकान्तर में और नायकपक्ष में दूसरी प्रेयसी के घर) रात बिताकर आने वाला यह हज़ार किरणों वाला (सूर्य)

अत्र खण्डितानुनयलक्षणनायकवृत्तान्ततादात्म्यावगमाक्षिप्तरतिरूपेण रसेन वाच्यस्य रविकमलिनीवृत्तान्तस्योत्कर्षणमिति रसस्य वाच्याङ्गतेति।

वाच्यस्य वाच्यार्थस्यानुपपद्यमानस्य सिद्धिरुपपत्तिस्तस्या अङ्गं निदानं वाच्यसिद्ध्यङ्गम्।

अब सबेरे के समय वियोग से सङ्कुचित देह वाली इस कमलिनी को पैरों में गिरने से (पादपतन का सूर्यपक्ष में किरणों के स्पर्श से तथा नायक पक्ष में पैरों को छूने से) विकसित (प्रसन्न) कर रहा है।। 120।।

यहाँ पर खण्डिता (अपने पति की दूसरी नायिका में अनुरक्ति की बात को जानकर दु:खी रहने वाली नायिका) को मनाने के स्वरूप वाले अर्थात् उसका प्रसादन करने वाले नायक के वृत्तान्त के साथ तादात्म्यज्ञान के कारण व्यञ्जना से प्रतीत होने वाले (नायकनिष्ठ) रतिरूपात्मक शृङ्गाररस के द्वारा सूर्यकमलिनी के वृत्तान्त रूप वाच्यार्थ का उत्कर्षण (ऊँचापन) दिखाया गया है इस कारण शृङ्गाररस की वाच्याङ्गता (मानी गई) है।

टि०–ग्रन्थकार ने 'आगत्य सम्प्रति' इत्यादि यह उपर्युक्त श्लोक रसादि की वाच्याङ्गता के उदाहरण के रूप में दिया है किन्तु काव्यप्रकाश (4, 125) में यही श्लोक अर्थशक्तिमूलध्वनि की वाच्याङ्गता के उदाहरण के रूप में दिखाया हुआ है। मम्मटादि आचार्यों ने अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य के ये दो भेद दिखाये हैं–

1. पहले भेद में रसादि रसादि के अङ्ग होते हैं। 2. दूसरे भेद में वस्तु या अलङ्कारध्वनि वाच्य का अङ्ग होती है।

किन्तु यहाँ ग्रन्थकार ने इसी तरङ्ग में पहले केचित्तु वाच्यस्यापि राजानुगतभृत्यविवाहवद्रसादिरङ्गम्' इस पङ्क्ति से एक तीसरे अपराङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रकार की ओर सङ्केत किया है और साथ ही यह भी कहा है कि इसे कुछ ही आचार्य मानते हैं सारे नहीं। इस तीसरे भेद में रसादि भी वाच्य के अङ्ग हो जाते हैं। यह बात स्वीकार की गई है और इस भेद के उदाहरण के रूप में 'आगत्य सम्प्रति' आदि रखा है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि रसादि कभी वाच्य के अङ्ग नहीं हुआ करते। इस कारण इस उदाहरण को रसादि की वाच्याङ्गता का उदाहरण न मानकर वस्तुध्वनि की वाच्याङ्गता के उदाहरण के रूप में स्वीकार करना चाहिए। ग्रन्थकार का भी अपना यही दृष्टिकोण प्रतीत होता है क्योंकि उन्होंने भी केचित्तु कहकर इस मत के प्रति

यथा प्रागुदाहृतं रोलम्बो मधुप इत्यादि।। 121।।
अस्फुटं सहृदयैरपि झटित्यसंवेद्यम्।

अपनी अरुचि प्रदर्शित की है। रसादियों की वाच्याङ्गता को स्वीकार न करने का प्रमुख कारण यह है कि वाच्य प्रायः व्यङ्ग्य की अपेक्षा कम सुन्दर होता है इसलिए उतनी मात्रा में चमत्कार को उत्पन्न नहीं करता है। वाच्य की अपेक्षा अधिक सुन्दर रहने वाला व्यङ्ग्य यदि रस में होता है तब तो उसका सौन्दर्यातिशय स्वतः सिद्ध हो ही जाता है। ऐसी स्थिति में कोई भी रस किसी भी वाच्यार्थ का अङ्ग बन जाए अर्थात् वाच्यार्थ का सौन्दर्य अधिक हो और रस रूप व्यङ्ग्यार्थ का सौन्दर्य न्यून हो यह बात उपयुक्त नहीं जान पड़ती। सम्भवतः इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर मम्मटाचार्य ने इस तीसरे प्रकार की कल्पना नहीं की है।

3. **वाच्यसिद्ध्यङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य**–वाच्य अर्थात् असङ्गत वाच्यार्थ की सिद्धि उपपत्ति (सङ्गति) का जो अङ्ग (सहायक या उपस्कारक) कारण है वह वाच्यसिद्ध्यङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है।

जैसा कि रोलम्बो मधुप० इत्यादि पहले (साहित्यसुधासिन्धु, 1, 4) उद्धृत किया हुआ श्लोक इसका उदाहरण है।। 121।।

टि०–जिस वाच्य को अपनी सिद्धि के लिए दूसरे व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा होती है वह वाच्यसिद्ध्यङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्य कहलाता है। ऐसे स्थानों पर व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ को ही पुष्ट करने से स्वयं गौण हो जाता है। रोलम्बो मधुप० इत्यादि श्लोक में व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की सङ्गति में कारण बन जाता है क्योंकि यहाँ पर मधुप, परभृत आदि पदों से प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के बिना वाच्यार्थ की प्रतीति ठीक ठीक नहीं होती है। शराबी और कौओं से पाली हुई कोयल आदि भी मेरे सन्देश को पहुँचाने के लिए अयोग्य एवं अविश्वसनीय हैं। इस व्यङ्ग्यार्थ से 'मैं अभिलाषिणी कठोरहृदय प्रिय को कैसे सन्देश भेजूँ? इस वाच्यार्थ की सार्थकता का बोध होता है। जब तक मधुप आदि शब्दों के द्वारा प्रतीयमान अयोग्य एवं अविश्वसनीय अर्थों का ज्ञान नहीं होता तब तक वाच्यार्थ का ज्ञान नहीं होता। भौंरा मधुपायी है यह वाच्यार्थ है। इसका व्यङ्ग्यार्थ है-यह शराबी की तरह अविश्वसनीय एवं अयोग्य है। इसी प्रकार परभृत आदि पदों से भी जो व्यङ्ग्यार्थ निकलता है। वह वाच्यार्थप्रतीति के लिए अत्यन्त अपेक्षित है।

यथा–

पत्रावलीचित्रकपोलपालिं प्रातः सपत्नीमवलोक्य काचित्।
तुतोष लाक्षाङ्कमनात्तनिद्रं पुनः प्रियं वीक्ष्य विषादमाप।। 122।।

सन्दिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमिति योज्यम्। प्राधान्यं च चमत्कारप्रयोजकत्वम्।

यथा–

---

4. अस्फुटगुणीभूतव्यङ्ग्य–अस्फुट गुणीभूतव्यङ्ग्य वह होता है जो सहृदयों से भी झटपट न समझा जा सके (असहृदय सामाजिकों के द्वारा उसे समझने का तो प्रश्न ही नहीं है)।

(अस्फुटगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण) जैसे–

कोई नायिका प्रातः काल पत्ररचना से चित्रित कपोल प्रान्त (गालों की सतह) वाली सौत को देखकर प्रसन्न हुई किन्तु फिर महावर के चिह्न वाले और (रातभर) नींद को न प्राप्त करने वाले अपने प्रिय को देखकर अवसाद को प्राप्त हुई।। 122।।

टि०–कपोलपालि पर पत्रावली की यथावत् स्थिति से तो यह ज्ञात होता है कि नायक ने उस सौत के साथ समागम नहीं किया है। किन्तु नायक के ऊपर लगे नायिका के पैरों में लगे महावर के चिह्न और उसके उनींदे चेहरे को देखकर यह विदित हो जाता है कि नायक ने सावधानी बरतते हुए उसके साथ विपरीत रति की है। यहाँ सहृदय सामाजिक को भी बड़ी कठिनाई के बाद विलम्ब से इस रहस्य की प्रतीति होती है कि नायक ने अपनी नायिका की सौत के साथ बिना चुम्बनादि किये सम्भोग किया है।

5. सन्दिग्धप्राधान्य एवं 6. तुल्यप्रधान्य गुणीभूतव्यङ्ग्य–(सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये इस पद में विद्यमान 'प्राधान्य' पद को) सन्दिग्धप्राधान्य और तुल्यप्राधान्य इस रूप में जोड़ लेना चाहिए और यह प्राधान्य चमत्कारनिमित्तक हुआ करता है।

टि०–यहाँ प्राधान्य पद का सन्दिग्ध और तुल्य दोनों पदों के साथ सम्बन्ध है। क्योंकि द्वन्द्वसमास के अन्त में पड़ा पद दोनों में से प्रत्येक पद के साथ सम्बन्ध रखता है (द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते) और प्रधानता और अप्रधानता के निर्णय में चमत्कार कारण होता है।

(सन्दिग्धप्राधान्यगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण) जैसे–

हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि।। 123।।

अत्र किं परिचुम्बितुमैच्छदिति[1] प्रतीयमानं किं वा विलोचनव्यापारणं वाच्यं प्रधानमिति सन्देहः

तुल्यप्राधान्यं यथा–

ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये।
जामदग्न्यस्तथा मित्रमन्यथा दुर्मनायते।। 124।।

अत्र जामदग्न्यः सर्वेषां क्षत्रियाणामिव रक्षसां क्षयं क्षणात्करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य

चन्द्रमा के उदय के आरम्भ में समुद्र के (उद्वेलित हो उठने) के समान कुछ अधीर होकर शिव ने बिम्बफल के समान लाल अधरोष्ठ से युक्त पार्वती के मुख पर अपनी (तीनों) आँखें लगा दीं।। 123।।

यहाँ क्या (महादेव पार्वती के मुख को) चूमना चाहते थे यह व्यङ्ग्यार्थ (प्रधान है) अथवा क्या वाच्य रूप नेत्रों का व्यापार (नेत्रों के द्वारा देखना) प्रधान है यह सन्देहास्पद है।

टि०–यह श्लोक कुमारसम्भव (3, 67) से लिया गया है इसमें समाधि को छोड़कर शिव की पार्वती को देखने से उत्पन्न प्रतिक्रिया का वर्णन है। काव्यप्रकाश (5, 123) में भी यह पद्य सन्दिग्धप्राधान्य के उदाहरण के रूप में दिया गया है।

तुल्यप्राधान्यगुणीभूतव्यङ्ग्य (का उदाहरण) जैसे–

ब्राह्मण का अपमान (करने के स्वभाव और क्रिया) का परित्याग करना आपके ही लिए कल्याणकारक है। क्योंकि वैसा करने से जमदग्निपुत्र परशुराम तुम्हारे मित्र रहेंगे नहीं तो वह तुमसे नाराज हो जायेंगे।। 124।।

टि०–यह श्लोक तथा इसकी टिप्पणी तुल्यप्राधान्य के उदाहरण के रूप में काव्यप्रकाश (5, 130) में दी हुई है। महावीरचरितनाटक के द्वितीय अङ्क में रावण को बताने के लिए मन्त्री माल्यवान् के पास परशुराम ने पत्र में यह सन्देश लिखकर भेजा है।

यहाँ (नाराज हो जाने पर) परशुराम (पहले नष्ट किये हुए) सारे क्षत्रियों के समान राक्षसों का भी क्षण भर में नाश कर देंगे (इस) व्यङ्ग्यार्थ और नाराज हो जायेंगे (इस) वाच्यार्थ का (समान रूप से) प्राधान्य है।

---

1. ज किञ्चिच्चुम्बितुम् किं त; परिचुम्बितुम् अ

वाच्यस्य च प्राधान्यम्। तथाहि, अत्र भूत्युपदेशमित्रत्वाभिधानं साम वाच्यमुक्तरूपश्च दण्डो व्यङ्ग्यः। उभयोरप्युपदेशस्यानर्थनिवारकत्वेन तुल्यता।

काकुर्ध्वने विकारः। तदुक्तम्–

भिन्नकण्ठ[1]ध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।
तेन वाच्यवद् झटित्युपस्थापितम्।

यथा–

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद्
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन।। 125।।

(श्लोक का विशेष) अभिप्राय यह है–यहाँ उपर्युक्त उदाहरण में कल्याणमार्ग के लिए उपदेश और अपने को मित्र बतलाना रूप सन्धिपरक अर्थ वाच्यार्थ है और (अन्यथा दुर्मनायते इस पद से) कथित एवं प्रतीत होने वाला दण्ड (विग्रह) रूप अर्थ व्यङ्ग्य है। इन दोनों ही अर्थों को बताने वाला उपदेश अनिष्टनिवारक होने से समान है अर्थात् वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों में से (एक जैसा अर्थ निकलने से) किसी एक की प्रधानता नहीं है। इस कारण यहाँ तुल्यप्राधान्यगुणीभूतव्यङ्ग्य है।

7. काक्वाक्षिप्तगुणीभूतव्यङ्ग्य–काकु शब्द का अभिप्राय ध्वनि का विकृत प्रकार है। ध्वनिशास्त्र में बताया भी है–बुद्धिमानों ने गले की बदली हुई आवाज़ को काकु कहा है।

इस (काकु) से वाच्यार्थ की तरह दूसरे व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति साथ ही साथ शीघ्र उपस्थित हो जाती है।

(काक्वाक्षिप्तगुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण) जैसे–

यदि आपका राजा किसी शर्त के साथ (कौरवों के साथ) सन्धि कर ले तो क्या मैं क्रोध से युद्धभूमि में समस्त कौरवों का नाश नहीं करूँगा? (अपितु अवश्य करूँगा), दुःशासन की छाती से क्या उसका रक्तपान नहीं करूँगा? (अवश्य करूँगा), और क्या अपनी गदा से दुर्योधन की जाँघें नहीं तोड़ूँगा? (अवश्य तोड़ूँगा) अर्थात् युधिष्ठिर भले ही सन्धि कर लें मैं तो निश्चित रूप से कौरवों का वध करूँगा।। 125।।

---

1. ज; भिन्नकण्ठो अ त

असुन्दरं चमत्कारे वाच्यमुखनिरीक्षकम्।

यथा–

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽतिपरेण वा
किमुत सकलं याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि।
इति दिनशतप्राप्यं देशं प्रियस्य यियासतो
हरति गमनं बालालापैः सवाष्पगलज्जलैः।। 126।।

अत्रोत्कण्ठाध्वनिः सवाष्पगलज्जलैरित्यादिवाच्यमुखनिरीक्षकः।

टि०–इस श्लोक में मथ्नाम्येव इत्यादि व्यङ्ग्यार्थ निषेधात्मक वाच्यार्थ के साथ साथ ही प्रतीत होकर उसका अङ्ग हो रहा है।

8. असुन्दरगुणीभूतव्यङ्ग्य–असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य वहाँ होता है जहाँ व्यङ्ग्यार्थ चमत्कार के विषय में वाच्यार्थ के मुख की ओर देखता है अर्थात् व्यङ्ग्यार्थपेक्षया वाच्यार्थ का जहाँ अधिक चमत्कार होता है

(असुन्दर गुणीभूतव्यङ्ग्य का उदाहरण) जैसे–

हे प्रिय ! एक पहर के बीत जाने पर अथवा दिन के मध्य अर्थात् दोपहर को अथवा उसके अनन्तर (सायङ्काल को) अथवा क्या सारे दिन के बीत जाने के बाद सूर्यास्त तक तो आप यहाँ (आज) लौट आओगे? इस प्रकार गिरते हुए आँसुओं के साथ किये गये विलापों से षोडशी भोली प्रेमिका सौ दिन में पहुँचने योग्य देश को जाने के इच्छुक अपने प्रिय के जाने को रोक रही है।। 126।।

यहाँ (यदि आप सूर्यास्त तक लौटकर नहीं आओगे तो मैं प्राण धारण नहीं कर सकूँगी यह) उत्कण्ठाध्वनि 'सवाष्पगलज्जलैः' इत्यादि वाच्यार्थ के मुख को देखने वाली है अर्थात् इसकी अपेक्षा असुन्दर होने से हीन कोटि की है। वाच्यार्थ से ही यहाँ नायिका के प्रेमातिशय और वियोग को न सह पाने की क्षमता का ज्ञान हो जाता है।

टि०–यह श्लोक अमरुशतक (श्लोक सं० 12) से लिया गया है। इसमें दूर देश में जाने के लिए पति को उद्यत देखकर नायिका की मर्मव्यथा को दिखाया गया है। यह रसगङ्गाधर (प्रथम आनन, काव्यभेद प्रकरण) तथा दशरूपक (4, 325) में भी मिलता है। उत्कण्ठा की परिभाषा काव्यशास्त्र में–

रागे त्वलब्धविषये वेदना महती यदि।
संशोषयित्री च गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः।।

प्राचां वाचां[1] प्रपञ्चेन मयाप्येता:[2] प्रपञ्चिता:।
गुणीभूतभिदास्तस्मादस्माकं ध्वनिसम्मिता:।। 77।।

वस्तुतस्तु सङ्कलनेनास्य[3] ध्वनेस्त्रयो भेदा व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथाहि किञ्चिद् वाच्यतां सहते किञ्चित्त्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहं वस्त्वलङ्काररूपम्। रसादिलक्षणस्त्वर्थ:

इस रूप में प्रसिद्ध है।

प्राचीन आचार्यों की वाणियों के विस्तार (प्रपञ्चो ग्रन्थविस्तर:-ग्रन्थों के विस्तार की सहायता) से मैंने भी यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य के ये भेद बताये हैं। इस कारण हमारे मत में (ये भी) ध्वनि के सदृश ही (चमत्कारपूर्ण होते हैं)।। 78-79।।

टि०-ग्रन्थकार ने यहाँ ध्वन्यालोक के मत का पूर्णतया अनुसरण किया है। ध्वन्यालोक (3, 41 एवं वृत्ति) में इस मत की समर्थिका यह कारिका दी हुई है-

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुन:।।

गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते।

वास्तव में तो व्यङ्ग्यार्थ के तीन प्रकार होने से संक्षेप में इस ध्वनि के तीन भेद हुआ करते हैं, क्योंकि व्यङ्ग्य तीन प्रकार का होता है। जैसे कि कोई (वस्तु और अलङ्कार रूप दो प्रकार की ध्वनि) वाच्यता को सहन कर लेती है अर्थात् वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि के रूप में जो अर्थ व्यङ्ग्य रूप से प्रतीत होता है वह अर्थ अन्य दशा-अभिधा से प्रतीत होने की स्थिति में 'मुखं चन्द्र इवाभाति' जैसे स्थलों में वाच्य भी हो सकता है और कोई (रसध्वनि) अन्य प्रकार की होती है। अर्थात् वह वाच्यता को सहन न करने वाली-कभी भी वाच्य न हो सकने वाली कही जाती है। (काव्य) में वाच्यतासहध्वनि वस्तु और अलङ्कार रूप होती है। रसादिस्वरूप वाली प्रतीयमान ध्वनि स्वप्न में भी अभिधा से ज्ञात होने योग्य नहीं हुआ करती। वह ध्वनि तो रस, भाव आदि शब्द और शृङ्गार, वीर आदि शब्द से उच्चारित होते हुए भी (किसी प्रकार का) चमत्कार उत्पन्न नहीं करती

---

1. ज त; वाचां प्राचां अ
2. ज अ; मयाऽपि ते त
3. ज अ; सङ्कलेनान्यथा त

स्वप्नेऽपि न वाच्यः। स हि रसादिशब्देन शृङ्गारादिशब्देनोच्यमानोऽपि न चमत्कुरुत इति यावत्। रसादिरित्यत्रादिपदाद् भावादिपरिग्रहः। चित्रभेदास्त्वलङ्कारा निरूपयिष्यन्ते।[1] इह[2] त्ववधेयम्–

शब्दार्थचित्रं यत्पूर्वं काव्यद्वयमुदाहृतम्।। 79।।
गुणप्रधानभावेन स्थितिः शब्दार्थचित्रयोः।

इतना ही बतलाना पर्याप्त है। यहाँ रसादि इस पद में विद्यमान आदि पद से भावादि अर्थात् रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और भावशान्ति का ग्रहण है।

टि०–अभिप्राय यह है कि रस की प्रतीति विभावादि के उपस्थापन से हुआ करती है और वह शब्दों के वाच्यार्थ के रूप में नहीं हुआ करती। क्योंकि यदि काव्य में शृङ्गार, वीर, रस, भाव आदि पदों का ही प्रयोग किया जाय और विभावादियों का प्रयोग न किया जाय तो रसानुभूति नहीं हो सकती।

शब्दचित्र और अर्थचित्र रूप शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारों का तो (आगे सप्तम और अष्टम तरङ्गों में) निरूपण किया जायेगा। यहाँ तो निम्नलिखित इस बात को समझ लेना चाहिए–

शब्दचित्र तथा अर्थचित्र (नाम से) जो दो प्रकार के चित्रकाव्य पहले कहे गये हैं उनमें शब्दचित्र तथा अर्थचित्र शब्दों की स्थिति गौणप्रधानभाव से है।। 79-80।।

टि०–तात्पर्य यह है कि शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार इन दोनों ही चित्रकाव्यों में दोनों प्रकार की चित्रता की स्थिति सम्भव होने पर भी शब्द और अर्थ की चित्रता (चमत्कार) में जहाँ जिसकी प्रधानता होती है उसके आधार पर उसको शब्दालङ्कार या अर्थालङ्कार कहा जाता है। वहाँ एक के प्रधान होने पर दूसरे की स्थिति गौण रूप में रहा करती है। काव्यप्रकाश के 'स्वच्छन्दोच्छलदच्छ० (1, 4) उदाहरण में अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार के साथ ही साथ गङ्गा के अन्य नदियों से उत्कृष्ट होने के कारण व्यतिरेकालङ्कार नामक अर्थालङ्कार भी है किन्तु यहाँ पर अनुप्रास अलङ्कार प्रधान रूप से विद्यमान है। विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्' (काव्यप्र० 1,5) इस उत्प्रेक्षा नामक अर्थालङ्कार के उदाहरण में मानदमात्ममन्दिरात् में वृत्त्यनुप्रास नामक शब्दालङ्कार

---

1. ज त; त्वलङ्काररूपा इष्यन्ते अ
2. ज; इदं अ त

न तु शब्दस्य चित्रत्वे अर्थस्याचित्रता अर्थस्य चित्रत्वे शब्दस्याचित्रता। तथा च कैश्चिच्छब्दचित्रमेवेष्यते कैश्चिदर्थचित्रमेवास्माकं तु द्वयमपि।

इति श्रीविश्वनाथविरचिते साहित्सुधासिन्धौ चतुर्थस्तरङ्गः।[1]

भी है किन्तु प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति–इस नियम के आधार पर जहाँ जिसकी प्रधानता होती है वहाँ उसी का नाम दिया जाता है। यही कारण है कि 'स्वच्छन्दो०' में अनुप्रास नामक शब्दालङ्कार बताया जाता है और 'विनिर्गतं' इत्यादि में उत्प्रेक्षा नामक अर्थालङ्कार है।

न तो शब्द के भीतर चित्रता होने पर अर्थ की चित्रता का अभाव होता है और (न ही) अर्थ के भीतर चित्रता होने पर शब्द की चित्रता का अभाव हुआ करता है। (वस्तुतः एक के प्रधान रूप से रहने पर दूसरे की स्थिति गौण हो जाती है। शब्दचित्र में अर्थचित्र रह सकता है और अर्थचित्र का शब्दचित्र में रहना सम्भव है)। कुछ आचार्यों ने शब्दचित्रों (शब्दालङ्कारों) को ही पसन्द किया है और कुछों ने अर्थचित्रों (अर्थालङ्कारों) को ही (अपनाया है)। हमें तो दोनों ही प्रकार के चित्रकाव्य अच्छे लगते हैं।

टि०–यहाँ ग्रन्थकार ने मम्मट की भाँति समन्वयवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए इस पाँचवीं तरङ्ग और अगली सातवीं आठवीं तरङ्गों में उभयविध अलङ्कारों को समान रूप से महत्त्व प्रदान किया है।

इस प्रकार आचार्य श्रीविश्वनाथविरचित साहित्यसुधासिन्धु में
चतुर्थ तरङ्ग समाप्त हुई।

—•—

1. ज अ; इति श्रीसाहित्यसुधासिन्धौ चतुर्थस्तरङ्गः त

प्रो० रामप्रताप

(राष्ट्रपतिपुरस्कार से सम्मानित)

जन्मतिथि : 26 जुलाई 1936

पितृनाम : श्रीकेहरसिंह

वर्तमान पता :

006 लिल्ली टावर, अंसल ग्रेस अपार्टमैण्ट्स डी ब्लाक, सैनिक कॉलोनी जम्मू तवी 180011 (मो० 9419786582)

अध्यापन क्षेत्र :

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम, होशियारपुर (पंजाब) (1962-1964)

संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू तवी 180005 (1964-1996)

प्रकाशित पुस्तकें:

पुराणानां काव्यरूपताया विवेचनम्, पुराणविमर्शः, त्रिविधा काव्यसमीक्षा, चमत्कारविचारचर्चा, मम्मटोत्तर युग में भारतीय काव्यशास्त्र में नूतन अवधारणायें, साहित्यसुधासिन्धु (हिन्दी अनुवाद) काव्यचमत्कारः, भल्लटशतक हिन्दी अनुवाद (वेदकुमारी रामप्रताप) राजेन्द्रकर्णपूर (अनुवादक वेदकुमारी रामप्रताप) ऊर्मिका (वेदकुमारी रामप्रताप) संस्कृतकविता सङ्ग्रह, मेरे गीत तुम्हारे गीत (वेदकुमारी रामप्रताप) हिन्दी कवितासङ्ग्रह एवं पाण्डुलिपि विज्ञान (वेदकुमारी रामप्रताप)

BOOK
EASTERN EBL LINKERS

EASTERN BOOK LINKERS
(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)
HO.: 5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007 Ph.: 23850287, 09811232913
Showroom: 4806/24, Bharat Ram Road,
Ansari Road, Darya Ganj, Delhi-110002
Phone: 23285413
e-mail: eblindology@gmail.com
eblinfo76@gmail.com
website: www.eblindology.com

ISBN: 978-81-7854-345-1
9 788178 543451